अपभ्रंश भाषा और साहित्य

डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन

*



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक–१५२
सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series · Title No 152
APABHRAMŚA BHĀṢĀ AUR SĀHITYA
(Thesis)
Dr Devendra kumar Jain
Bharatiya Jnanpith Publication
First Edition 1965
Price Rs 10 00

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता–२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५
विक्रय केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण १९६५
मूल्य १०.००

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी–५

श्रद्धेय डॉ० हीरालाल जैनको,

जिनका जीवन, अपभ्रंशकी खोज-खबरकी कहानी है,

जिनकी स्वरलहरी, अपभ्रंशके काव्य-सौन्दर्यकी रंगभूमि है,

और जिनका चरित्र, साधुताका प्रतीक है।

प्रास्ताविक



जिस भाषा और साहित्यकी चर्चा आगे की गयी है, उसकी खोज-खबरकी कहानी पचास साल पुरानी है। वैसे सन् १८७७ मे प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् पिशल, हेमचन्द्रके 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' के प्राकृत अंशका सम्पादन कर चुके थे, फिर भी अपभ्रंशपर शोध-कार्यका प्रारम्भ उस समयसे होता है जब सन् १९०२ मे पिशल महोदयने अपना 'मारेरी अलिएन सुर केण्टिनम डेस अपभ्रंश' लेख प्रकाशित किया। तबसे अबतक जो शोध कार्य हुआ, उसकी कुल तीन भूमिकाएँ है—पहली भूमिकापर तर्क और तथ्य इस बातपर केन्द्रित रहे कि क्या अपभ्रंश लोकभाषा थी। दूसरी भूमिकापर आकर इसके साहित्यकी सम्पादन-प्रकाशन-परम्परा प्रारम्भ होती है। पिशल, जैकोबी, आलसफोर्ड, दलाल (चमनलाल डाह्याभाई), डॉ० गुणे, म० म० हरप्रसाद शास्त्री, डॉ० हीरालाल जैन, डॉ० पी० एल० वैद्य, मुनि जिनविजय, डॉ० उपाध्ये, डॉ० वेलणकर, डॉ० शहादुल्ला, डॉ० प्रबोधचन्द्र, और डॉ० भायाणीके नाम इस दिशामें उल्लेखनीय हैं। हिन्दी साहित्यके सन्दर्भमें इस साहित्यको परखनेवाले पण्डितोमें स्व० प्रेमीजी, राहुल साकृत्यायन, स्व० आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, स्व० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीका नाम आता है। तीसरी भूमिकापर आकर दो शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत हुए—एक डॉ० हरवंश कोछडका 'अपभ्रंश साहित्य' और दूसरा, डॉ० रामसिंह तोमरका 'प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दीपर प्रभाव।' प्रस्तुत कृतिका शीर्षक, डॉ० कोछडकी कृतिसे मिलता-जुलता है, परन्तु पाठक देखेंगे कि मेरे अध्ययनका लक्ष्य, मानदण्ड और सीमाएँ भिन्न हैं। मेरा प्रबन्ध सन् १९५६ में पूरा हो चुका था, और १९५७ में उसपर पी-एच० डी० मिल चुकी थी, परन्तु नाना कारणोसे वह इस रूपमें अब प्रकाशमें आ रहा है।

इस प्रबन्धकी रूपरेखा, स्व० आचार्य केशवप्रसादजी मिश्रके निर्देशनमें (सन् १९५१) तैयार हुई थी और प्रबन्धकी समाप्ति (सन् १९५६) में डॉ० हीरालालजीके निर्देशनमें। मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता

प्रकट करता हूँ। इस अवसरपर मैं आदरणीय दलसुख भाई और भाई लखमीचन्द्रजीको नहीं भूल सकता, जिनकी आत्मीयता, मेरे अस्तित्वका आधार है।

—देवेन्द्रकुमार जैन

११ नवम्बर १९६५
हिन्दी विभाग,
शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर।

सांकेतिकी

अ० का० त्र०	अपभ्रंश काव्यत्रयी
उव० र० रा०	उपदेश रसायन रास
कर० च०	करकंड चरिउ
का० स्व० कु०	काल स्वरूप कुलकम्
जस० च०	जसहर चरिउ
प० च०	पउम चरिउ
प० सि० च०	पउम सिरि चरिउ
पा० दो०	पाहुड दोहा
पर० प्र०	परमात्मप्रकाश
पिंगल	प्राकृत पैंगलम्
पु० हिं०	पुरानी हिन्दी
बौ० गा० दो०	बौद्धगान दोहा
भवि० क०	भविसयत्तकहा
सा० ध० दो०	सावयधम्म दोहा
सं० रा०	सन्देश रासक
णा० कु० च०	णायकुमार चरिउ
यो० सा०	योग सार
हिस्० सं० लि०	हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर
हिस्० ग्रा० अप०	हिस्टॉरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश
हिं० सा० आ० का०	हिन्दी साहित्यका आदिकाल
हिं० सा० इति०	हिन्दी साहित्यका इतिहास
हिं० सा०	हिन्दी साहित्य
ह० सां० अ०	हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन
जैन० सा० इति०	जैन साहित्य और इतिहास
जैन० सि० भा०	जैन सिद्धान्त भास्कर
जैन० हिस्० इं० लि०	जैन हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर
का० सू०	काम सूत्र
का० मी०	काव्यमीमांसा

काव्या० सू० १	काव्यालङ्कार सूत्राणि
काव्या० शा०	काव्यानुशासन
कवि० र०	कवित्त रत्नाकर
काव्या० सा० स०	काव्यालंकार सार सर्वस्व
छं० अ०	छन्दोनुशासन
छं० को०	छन्द कोश
गा० ल०	गाथा लक्षण
सं० सा० इति०	संस्कृत साहित्यका इतिहास
सिं० अ०	सिद्धान्त और अध्ययन
सा० द०	साहित्य दर्पण
स्व० छं०	स्वयभू छन्द
चिं० म०	चिन्तामणि
चौ० कु०	चौलुक्य कुमारपाल
अर्थशा०	अर्थशास्त्र
अने०	अनेकान्त
अलं० स०	अलंकार सर्वस्व
आ० क० म०	आधुनिक कवि महादेवी वर्मा
आ० क० सु०	आधुनिक कवि सुमित्रानन्दन पन्त
वि० लो० को०	विश्वलोचन कोश
वि० ध० द०	विश्वधर्म दर्शन
वृ० जा० स०	वृत्त जाति समुच्चय
नाथ सं०	नाथ सम्प्रदाय
ना० प्र० प०	नागरी प्रचारिणी पत्रिका
प्रा० भा०	प्राकृत भाषा
प्रा० व्या०	प्राकृत व्याकरण
पिंगल	प्राकृत पैंगलम्
भा० आ० भा० हि०	भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी
भा० द०	भारतीय दर्शन
भा० जा० भे०	भारतवर्षमें जाति भेद
राम० च० मा०	रामचरित मानस
री० का० भू०	रीतिकालकी भूमिका
भा० आ० भा०	भारतीय आर्य भाषा

म० भा० आ० भा०	मध्य भारतीय आर्य भाषा
आ० का०	आदिकाल
म० म०	महामहोपाध्याय
अ० का०	अयोध्याकाण्ड
वि० का०	विद्याधर काण्ड
सं०	संख्या

लेखक

डॉ० विंटर०	विंटरनित्स,
डॉ० पण्डित	डॉ० प्रबोध पण्डित
डॉ० द्विवेदी	डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
आ० शुक्ल	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
डॉ० अग्रवाल	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल
डॉ० चाटुर्ज्या	डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी
डॉ० तिवारी	डॉ० उदयनारायण तिवारी
जैकोबी	हरमन जैकोबी
उपाध्याय	बलदेव उपाध्याय
डॉ० उपाध्ये	डॉ० ए० एन० उपाध्ये
प्रेमी	श्री नाथूराम प्रेमी
डॉ० भायाणी	डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी
डॉ० कोलते	डॉ० विष्णु भिका कोलते
सावलिया वर्मा	सावलिया विहारीलाल वर्मा
निराला	सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
देवी वर्मा	महादेवी वर्मा
कवि पन्त	सुमित्रानन्दन पन्त
जायसी	मलिक मुहम्मद जायसी
व्यास	लक्ष्मीशंकर व्यास, एम० ए०
डॉ० हान्दिकी	डॉ० कृष्णकान्त हान्दिकी
डॉ० कीथ	डॉ० बेरिडेल कीथ
डॉ० तगारे	डॉ० गजानन वासुदेव तगारे
शास्त्री	के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री

अनुक्रम

अपभ्रंश काव्य 85-178

अपभ्रंश काव्योंका वस्तु-वर्णन १८०-२०२

अपभ्रंश भाषा और साहित्य



अपभ्रंश भाषा

प्राकृत और अपभ्रंश

अपभ्रंश मध्यकालीन प्राकृतकी अन्तिम अवस्था है। नव्य भारतीय आर्य भाषाओंको समझनेके लिए इस अवस्थाका अध्ययन उतना ही आवश्यक है जितना इसे समझनेके लिए पुरानी आर्य भाषाका। अपभ्रंशके अध्ययनका महत्त्व इस बातमें भी कूता जा सकता है कि वह प्राचीन आर्य भाषा और नव्य भारतीय आर्य भाषाओंके बीचकी एक मात्र कड़ी है। इसकी उपेक्षा करना नव्य भारतीय आर्य भाषाओंके विकासको समझनेका महत्त्वपूर्ण सूत्र खो देना है। भाषा एक भूमिकाको पार करके ही दूसरे रूपको ग्रहण करती है। यह धारावाहिकता भाषाके इतिहासमें बहुत महत्त्व रखती है। अपभ्रंशको बीचकी भूमिका मान लेनेपर उससे पहलेकी भूमिकाको जाननेकी उत्सुकता होना स्वाभाविक है। भाषाविदोंका मत है कि अपभ्रंश प्राकृतकी अन्तिम अवस्था है, परन्तु स्वयं प्राकृत क्या है, यह भी एक समस्या है। डॉ० प्रबोध पण्डितके अनुसार प्राकृत भाषा भारतमें आयी हुई आर्य भाषाके विकासकी एक अवस्था है और इसलिए प्राकृत भाषाएँ भारतके भाषा-इतिहासकी अत्यन्त आवश्यक भूमिका है। (प्रा० भा० पृ० १)। दूसरे शब्दों में नव्य भारतीय आर्य भाषाओं और प्राचीनतम भारतीय आर्य भाषा (देवभाषा), इन दो स्वरूपोंके बीच, जो भारतीय भाषा-इतिहासकी अवस्था है उसीको हम प्राकृत नाम दे सकते हैं।

भाषाविषयक इतिहासकी दृष्टिसे आर्य भाषाकी तीन भूमिकाएँ हैं। पहली भूमिका वह है, जब आर्य भाषाको इस देशमें फैली दूसरी भाषाओंसे मुकाबला करना पड़ा, धीरे-धीरे वह अपनी जड़ जमानेमें सफल हुई। उसमें साहित्य लिखा जाने लगा। वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों तक यह भूमिका देखी जा सकती है। संस्कृत इसीका अन्तिम आदर्श रूप है, यद्यपि इसपर अनार्य प्रभाव भी काफी है।

दूसरी भूमिकामें आकर आर्य भाषा स्थल और समयके आधारपर नाना रूपोंमें गतिशील हुई। आर्येतर प्रजाओंने भी उसे अपनाना शुरू कर

दिया। इससे देश और कालके भेदके कारण, नाना प्राकृतोकी सम्भावना हुई। पाली, प्राकृत और अपभ्रंश, ये उसके तीन मोटे विभाग माने जा सकते हैं।

तीसरी भूमिकामे आकर यह बढाव एकोन्मुख न होकर बहुमुखी हो उठा, वियोगावस्थाके कारण भाषाओकी गठन प्रकृति प्रत्यय आदिकी व्यवस्थामे अनेकरूपता आ गयी और उससे हरेक भाषाने अपना अलग व्यक्तित्व बना लिया।

इयुभाषा—ये भारतीय आर्य भाषाकी भूमिकाएँ हैं। समूची आर्य भाषाका विकास, इससे भी पुराना और अज्ञात है। यह भी एक विचारणीय प्रश्न है कि पहले-पहल आर्य भाषाका प्रवेश कब हुआ। विकासवाद, तुलनात्मक पद्धति आदि आधुनिक नाना विचार-शैलियोंसे प्रभावित होकर भाषाओकी जो तुलनात्मक समीक्षा हुई, उससे ये तथ्य निश्चित किये गये हैं १ विश्वकी भाषाएँ कई कुलोमे विभक्त है। २. इनमें भारोपीय कुल सबसे बडा है। ३ इस कुलकी भाषाओकी कोई मूल भाषा थी। ४. यह मूल भाषा 'इयु' भाषा कही जाती है। ५ इसकी बोलियाँ तो हैं पर इसका प्राचीन रूप विद्यमान नही। इसलिए इसके प्राचीन स्वरूपकी पुनर्घटना (हाइपोथेटिकल रिकस्ट्रक्शन्स) की जाती है। 'इयु'[1] भाषाकी तरह उसकी प्रजाके बारेमें बहुत थोडा ज्ञात है। पण्डितोका अनुमान है कि मेसोपोटेमिया होकर यह प्रजा भारत आयी। कोई दो हज़ार वर्ष पहले उसकी यात्रा प्रारम्भ हुई। पाँच-सौ वर्ष बाद यह उस ठिकाने आ चुकी थी जिसे हम भारोपीय केन्द्र कहते है। सर्वसाधारण शब्दोकी तुलनाके द्वारा यह निश्चित किया गया है कि इयु प्रजाका आदि निवास लिथूनियासे लेकर दक्षिण रूसके बीच कही था[2]। 'इयु'को आर्य भी कहते हैं। इस दूसरे केन्द्रसे भारोपीय गणके लोग कई भागोमे बँट गये। इस गणकी पूर्वी बोली, 'भारत ईरानी' का हमारे लिए विशेष महत्त्व है। भारतकी प्राचीन आर्य भाषा और ईरानकी पुरानी भाषा-वैदिक भाषा और अवेस्तामें सबसे अधिक समानता है। इयुकी ध्वनियोका भारोपीय अवस्थामें जो परिवर्तन प्रारम्भ हुआ था, वह इस कालमे और भी बढ गया। उदाहरणके लिए इयुके तीन

---

१ इयुके लिए दूसरा शब्द 'Veros' गढा गया है, जो इयु ही है, इसका संस्कृत शब्द 'वीर' होता है।

२ प्रा० भा० पृ० ८–९।

स्वर ह्रस्व, दीर्घ 'अ, ए, ओ' का भेद भारत ईरानीमे आकर लुप्त हो गया। दीर्घ काल तक एक जगह रहनेके बाद ये प्रजाएँ भिन्न हुई। इससे उनकी भाषा और विकास-धारा भी अलग-अलग हो गयी। भारतमे आये हुए आर्योंका प्राचीनतम साहित्य वेद है, यही पुरानी भारतीय आर्य भाषा है। इस साहित्यमे जिस समाज और सस्कृतिका वर्णन है, उसपर भारत ईरानी अवस्थाकी छाप अवश्य है। ऋग्वेद एक व्यक्ति या एक कालका साहित्य नही है। वह प्रजाकी रचना न होकर पुरोहित साहित्य है। ब्लूम फील्डने बताया है कि ऋग्वेदके १।५ पादकी १५ बार पुनरावृत्ति है। इससे यह फलित होता है कि खास तरहके वाक्य और शब्दप्रयोग, विप्रगणोमे प्रचलित थे। पद्यरचनामे इन्ही प्रचलित शब्दोका व्यवहार किया जाता था। ऋग्वेदका कवि बार-बार यह दोहराता है 'जैसे कोई सूथार, रथके विभिन्न अगोको इकट्ठा करके रथ बनाता है, वैसे मै भी काव्यको बनाता हूँ।' फिर भी अथर्ववेद तक आते-आते उसमे भी परिवर्तन होने लगा। जैसे ऋग्वेदका 'चर' ∠ IE*K^we' जो 'ईरानीमे Chraiti होता है अथर्वमे 'चल' हो गया। ध्वनियोमें ही नही रूपोमें भी यह प्रभाव लक्षित होता है। यह एक विचित्र बात है कि प्राचीन भारतीय भाषाका रूप विद्यमान है। पर उससे विकसित बोलियोका रूप नही मिलता। यह निश्चित है कि आर्योंकी भाषाका केन्द्र उत्तर मध्यदेश था। आर्योंके इस केन्द्रकी भाषा शिष्ट मानी गयी। पाणिनिने उसका व्याकरण लिखा। इस प्रकार सस्कृतके विकासमे विप्र और शिष्ट प्रभाव है। लेकिन इस केन्द्रके आस-पास प्राकृत बोलियोका स्वाभाविक विकास होता रहा। ई० पूर्व पाँचवी शतीमे इनमे नया जीवन आया, यहीसे भारतीय आर्य भाषाकी दूसरी भूमिका शुरू हुई।

आर्य भाषा और प्राकृत

बुद्ध और महावीरके नवीन आन्दोलनोसे भारतीय भाषाओमे नवीन प्रभाव आया। इनमें वैदिक भाषाकी अपेक्षा अनार्य प्रभाव अधिक है।[1] इसका एक कारण यह भी है कि ये महापुरुष पूर्वमे उत्पन्न हुए। अत वहाँकी जनतामे प्रचार करनेके लिए इन्हे अधिक प्रयत्न करना पडा। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि बोलियाँ भी धर्म और साहित्यका माध्यम बनने लगी। पर इससे यह न समझना चाहिए कि सस्कृत लुप्त हो गयी, प्रत्युत वह अधिक गतिशील हो उठी। अब यह यज्ञ-अनुष्ठान और तत्त्व

१ भा० आ० भा० और हिन्दी पृ० ३३–३६।

चिन्तन तक सीमित न रहकर, दैनिक विषयो और जन-जीवनकी ओर मुडी। मानो उसे भी प्राकृतोकी तरह लोकप्रिय बनना पडा। उसका क्षेत्र और साहित्य विकसित हुआ। इस युगमे कई साहित्य-स्वरूप ऐसे हैं जो वाहर-से सस्कृत है, अर्थात् जिनपर सस्कृतका आवरण है किन्तु नीचे-नीचे प्राकृत प्रवाह हैं। इस सम्बन्धमे डॉ० हेमचन्द्र जोशी कहते है, "इनका (प्राकृतो-का) ठीक वही हिसाब है जो सस्कृतका है, जो शिक्षित भारतीयकी सामान्य बोलचालकी भाषा नही है और न इसमें बोलचालकी भाषाका पूरा आधार मिलता है, किन्तु अवश्य ही यह जनताके द्वारा बोली गयी किसी भाषाके आधारपर बनी थी, और राजनीतिक या धार्मिक इतिहास-की परम्पराके कारण यह भारतकी सामान्य साहित्यिक भाषा बन गयी। भेद इतना है कि यह पूर्णतया असम्भव है कि सब प्राकृतोको सस्कृतकी भाँति एक मूल भाषा तक पहुँचाया जाये। केवल सस्कृतको ही मूल समझना जैसा कि कुछ विद्वान् (होएफर लास्सन, भण्डारकर और याकोबी) समझते है, भ्रमपूर्ण है। सब प्राकृत भाषाओ और वैदिक व्याकरण और शब्दोका नाना स्थलोमें साम्य है, और ये बातें सस्कृतमे नही पायी जाती। जैसे

१ सन्धिके नियम भिन्न है।
२ स्वरोके बीच ड ढ को ळ और ळ्ह होता है।
३ प्राकृत त्तण वैदिक त्वन है।
४ स्त्रीलिंग षष्ठी एकवचनका आए वैदिक आयै के समान है।
५ एहिं का वैदिक एभि से साम्य है।
६ प्राकृत ता जा एत्थ वैदिक तात यात इत्था से मिलते है।
७ प्राकृत अम्हे वैदिक अस्मे।
८ प्राकृत पासो (आँख) वैदिक पश।
९ अपभ्रश दिवे दिवे वैदिक दिवे दिवे
,, माइ ,, माकीम्
,, वाइ ,, नाकीम् इत्यादि।[1]

प्राकृतका, ग्रामीण और नगर प्रजामे समन्वय करानेका यह प्रयत्न बहुत सफल रहा। महाभारतकी रचना इसी सफलताका प्रतीक है। लेकिन उत्तरकालीन सस्कृत, एकदम रूढ और क्लिष्ट हो गयी। डॉ० चाटुर्ज्याके अनुसार भाषाओकी दृष्टिसे बुद्धके समय देशके तीन भाग थे

१. प्रा० भाषाओंका व्याकरण पृ० ६।

उदीच्य, मध्य देशी और प्राच्य। इनमे उदीच्य भाषा अब भी वैदिक भाषाके निकट थी, पर प्राच्य बोलियाँ काफी दूर होती जा रही थी। इस प्रकार भाषाका एक रूप छान्दस या आर्ष था। यह भारतीय आर्य भाषाका प्राचीनतम साहित्यिक रूप है। दूसरा रूप मध्य देशका था। यह व्यवहारका माध्यम था। यह अपेक्षाकृत नया रूप था जिसमें मध्य देश और पूर्वी प्रादेशिक भाषाओंका यथेष्ट प्रभाव था। यह भाषा शिक्षण, धार्मिक कर्मकाण्ड और दार्शनिक चिन्तनके लिए प्रयुक्त होती थी। इससे पूर्वकी भाषा कितनी दूर थी, यह इसीसे समझा जा सकता है कि जब बुद्धसे उनके दो प्रमुख शिष्योंने उनकी वाणीका संस्कृतमे अनुवाद करनेकी अनुमति माँगी तो उन्होंने साफ इनकार कर दिया। फलत प्राकृतोंमें ही उनके प्रवचनोंको निबद्ध किया गया। पर इससे यह न समझना चाहिए कि ये भाषाएँ बोलचालकी प्राकृतोंका प्रतिनिधित्व करती है, ये भी यथार्थमे संस्कृतकी तरह शिष्ट प्राकृतें है। डॉ० जोशी कहते है, "स्वय अपभ्रंश भाषाके ग्रन्थोमे भाषाको व्याकरणसम्मत बनानेके प्रयत्नमे लेखकोंने साहित्यिक भाषाका रूप देकर उसे इतना सँवारा कि साधु और प्रचलित दो भिन्न भाषाएँ बन गयी, जिनमें बहुत कम साम्य रह गया। इसपर भी प्राकृत तथा अपभ्रंशमे हिन्दीके व्याकरणका इतिहास स्पष्ट रूपसे मिलता है, और विशुद्ध हिन्दी शब्दोकी व्युत्पत्ति उसमे मिलती है, क्योकि जो शब्द वैदिक रूपमे तथा संस्कृतसे घिसते-मँजते प्राकृत यानी जनताकी बोलीमें काम आने लगे उनका रूप बहुत बदल गया और कुछका रूप ऐसा हो गया कि पता नही लगता कि ये देशज थे या संस्कृत।" इनका शोध संस्कृत-द्वारा नही, प्राकृतोंके अध्ययन और ज्ञानसे सरल हो जाता है।[1]

बुद्धके निर्वाणके बाद, दो सौ छत्तीस वर्षोंके भीतर तीन बौद्ध संगीतियाँ बैठी। जिनमे परम्पराके आधारपर बुद्धवचनोंका संकलन किया गया। यह होनेपर भी उसमें प्राकृतोंका प्राचीन रूप लक्षित नही रह सका। इसके निम्न कारण थे

१ बुद्धवचन अनेक प्रान्तो और मठोंके भिक्षुओंकी स्मृतिमे संचित थे।
२ दूसरी वाचनामे मूल उपदेशकी भाषापर पश्चिमी प्रभाव पडा।
३ शिष्ट मागधीमे ही भिक्षुओंने उसे सुरक्षित रखा।
४ वह बहुत बादमे लिपिबद्ध हुआ। कुछ तो अशोकके समय लिपि-

१ प्रा० भाषाओंका अध्ययन पृ० ४५।

वद्ध हुआ और कुछ सिंहलमे। अशोकपुत्र पहले उज्जैनमे रहा, फिर सिंहल गया। इन तथ्योको हम पालिके भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे विचार करते हुए भुला नही सकते।

५ अत पालि किसी खास प्रदेशकी भाषा नही है, पण्डित लोग उसे मिश्रित भाषा कहनेके पक्षमे है, किन्तु इसके मूलमें किस भाषाका प्रभाव है यह बताना कठिन है।

इस प्रकार, ब्राह्मणोके उत्तरकालकी प्राकृत भाषाको समझनेका आधार जैनोका अग साहित्य हो सकता था। क्योकि यद्यपि महावीर उत्तर मगधके थे, पर अनेक कारणोसे इसकी भी प्राचीन मौलिकता सुरक्षित नही रह सकी। ई० पूर्व ४थी सदीके लगभग पाटलिपुत्रमे आगम-साहित्यकी व्यवस्था हुई, पर उसके बाद आठ सौ साल तक यह साहित्य अछूता ही रहा। छठी सदीमे भिन्न-भिन्न प्रतियोको मिलानेकी प्रवृत्ति चली। उसमे शुद्ध पाठकी अपेक्षा मिश्रित पाठ-परम्परा खडी होती है। यद्यपि महावीरके आगमोकी भाषा मागधी है परन्तु उसकी साहित्यिक सघटना एक हजार वर्ष बाद हुई। दोनोमें अन्तर होना स्वाभाविक है। फिर भी पालिकी अपेक्षा उसमे कुछ प्राचीनता और तारतम्य है। डॉ० पण्डितके अनुसार इसके तीन कारण है १ इस भाषाका प्रचार कम था। २ जैन विहारमठ कम थे और ३ बहुतेरा आगम साहित्य नष्ट हो गया। जो बचा वह उतना मिश्रित नही है। अशोकके शिलालेखोकी प्राकृतमें (२७०–२५० ई० पूर्व तक) क्षेत्रोकी दृष्टिसे चार बोलियाँ मिलती हैं १ उत्तर-पश्चिमके लेख, २ गिरनारके लेख, ३ गगा-जमुना और महानदीके बीच तक पाये जानेवाले लेख, और ४ दक्षिणके लेख। इनमे कुछ अपवाद छोड देनेपर प्राय पूर्वी प्राकृतका साहित्यिक रूप मिलता है। डॉ० पण्डितने इन तीन रूपोको लेकर, बुद्ध और महावीरके समयकी प्राकृतोपर विचार-करनेका सुझाव दिया है। भारतके बाहर भी कुछ प्राकृत-साहित्य उपलब्ध हुआ है। गोश्रृंगकी गुफासे फ्रेंच यात्री 'दु त्र्य द हा' को खरोष्ठी लिपिमे जो धम्मपद मिला है वह प्राकृत धम्मपदके नामसे प्रसिद्ध है, यह ई०की दूसरी सदीका माना जाता है। इसमे अशोकके लेखोकी कतिपय विशेषताएँ मिलती है। और कुछ ईरानी बोलियोकी विशिष्टताएँ भी है। इसके अतिरिक्त सर ओरेल स्टाइनको चीनी तुर्किस्तानसे कुछ पत्र मिले है, यह साहित्य, खोतानके 'निय' (प्राचीन नाम चडोत) में तीसरी सदीमें लिखा गया है। जहाँतक सस्कृत नाटकोकी प्राकृतका सम्बन्ध है, उसके

सम्बन्धमे सिल्वा लेव्हीका यह कथन विलकुल उपयुक्त है, "काव्य और आख्यान-मवादको जो साहित्यसे रगमचपर ले जानेका प्रयोग है, वही सस्कृत नाटक है।" खास तौरपर सस्कृत नाटकोकी भापा-रुढियोका तत्कालीन समाज और जीवनमे कोई मम्बन्ध नही। अवश्य ही अश्वघोष, भास और शूद्रकके नाटक इसके कुछ अपवाद है। कुल मिलाकर भापा-विज्ञानकी दृष्टिसे प्राकृतोंके अध्ययनकी यही सामग्री है। इसका विस्तृत विवेचन, हमारी विषय-सीमाके वाहर है।

नियं प्राकृत – प्राकृतके उक्त रूपोकी चर्चासे हमारा उद्देश्य नियं प्राकृतकी ओर ध्यान आकृष्ट करना है। डॉ० पण्डितने इसके जो लक्षण दिये है, वे बहुत कुछ अपभ्रंशसे मिलते-जुलते है, जैसे

१. निय प्राकृतमे मध्यग (middle) क च त प श म को घोप भाव होता है। फिर इनको घर्ष भाव होता है। यह घटना, व्यजनोके सम्पूर्ण नाशकी आवश्यक अवान्तर अवस्था है। जैसे – अवकाश, अवगज[1], प्रचुर – प्रगुर, कुक्कुट – ककुड, कोटि-कोडि।

२ मध्यग महाप्राण व्यजनका प्राय 'ह' हो जाता है। एहि, लिहति (लिखति), समुह (समुख), प्रमुह (प्रमुख), सुह (शुभ), परिहप (परिभापा), अमहु, तुमह, गोहन (गोधन) इत्यादि। निश्चय ही यह अशोकके शिलालेखोंसे वडी हुई भूमिका है।

३ श प स के रूप व्यवस्थित है। दोष, पियदशि, शत।

४ यान्त सयुक्त व्यजनका प्राय लोप हो जाता है। राज्य – रज, अद्य – अज, ददव्यो – ददवो, अवश्य – अवश, नश्यति – नशति, मनुष्य – मनुश।

५ र को वहुधा सुरक्षित रखा जाता है, अर्जुनस्य अर्थ, मर्म, अर्ण इत्यादि। र लोपके उदाहरण भी है। इनके दो रूप मिलते है – सब – सर्व, अर्ध–अढ। सयुक्त व्यजनमे र का परिवर्तन हो जाना उत्तर-पश्चिमकी विशेषता है। अशोकी प्राकृत और प्राकृत धम्मपदमे इसके उदाहरण मिलते हैं। निय प्राकृत और उत्तर कालीन खरोष्ठी लेखोमे यह वात नही है। अत र के लोपको परवर्ती विकास मानना चाहिए।

६ अशोकी प्राकृतमे सयुक्त व्यजनके ल का लोप हो जाता है। पर निय प्राकृतमें यह मिलता है, जैसे जल्पित, अल्प।

७ त्वको नियमें य होता है, चत्वारिंशत्–चयरिश। द्व के दु और

---

१ यह घर्षभावका चिह्न है।

व दोनो रूप उपलब्ध हैं, द्वादश, वदश, द्वादश। क्ष त्स का छ और स ही बचता है। यह पश्चिमोत्तरकी विशेषता है। नियमें इसके उदाहरण हैं। छेत्र, मिछु, छिन। किन्तु त्स ज्योका-त्यो रहता है। स्मका म्भ होता है, एकवचनमे म्मि होता है।

८ कृदन्तमे ति रूप मिलता है, वेद भाषामें ति होता था। जैसे—सुनिति—सुनकर, अपुच्छति—पूछकर। पचमीमे नियमे ए है, जब-कि प्राकृत धम्मपदमे ओ और उ मिलते हैं। डॉ० पण्डित इसे अर्वाचीन प्रभाव मानते हैं। ध्वनियोकी अपेक्षा, निय प्राकृतका व्याकरण अधिक विकसित है। क्योकि उसपर सस्कृतका प्रभाव नही है। सज्ञाके रूप प्राय अकारान्त नामोके अनुसार होते हैं। अन्तिम इ, उ और ऋ को अकारान्त बना लेते है। इसे देखकर अपभ्रशकी याद आ जाती है। अपभ्रशकी तरह इसमे भी प्रथमा और द्वितीयाकी विभक्तियोमे प्रत्यय-भेद नही होता। कर्मणि भूत कृदन्तसे इसमें भूतकाल सूचित होता था जैसे दा के रूप होगे

एकवचन	बहुवचन
दिते मि	दित म
दिते सि	दिते थ
दित	दित ति

इसकी विकास-रेखा है—दित अस्मि—दितेमि, दित स्म,—दितम्। केवल कर्मणि भूतके लिए दितका दितम् आता है।

विकास-रेखा—प्राकृतकी पहली भूमिकामें (अशोकी प्राकृत और पालि-के कुछ मूल अश) ऋ और लृ गायब है। ऐ औ, अय, अव, ए, ओ, अन्त्य व्यजन और विसर्गका लोप है। अत इनमें शब्दोंके स्वरान्त और सावर्ण्य-भाव (Assimilation) की प्रवृत्ति अधिक है। मध्यग व्यजनका घोप (Soft or voiced) भाव होने लगता है। यही पहली प्राकृतिक भूमिका है। दूसरी भूमिका (निय प्राकृत अश्वघोषके नाटकोकी प्राकृत धम्मपद और खरोष्ठी लेखोकी प्राकृत) में मध्य असयुक्त व्यजनोका घोप भाव और फिर घर्ष भाव होने लगता है। निय प्राकृतमे यह स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है। अर्धमागधीके आगम-साहित्यका प्राचीन अश भी इसीकी सीमामें आ सकता है। इसमे घोष भाव है पर मध्यग व्यजनका सर्वथा लोप नहीं होता। मध्यग महाप्राण (Aspirate) को भी सर्वथा ह नही होता। तीसरी भूमिकामे साहित्यिक प्राकृत नाटको और वैयाकरणोकी प्राकृतें

आती है। इनमे बोलियोंके कुछ अवशेष मिलते है पर स्वरूप इनका साहित्यिक ही है। इसमे मध्यगलोप, ह और मूर्धन्यकी प्रवृत्ति अधिक बढने लगती है। वस्तुत दो और तीन भूमिका एक ही बात है, इसके बाद, प्राकृतकी तीसरी भूमिकाका नाम अपभ्रंश है। इस कथनके आधारपर प्राकृतोंके विकासकी रूपरेखा इस प्रकार खीची जा सकती है बुद्ध और महावीरके प्रयत्नसे प्राकृतकी प्रतिष्ठा हुई। अशोकके समय जब समूचे देशमे एक माध्यमके रूपमें उसका विकास हुआ तो उसने एक साधारण रूप ग्रहण कर लिया। अश्वघोषके नाटकोमे वह अनिवार्य हो उठी, असलमे यह विभिन्न प्रान्तोंके आधारपर गठित एक साधारण रूप था। पहले वह शौरसेनी प्राकृत कहलायी, फिर महाराष्ट्री। महाराष्ट्री प्राकृत यथार्थमें शौरसेनीका परवर्ती विकास है। वह एक व्यापक साहित्यिक भाषा थी। इस बारेमे डॉ० हेमचन्द्र जोशी लिखते है, "जो प्राकृत महाराष्ट्री नामसे है, वह सारे भारतराष्ट्रमे गाथाओमे काम लायी जाती थी। भले ही लेखक दक्षिणका हो या कश्मीरका, गाथाओमे यह प्राकृत काममे लाता था। इसलिए महाराष्ट्रीको महाराष्ट्र तक सीमित रखना, या यह समझना कि वह महाराष्ट्रकी जनता या साहित्यिकोकी बोली रही होगी, भ्रामक है। महाराष्ट्रका पुराना नाम महरवाडा है, जिसका रूप आज भी मराठा है। इसकी स्थानीय बोली भिन्न थी, जो कई स्थानीय प्रयोगके मराठी शब्दोमे, आज भी प्रमाणित होती है। मराठीमे जो 'आँख'को डोला, कमरेको खोली, निचले भागको खाली आदि कहते है, वे शब्द मराठी देशी प्राकृतके है, जिसे यहाँ पिशेलने देशी कहा है।[1]

परन्तु यह केवल ऐतिहासिक भूमिका मात्र है। निय प्राकृतमे हमे घर्ष भाव मिलता है, अत वह ईसाकी प्रथम सदीमे होना चाहिए। ब्राह्मी लिपिमे इसके प्रकट करनेकी व्यवस्था न होनेसे, उसमे यह या तो घोष लिखा जाता है या फिर 'अ'। निय प्राकृतमे भी ये रूप मिलते है। प्राकृत वैयाकरण ध्वनिके आधारपर इसका विश्लेषण नही करते। ये भाषाएँ तत्कालीन बोलचालकी भाषाओंमे सम्बन्ध न रखकर शिष्ट ढगसे विकसित होती रही है, यद्यपि बोलचालकी बोलियोका प्रभाव इनपर पडता है, फिर भी जीवन और साहित्यमे अन्तर बना ही रहा। प्राकृत साहित्य, सस्कृत साहित्यसे भी अधिक सीमित है, प्राकृतके आरम्भकालमे ही सस्कृतका

१ प्राकृत भाषाओंका व्याकरण पृ० ७।

[illegible] ही ज्ञात होता है। इतना ही नहीं आदि भारतीय आर्य भाषाके [illegible] आधुनिक हिन्दी या पुरानी आर्य भाषाको केन्द्र मान- [illegible] नहीं [illegible] जा सकती। उसके लिए 'अपभ्रंश' ही एक मात्र साधन है, क्योंकि यह [illegible] भूमिकाकी अन्तिम अवस्था है।

प्राचीन साहित्यमे अपभ्रंश – अपभ्रंश मध्य भारतीय आर्य-भाषा-की अन्तिम अवस्थाका नाम है। पर इस अवस्थाको यह नाम क्यो दिया गया, इसका समय कबसे कबतक माना जाय, भाषा और साहित्यके प्राचीन शास्त्रीय आलोचकोंका इस बारेमे क्या अभिमत है इत्यादि प्रश्न अनायास ही उठते है। सारे प्रश्नोको दो रूपोंमे विभक्त करके उनके समाधान देगें

१ प्राचीन उल्लेखोंके आधारपर अपभ्रंशकी विकास-रेखा।

२ प्राकृत वैयाकरणों-द्वारा व्याकृत अपभ्रंशका विचार।

प्राचीन उल्लेख तीन प्रकारके हैं (अ) वैयाकरणोंके उल्लेख, (ब) साहित्य आलोचकोंके उल्लेख, (स) अपभ्रंश लेखकोंके उल्लेख।

(अ) सम्भवतया सर्व-प्रथम पतंजलिने अपने भाष्यमे अपभ्रंशके सम्बन्ध-मे यह लिखा कि 'एक-एक शब्दके बहुत-से अपभ्रंश है, जैसे 'गौ' इस शब्दके गावी, गोता, गोणी और गोपोतलिका – इत्यादि। (महाभाष्य १।१।१)

प्राकृत वैयाकरण चण्डने भी अपभ्रंशका उल्लेख किया है। उसके बाद आ० हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, सिंहराज, लक्ष्मीधर, शेषकृष्ण और मार्कण्डेयने भी प्राकृतोंके साथ इसका नाम गिनाया है। चण्डने 'संस्कृत, प्राकृतम्, अपभ्रंश, पैशाची, मागधी और शौरसेनी' भाषाएँ गिनायी हैं–'वररुचिने प्राकृतोका विचार करनेके अनन्तर 'दाढादयो बहुलम्' कहकर, अपभ्रंशके विचारको चलता कर दिया है। 'अभिधान चिन्तामणि'मे संस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौर-सेनी, पैशाची और अपभ्रंशके नाम आये हैं। (२।१९९)

आ० हेमचन्द्रने अपने सिद्ध हेम-व्याकरणमें प्राकृतोंके बाद अपभ्रंशका [illegible] व्याकरण दिया है।[1] संस्कृत प्राकृत व्याकरणोंमें यही उल्लेख मिलते हैं, [illegible] आधारपर ये निष्कर्ष निकालते हैं १ भारतीय वैयाकरण प्रायः [illegible] भाषाका विचार करते है, लोक-भाषाओंपर उन्होंने कुछ भी नहीं [illegible] संस्कृत और प्राकृत साहित्यके रूपमे थी अतः उनका व्याकरण

इन धातुओंका व्यवहार संस्कृतमें नहीं होता।

वैदिक भाषामें ऐसे उदाहरण हैं जहाँ र और ष के संयोगसे दन्त्य वर्ण मूर्धन्य (Cerebral) हो जाते हैं (रषाभ्यां नो ण. समानपदे)। इसका अर्थ इतना ही है कि विकास होने लगा, पर अभी शब्द नहीं आये। मानो उनके आनेकी यह स्वागत भूमिका है। मूर्धन्य वर्गको सुगमता होते ही, पाली-प्राकृतकालमें विना किसी संयोगके ही यह प्रवृत्ति ज़ोरोंसे बढ़ने लगी। दूसरे संयुक्त व्यंजनोंके उच्चारणमें भी ध्वनियोंमें विकास अनिवार्य हो उठा। धात्वर्थबोध और स्फोटके कारण, केवल स्वरीकरण (Vocalization) की प्रवृत्ति बढ़ी। नाद स्वरसंचारकी जगह बल स्वरसंचार प्रबल हो उठा।[२] वस्तुत भाषा परिवर्तनके बीज उसकी ध्वनि-व्यवस्थामें निहित रहते हैं। जैसे, व्यंजनोंका सावर्ण्यभाव वैदिक भाषामें भी है। उत् + चा = उच्चा अवेस्तामें उस + च होता है। इसी प्रकार स्वरका विकास-क्रम भी द्रष्टव्य है। यह ध्वनि-परिवर्तन ऋग्वेदकी भाषामें अधिक है। परिवर्तनका यही बीज प्राकृत भूमिकामें और विकसित हुआ।

ध्वनि-व्यवस्था पलटनेपर व्याकरण-व्यवस्था भी बदलती है। क्योंकि व्याकरणका रूपविकार बहुत कुछ ध्वनि तन्त्रपर ही अवलम्बित है। उदाहरणके लिए व्यंजनान्त शब्दोंका लोप होनेपर शब्दरूपोंमें अन्तर आ गया। अन्तिम स्वरके परिणामकी दृष्टिसे रूपोंकी विविधता समाप्त होने लगी। उसके मिटते ही लिंगभेद भी समाप्त हो गया। अन्तिम अंगके उच्चारणका महत्त्व घट गया। स्वर परिवर्तनके कारण 'ऐ' 'औ' से बने शब्दरूप रामो (राम) और रामौ, दोनोंमें 'ओ' होनेसे दोवचन समाप्त हो गया। इसी तरह विभक्तियोंमें आपसी भेद हटता गया। उनमें विनिमय भी होने लगा। अन्त्य व्यंजन और स्वर-व्यवस्थाके टूटनेसे अनेक प्रकारके परसर्गोंका विकास हुआ। आदि भारतीय आर्य भाषामें इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे यह स्पष्ट है कि व्याकरणतन्त्र परिवर्तनके बीज ध्वनि-तन्त्रमें पड़े रहते हैं। इसलिए नव्य भारतीय आर्य भाषामें जो ध्वनि-परिवर्तन होते हैं उनके बीज मध्य भारतीय आर्य भाषामें अवश्य थे। आर्येतर प्रभावने उन्हें और गति दी। इससे प्राच्य भारतीय आर्य भाषा और नव भारतीय आर्य भाषामें एकता सिद्ध होती है। पर यह सब प्राकृतिक

---

१ प्रा० भा० का व्याकरण पृ० ६५।

२ भा० आ० भा० और हिन्दी पृ० ८७ से ९२ तक।

उदयकाल आ जानेसे उसकी बाढ रुक गयी। इस दृष्टिसे 'प्रकृति संस्कृतम्'का अर्थ यही हो सकता था कि प्राकृतोका आदर्श या माडल संस्कृत ही है। 'प्राकृत व्याकरण और अपभ्रंश' शीर्षकके अन्तर्गत इसका विस्तारसे विचार किया गया है।

प्राकृतिक भूमिकाका महत्त्व – यह कहा गया है कि यह भूमिका पुरानी और नव्य भारतीय भाषाओंके बीचकी कडी है। कोई भाषा शून्य-में नही पनपती, वह समाजके सम्पर्कसे विकसित होती है। आर्य भाषा भी इसका अपवाद नही। उस देव-भाषामे भी तलभाषा (सब्स्ट्रेटम) का प्रभाव है। प्राकृते या देशी भाषाएँ आर्य भाषाको प्रभावित करती है, पर प्राय ध्वनिमे परिवर्तन नही होता किन्तु यदि एक बार ध्वनिमें परिवर्तन हो उठता है तो फिर समस्त ध्वनियाँ, उनके रूपो और उसपर टिके हुए व्याकरणके ढाँचेको पलटना पड़ता है। उदाहरणके लिए, भारतीय आर्य भाषामे मूर्धन्य वर्णोका विकास, आर्य भाषा गणोमे नही है। स्पष्ट है कि यह आर्येतर प्रभावसे सम्भव हुआ। यह प्रभाव प्राचीनतम आर्य भाषा स्तरमे आना शुरू हो गया था।

स्वय पाणिनिने कुछ धातुपाठ दिये है, जिनका सम्बन्ध डॉ० जोशी प्राकृत धातुओंसे मानते हैं। जैसे—

	हिन्दी—
अड्ड अभियोगे	अड़ना
कड्ड कार्कश्ये	कडा-कठिन
कुट शब्दे	क्रीग-कीडा (बात) (नेपाल कुमाऊँ)
घिणि ग्रहणे	गेण्हइ, घेण्हइ
घुण भ्रमणे	घूमना
चक तृप्तौ	छकना (चच्छ)
चप सान्त्वने	चुपना
जम अदने	जीमना
टल बन्धने	बाँधना
वाड आप्लाव्ये	बाढ
सम्ब सम्बन्धे	टससे मस
हिट ,,	हिंडइ (अपभ्रंश), हाट (बंगला) हिटणा (कुमाउनी)
हुड ,,	हुड़चल

इन धातुओका व्यवहार सस्कृतमे नही होता।

वैदिक भाषामे ऐसे उदाहरण हैं जहाँ र और ष के सयोगसे दन्त्य वर्ण मूर्धन्य (Cerebral) हो जाते है (रषाभ्या नो ण. समानपदे)। इसका अर्थ इतना ही है कि विकास होने लगा, पर अभी शब्द नही आये। मानो उनके आनेकी यह स्वागत भूमिका है। मूर्धन्य वर्गको सुगमता होते ही, पाली-प्राकृतकालमे बिना किसी सयोगके ही यह प्रवृत्ति ज़ोरोसे बढने लगी। दूसरे सयुक्त व्यजनोंके उच्चारणसे भी ध्वनियोमे विकास अनिवार्य हो उठा। धात्वर्थबोध और स्फोटके कारण, केवल स्वरीकरण (Vocalization) की प्रवृत्ति बढी। नाद स्वरसचारकी जगह बल स्वरसचार प्रबल हो उठा।[2] वस्तुत भाषा परिवर्तनके बीज उसकी ध्वनि-व्यवस्थामे निहित रहते हैं। जैसे, व्यजनोका सावर्ण्यभाव वैदिक भाषामें भी है। उत् + चा = उच्चा अवेस्तामें उस + च होता है। इसी प्रकार स्वरका विकास-क्रम भी द्रष्टव्य है। यह ध्वनि-परिवर्तन ऋग्वेदकी भाषामे अधिक है। परिवर्तनका यही बीज प्राकृत भूमिकामे और विकसित हुआ।

ध्वनि-व्यवस्था पलटनेपर व्याकरण-व्यवस्था भी बदलती है। क्योकि व्याकरणका रूपविकार बहुत कुछ ध्वनि तन्त्रपर ही अवलम्बित है। उदाहरणके लिए व्यजनान्त शब्दोका लोप होनेपर शब्दरूपोमे अन्तर आ गया। अन्तिम स्वरके परिणामकी दृष्टिसे रूपोकी विविधता समाप्त होने लगी। उसके मिटते ही लिंगभेद भी समाप्त हो गया। अन्तिम अशके उच्चारणका महत्त्व घट गया। स्वर परिवर्तनके कारण 'ऐ' 'औ' से बने शब्दरूप रामो (राम) और रामौ, दोनोमे 'ओ' होनेसे दोवचन समाप्त हो गया। इसी तरह विभक्तियोमे आपसी भेद हटता गया। उनमे विनिमय भी होने लगा। अन्त्य व्यजन और स्वर-व्यवस्थाके टूटनेसे अनेक प्रकारके परसर्गोंका विकास हुआ। आदि भारतीय आर्य भाषामे इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इससे यह स्पष्ट है कि व्याकरणतन्त्र परिवर्तनके बीज ध्वनि-तन्त्रमे पडे रहते है। इसलिए नव्य भारतीय आर्य भाषामे जो ध्वनि-परिवर्तन होते हैं उनके बीज मध्य भारतीय आर्य भाषामे अवश्य थे। आर्येतर प्रभावने उन्हे और गति दी। इससे प्राच्य भारतीय आर्य भाषा और नव भारतीय आर्य भाषामे एकता सिद्ध होती है। पर यह सब प्राकृतिक

---

१ प्रा० भा० का व्याकरण पृ० ६५।

२ भा० आ० भा० और हिन्दी पृ० ८७ से ९२ तक।

भूमिकासे ही ज्ञात होता है। इतना ही नही आदि भारतीय आर्य भाषाके कई नियमोकी व्याख्या आधुनिक हिन्दी या पुरानी आर्य भाषाको केन्द्र मानकर नही की जा सकती। उसके लिए 'अपभ्रश' ही एक मात्र साधन है, क्योकि वह प्राकृतिक भूमिकाकी अन्तिम अवस्था है।

प्राचीन साहित्यमें अपभ्रंश – अपभ्रश मध्य भारतीय आर्य-भाषाकी अन्तिम अवस्थाका नाम है। पर इस अवस्थाको यह नाम क्यो दिया गया, इसका समय कबसे कबतक माना जाय, भाषा और साहित्यके प्राचीन भारतीय आलोचकोका इस बारेमे क्या अभिमत है इत्यादि प्रश्न अनायास ही उठते हैं। सारे प्रश्नोको दो रूपोमे विभक्त करके उनके समाधान देखें

१ प्राचीन उल्लेखोके आधारपर अपभ्रशकी विकास-रेखा।

२ प्राकृत वैयाकरणो-द्वारा व्याकृत अपभ्रशका विचार।

प्राचीन उल्लेख तीन प्रकारके है (अ) वैयाकरणोके उल्लेख, (ब) साहित्य आलोचकोके उल्लेख, (स) अपभ्रश लेखकोके उल्लेख।

(अ) सम्भवतया सर्व-प्रथम पतजलिने अपने भाष्यमे अपभ्रशके सम्बन्धमे यह लिखा कि 'एक-एक शब्दके बहुत-से अपभ्रश है, जैसे 'गौ' इस शब्दके गावी, गोता, गोणी और गोपोतलिका – इत्यादि। (महाभाष्य १।१।१)

प्राकृत वैयाकरण चण्डने भी अपभ्रशका उल्लेख किया है। उसके बाद आ० हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, सिहराज, लक्ष्मीधर, शेषकृष्ण और मार्कण्डेयने भी प्राकृतोंके साथ इसका नाम गिनाया है। चण्डने 'सस्कृत, प्राकृतम्, अपभ्रश, पैशाची, मागधी और शौरसेनी' भाषाएँ गिनायी है–'वररुचिने प्राकृतोका विचार करनेके अनन्तर 'दाढादयो बहुलम्' कहकर, अपभ्रशके विचारको चलता कर दिया है। 'अभिधान चिन्तामणि'मे सस्कृत, प्राकृत, मागधी, शौरसेनी, पैशाची और अपभ्रशके नाम आये है। (२।१९९)

आ० हेमचन्द्रने अपने सिद्ध हेम-व्याकरणमे प्राकृतोंके बाद अपभ्रशका भी व्याकरण दिया है।[1] सस्कृत प्राकृत व्याकरणोमे यही उल्लेख मिलते है, इनके आधारपर ये निष्कर्ष निकालते है १ भारतीय वैयाकरण प्राय साहित्यरूढ भाषाका विचार करते है, लोक-भाषाओपर उन्होने कुछ भी नही लिखा। २ सस्कृत और प्राकृत साहित्यके रूपमें थीं, अत उनका व्याकरण

१ त्रिविक्रमने भी अपने त्रिविक्रम प्राकृत व्याकरणमें अपभ्रशका व्याकरण दिया है।

लिखा गया। ३ अपभ्रंश भाषा साहित्यमे (विशेषत नाटकोमें) प्रयुक्त नही हुई थी अत उसकी उपेक्षा हुई। ४ बोलचालके रूपमे जब वह अस्तित्वमें आयी तो केवल उसके नामका उल्लेख कर देना ही आवश्यक समझा गया। ५ १२वी सदीमे जब इसका भी साहित्य समृद्ध और रूढ हो गया तो इसका व्याकरण लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। ६ हेमचन्द्र जिस समय साहित्यरूढ अपभ्रंशका विचार कर रहे थे उस समय लोकमे नयी भाषाएँ नाम-रूप ग्रहण कर रही थी। ७ पतजलिने 'अपभ्रश' शब्दका प्रयोग भाषाके अर्थमे नही किया। अपभ्रशसे उनका अर्थ, सस्कृतसे भिन्न शब्द हैं। इसके आधारपर इतना ही हम कह सकते है कि पतजलि-के समयमे ये शब्द काफी सख्यामे प्रचलित हो रहे थे। अत प्राकृत वैयाकरणोंके उल्लेखोसे अपभ्रशके सम्बन्धमे हमे विशेष जानकारी नही मिलती।

(ब) यह आश्चर्यकी बात है कि वैयाकरणोकी अपेक्षा सस्कृत साहि-त्यालोचक अपभ्रशका उल्लेख अधिक दिलचस्पीसे करते है। भरत मुनि (ना० शा० १७। ४८-५५) ने लिखा है कि नाटकोमे प्राकृतोके साथ उकारबहुला भाषा भी प्रयुक्त होती है। भाषाके वह तीन भेद करते हैं अतिभाषा, आर्य भाषा और जातिभाषा। इनमें पहली देवोकी, और दूसरी (सस्कृत) राजाओकी है। जातिभाषासे उनका तात्पर्य प्राकृत भाषाओसे है, इसके अन्तर्गत उन्होने तीन प्रकारोंके शब्दोका विचार किया है, तत्सम, विभ्रष्ट[१] (तद्भव) और देशी। जातिभाषाके भी उन्होने दो भेद किये है। इनमें, एक तो, म्लेच्छादि शब्दोसे भरपूर है। परन्तु दूसरीका उन्होने उल्लेख नही किया। हमारी धारणा है कि शायद यह शिष्ट प्राकृत होगी। इसके अनन्तर वह प्रयोग तथा प्रान्तोके आधारपर भाषा और विभाषाओंके नाम गिनाते है। किस आधारपर उन्होने ऐसा किया, यह हमे नही मालूम। लेकिन प्रादेशिक दृष्टिसे वह बोलियोको निम्न रूपमे विभक्त करते है

१ विन्ध्याचल और समुद्रके बीच स्थित देशोमे आभीरोक्ति द्रविड और शाबरी भाषाओका प्रयोग होता है (४४)।

२ गगा और समुद्र (पूर्वी) के बीचके देशोमे एकारबहुला भाषाका प्रयोग होता हैं।

---

१ विभ्रष्टका अर्थ यहाँ अपभ्रश नहीं है जैसा कि डॉ० तगारेने अपनी पुस्तककी भूमिकामें दिखाया है।

३ हिमवान, सिन्धु, सौवीर प्रदेशोमे उकारबहुला भाषाका प्रयोग है। अत भरतके समय भौगोलिक दृष्टिसे भाषाएँ इस प्रकार थी। पूर्वमे एकारवाली, पश्चिममे उकारवाली और दक्षिणमे द्रविड बोलियाँ परन्तु उनके समय आभीरोक्ति भी दक्षिणमें पहुँच गयी थी। भरत मुनिका समय अनिश्चित है। फिर भी वह चौथी सदीके पूर्ववर्ती तो है ही।

भामह बोलीका नही किन्तु अपभ्रश साहित्यका उल्लेख करते हैं। (का० अ० १।१६) जैसे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रश।

दण्डी (का० आ० १।३२) चार प्रकारके काव्योकी चर्चा करते हैं। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और मिश्रित। प्राकृतको देशी और अनेकविध बताते है। परन्तु वह या तो सस्कृतसे उत्पन्न है या उसीके समान है। अपभ्रशके विषयमे उनका कहना है कि काव्यमे आभीरी वाणी ही अपभ्रश कहलाती है। किन्तु व्याकरण शास्त्रमे सस्कृतसे भिन्न सभी भाषाएँ अपभ्रश हैं। यह बात दण्डी, भाष्यकारके उक्त वक्तव्यको लक्ष्यमे रखकर कह रहे हैं। परन्तु हम कह चुके है कि भाष्यकारने अपभ्रश शब्दका प्रयोग भाषाके अर्थमे नही किया। पर दण्डीने यही समझकर उनके कथनकी सगति बैठाने-की चेष्टा की है। अपने युगके काव्य-रूपोके विषयमे दण्डीका कहना है कि सस्कृतमे सर्ग बन्धादि, प्राकृतमे स्कन्धक आदि, अपभ्रशमें ओसर आदि तथा मिश्रमे नाटक आदि होते है। इससे जान पडता है कि उनके समयमे सस्कृतमे ही महाकाव्य लिखे जाते थे। ओसर और स्कन्धक क्या है यह उन्होने स्पष्ट नही किया। स्कन्धक एक छन्द भी है। इन्हे सर्गका नाम नही माना जा सकता क्योकि परवर्ती अपभ्रश काव्यमे अभीतक इस नामपर सर्ग देखनेमे नही आये। स्कन्धक छन्द सेतुबन्धमे प्रयुक्त है, मिश्ररचनासे दण्डीका आशय दृश्यकाव्यसे है। हमारा अनुमान है कि स्कन्धक और ओसर आदि छोटे रूपमे लिखित गेय काव्य होना चाहिए। इस तरहकी रचना दण्डीके समय प्रचारित रही होगी।

रुद्रट (का० अ० पृ० १५ मे) कहते है कि प्राकृत ही अपभ्रश है। कुछ लोग उपनागर, आभीर और ग्राम्य भेदके आधारपर उसके तीन भेद करते है। पर यह ठीक नही, देश-विशेषके कारण उसके कई भेद है। इसके आगे फिर वह कहते है कि आभीरी बोली अपभ्रशके माध्यमसे मागधीमें भी देखी जाती है। जान पडता है कि रुद्रट प्राकृत शब्दका अर्थ 'स्वाभाविक' करते है इसीलिए वह अपभ्रशको भी प्राकृत कहनेके पक्षमें है, पर यह महत्त्वपूर्ण सकेत भी करते है कि आभीरोक्ति प्राकृत भाषा

अपभ्र शके माध्यमसे मागधीमे भी पहुँच गयी।

आचार्य वामन भाषाओका विचार तो नही करते फिर भी वह अत्यन्त प्रयुक्त देशी भाषा पदके प्रयोगको वाछनीय मानते है। (का० अ० १।१३) परन्तु वह अनति प्रयुक्त शब्दोका प्रयोग ठीक नही समझते जैसे—'ककेली'। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह 'शब्द' अशोकवृक्षके अर्थमे अपभ्रश साहित्यमे बहुत बार प्रयुक्त होता है।

राजशेखर अपभ्रश साहित्यका ही उल्लेख नही करते किन्तु उसको लक्ष्यमे रखकर अपने कुछ नियम भी बनाते है। वह यह भी लिखते है कि कविका परिचारक अपभ्र श बोलनेवाला हो। वह यह भी सकेत करते है कि मरुभूमि (मारवाडी) राजपूताना और पजाबके कवि अपभ्र शमें अधिक रुचि रखते है और टकार, ककार एव झकारका अधिक प्रयोग करते है। अवन्ति दशपुर और पारियात्रके कवि भूतभाषाका अधिक प्रयोग करते है। किन्तु मध्य देशके कवि सभी भाषाओमे समान रूपसे रुचि रखते है। उसने इस बातकी भी सिफारिश की है कि सस्कृत और प्राकृत कवियोके बाद, अपभ्रश कवियोको भी पश्चिम दिशामे स्थान दिया जाये। राजशेखरका यह कथन सकेतपूर्ण है क्योकि मध्य देशको छोडकर अन्य प्रदेशोंके कवि खास भाषामें रचना करना पसन्द करते थे।

नमिसाधु काव्यालकारकी टीकामें उपनागर, ग्राम्य और आभीरीका उल्लेख करते है। कुछ पण्डितोका अनुमान है कि आभीरी ही ग्राम्य-अवस्थाको पार करके काव्य-भाषा बननेपर उपनागर कहलायी। परन्तु अपभ्रश साहित्यमें कही भी इसका उल्लेख नही मिलता। वह यह भी कहता है कि अपभ्रशमे महाराष्ट्री मुख्य है। उसमे शौरसेनी और मागधी-का भी मिश्रण है। आ० हेमचन्द्रने काव्यानुशासनमे लिखा है कि आश्वास और सन्धि सस्कृत साहित्यमे भी हो सकती है, जैसे हरिप्रबोध। अपभ्रश-मे सन्धियोका बना काव्य है अब्धिमन्थन। ग्राम्य अपभ्रश भाषाका स्कन्धक बन्धमे निबद्ध काव्य है, भीमकाव्य। हेमचन्द्रकी तरह वाग्भटने भी ग्राम्य भाषाका उल्लेख किया है, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हेमचन्द्रके समय ग्राम्य और शिष्ट अपभ्रशका मिश्रण ही नही हो रहा था अपितु उसमे काव्य-रचना भी होने लगी थी। विश्वनाथने कडवक और नाना छन्दोमे निबद्ध-अपभ्रश काव्य 'कर्ण-पराक्रम'का उल्लेख किया है (६।३२७)। इसके अतिरिक्त मम्मट रामचन्द्र (विष्णुधर्मोत्तर पुराण), गुणचन्द्र (नाट्यदर्पण), जिनदत्त (विवेकविलसित), अमरचन्द्र (काव्यकल्पलता-

३. हिमवान, सिन्धु, सौवीर प्रदेशोमे उकारबहुला भाषाका प्रयोग है। अत भरतके समय भौगोलिक दृष्टिसे भाषाएँ इस प्रकार थी। पूर्वमे एकारवाली, पश्चिममे उकारवाली और दक्षिणमे द्रविड बोलियाँ परन्तु उनके समय आभीरोक्ति भी दक्षिणमे पहुँच गयी थी। भरत मुनिका समय अनिश्चित है। फिर भी वह चौथी सदीके पूर्ववर्ती तो है ही।

भामह बोलीका नही किन्तु अपभ्रंश साहित्यका उल्लेख करते हैं। (का० अ० १।१६) जैसे सस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश।

दण्डी (का० आ० १।३२) चार प्रकारके काव्योकी चर्चा करते हैं। सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रित। प्राकृतको देशी और अनेकविध बताते है। परन्तु वह या तो सस्कृतसे उत्पन्न है या उसीके समान है। अपभ्रंशके विषयमे उनका कहना है कि काव्यमे आभीरी वाणी ही अपभ्रंश कहलाती है। किन्तु व्याकरण शास्त्रमें सस्कृतसे भिन्न सभी भाषाएँ अपभ्रंश हैं। यह बात दण्डी, भाष्यकारके उक्त वक्तव्यको लक्ष्यमे रखकर कह रहे है। परन्तु हम कह चुके है कि भाष्यकारने अपभ्रंश शब्दका प्रयोग भाषाके अर्थमें नही किया। पर दण्डीने यही समझकर उनके कथनकी सगति बैठानेकी चेष्टा की है। अपने युगके काव्य-रूपोंके विषयमे दण्डीका कहना है कि सस्कृतमे सर्ग बन्धादि, प्राकृतमे स्कन्धक आदि, अपभ्रंशमें ओसर आदि तथा मिश्रमें नाटक आदि होते है। इससे जान पडता है कि उनके समयमे सस्कृतमे ही महाकाव्य लिखे जाते थे। ओसर और स्कन्धक क्या है यह उन्होने स्पष्ट नही किया। स्कन्धक एक छन्द भी है। इन्हें सर्गका नाम नही माना जा सकता क्योकि परवर्ती अपभ्रंश काव्यमे अभीतक इस नामपर सर्ग देखनेमे नही आये। स्कन्धक छन्द सेतुबन्धमे प्रयुक्त है, मिश्ररचनासे दण्डीका आशय दृश्यकाव्यसे है। हमारा अनुमान है कि स्कन्धक और ओसर आदि छोटे रूपमे लिखित गेय काव्य होना चाहिए। इस तरहकी रचना दण्डीके समय प्रचारित रही होगी।

रुद्रट (का० अ० पृ० १५ मे) कहते है कि प्राकृत ही अपभ्रंश है। कुछ लोग उपनागर, आभीर और ग्राम्य भेदके आधारपर उसके तीन भेद करते है। पर यह ठीक नही, देश-विशेषके कारण उसके कई भेद है। इसके आगे फिर वह कहते है कि आभीरी बोली अपभ्रंशके माध्यमसे मागधीमे भी देखी जाती है। जान पडता है कि रुद्रट प्राकृत शब्दका अर्थ 'स्वाभाविक' करते है, इसीलिए वह अपभ्रंशको भी प्राकृत कहनेके पक्षमे है, वह यह महत्त्वपूर्ण सकेत भी करते है कि आभीरोक्ति काव्य भाषा

अपभ्रंशके माध्यमसे मागधीमें भी पहुँच गयी।

आचार्य वामन भाषाओंका विचार तो नही करते फिर भी वह अत्यन्त प्रयुक्त देशी भाषा पदके प्रयोगको वाछनीय मानते है। (का० अ० १।१३) परन्तु वह अनति प्रयुक्त शब्दोका प्रयोग ठीक नही समझते जैसे—'ककेली'। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह 'शब्द' अशोकवृक्षके अर्थमें अपभ्रंश साहित्यमे बहुत बार प्रयुक्त होता है।

राजशेखर अपभ्रंश साहित्यका ही उल्लेख नही करते किन्तु उसको लक्ष्यमे रखकर अपने कुछ नियम भी बनाते है। वह यह भी लिखते है कि कविका परिचारक अपभ्रंश बोलनेवाला हो। वह यह भी सकेत करते है कि मरुभूमि (मारवाडी) राजपूताना और पजाबके कवि अपभ्रंशमे अधिक रुचि रखते है और टकार, ककार एव झकारका अधिक प्रयोग करते है। अवन्ति दशपुर और पारियात्रके कवि भूतभाषाका अधिक प्रयोग करते है। किन्तु मध्य देशके कवि सभी भाषाओमें समान रूपसे रुचि रखते है। उसने इस बातकी भी सिफारिश की है कि सस्कृत और प्राकृत कवियोके बाद, अपभ्रंश कवियोको भी पश्चिम दिशामे स्थान दिया जाये। राजशेखरका यह कथन सकेतपूर्ण है क्योकि मध्य देशको छोडकर अन्य प्रदेशोंके कवि खास भाषामे रचना करना पसन्द करते थे।

नमिसाधु काव्यालकारकी टीकामें उपनागर, ग्राम्य और आभीरीका उल्लेख करते हैं। कुछ पण्डितोका अनुमान है कि आभीरी ही ग्राम्य-अवस्थाको पार करके काव्य-भाषा बननेपर उपनागर कहलायी। परन्तु अपभ्रंश साहित्यमें कही भी इसका उल्लेख नही मिलता। वह यह भी कहता है कि अपभ्रंशमे महाराष्ट्री मुख्य है। उसमे शौरसेनी और मागधी-का भी मिश्रण है। आ० हेमचन्द्रने काव्यानुशासनमे लिखा है कि आश्वास और सन्धि सस्कृत साहित्यमे भी हो सकती है, जैसे हरिप्रबोध। अपभ्रंश-मे सन्धियोका बना काव्य है अब्धिमन्थन। ग्राम्य अपभ्रंश भाषाका स्कन्धक बन्धमे निबद्ध काव्य है, भीमकाव्य। हेमचन्द्रकी तरह वाग्भटने भी ग्राम्य भाषाका उल्लेख किया है, इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हेमचन्द्रके समय ग्राम्य और शिष्ट अपभ्रंशका मिश्रण ही नही हो रहा था अपितु उसमे काव्य-रचना भी होने लगी थी। विश्वनाथने कडवक और नाना छन्दोमे निबद्ध-अपभ्रंश काव्य 'कर्ण-पराक्रम'का उल्लेख किया है (६।३२७)। इसके अतिरिक्त मम्मट रामचन्द्र (विष्णुधर्मोत्तर पुराण), गुणचन्द्र (नाट्यदर्पण), जिनदत्त (विवेकविलसित), अमरचन्द्र (काव्यलता-

वृत्ति) और भोज (सरस्वतीकण्ठाभरणमें) अपभ्रंश साहित्यका निर्देश करते हैं। वल्लभिके राजा धरसेन (५५९–५९६) के शिलालेखमें अंकित है कि वह संस्कृत, प्राकृत प्रबन्ध रचनाके अतिरिक्त अपभ्रंश प्रबन्धमें भी निपुण हैं।

इस प्रकार ६ठी से लेकर १४वी सदी तकके उक्त साहित्यिक सन्दर्भोसे निम्न तथ्य प्रकाशमें आते हैं (१) भरत मुनिके समय, अपभ्रंश एक बोलीके रूपमें अवश्य थी, तभी उन्होंने नाटकोंमें उसके भी प्रयोगकी बात लिखी, (२) भरत मुख्य रूपसे नाटकोके आलोचक है। पर शुद्र साहित्यालोचक भामह और दण्डी भी अपभ्रंश साहित्यका उल्लेख करते है। (३) दण्डी आभारीकी पहचान अपभ्रंशसे कराते है (४) एक दल, अपभ्रंशको प्राकृत मानता था, फिर भी काव्यमें उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ठेठसे ही रहा। रुद्रट, आभीरी ग्राम्य और उपनागरमें विकास-क्रम दिखलाना चाहते हैं। नमिसाधु उसे महाराष्ट्रीके निकट देखते हैं, (५) भरत, रुद्रट और राजशेखर अपभ्रंशका अस्तित्व पश्चिममें मानते है। पर धीरे-धीरे उसका प्रभाव दक्षिण और मगधमें पहुँच गया। भोजके अनुसार गुर्जर अपने अपभ्रंशसे सन्तुष्ट होते हैं, इससे यह स्पष्ट है कि अपभ्रंशके कई रूप होने चाहिए किन्तु इस भिन्नरूपताको जाननेका कोई साधन हमारे पास नही है, (६) हेमचन्द्र और वाग्भट ग्राम्य अपभ्रंशका उल्लेख करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि इस समय तक नयी बोलियाँ विकसित होने लगी थी, शिष्ट अपभ्रंशकी तुलनामें ये ग्राम्य ही थी। पर यह बोलियोका उल्लेख है, उसके साहित्यका नही क्योकि अपभ्रंशका प्रभाव, हेमचन्द्रके अनन्तर भी बना रहा।

(स) उपलब्ध अपभ्रंशकाव्योंमें आये हुए उल्लेखोसे भी हमे अधिक जानकारी नही होती। तो भी इतना निश्चित है कि अपभ्रंशके दो रूप अवश्य थे, शिष्ट और ग्राम्य। स्वयम्भूने पउमचरिउकी भाषाको गामिल्ल भाषासे रहित माना है, यह भी ज्ञात होता है कि जिन-मन्दिरोमें बहुचरित पोथियाँ रहती थी (प० च० २।२०७)। उनकी वाचना और अभिनयका भी प्रचलन था (प० सि० च०)। वटवृक्ष और उपाध्यायके रूपक (प० च० २।६०) से यह भी ज्ञात होता है कि स्वयम्भूके समय इसका पठन-पाठन भी होने लगा था। महा पुराण १, ८६ के अनुसार ऋषभ जिनने अपनी पुत्रियोको अपभ्रंश की भी शिक्षा दी। इससे यह धारणा कि अपभ्रंश कवियोने इस भाषाको अपभ्रंश नही कहा, क्योकि यह नाम संस्कृत

वैयाकरणोने रखा था, इससे इन्हे अरुचि थी—निर्मूल हो जाती है। इसाक विचार आगे किया गया है। अपभ्रश कवियोके इन सन्दर्भोसे केवल यही जानकारी मिलती है कि उक्त अवधिमें अपभ्रश भाषा और साहित्यकी पढाई भी शिक्षाका अग मानी जाती थी।

अन्य स्रोत—विमलसूरिके पउमचरिअमें कतिपय अपभ्रश उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार जैकोबी और स्मिथ साहब भी पालिमें कतिपय अपभ्रश रूपोकी कल्पना करते है। कालिदासके नाटक विक्रमोर्वशीयमे भी पुरुरवाके विलापका वर्णन अपभ्रंशमें बताया जाता है। परन्तु इन सबमे अधिक विश्वसनीय प्रमाण 'निय प्राकृत' है। इसकी कई बातें हमें अपभ्रशमें देखनेको मिलती हैं। हम देख चुके हैं कि यह प्राकृत, भारतके बाहरकी है, अत सस्कृतके प्रभावसे मुक्त है, उसमें पश्चिमी प्रभाव अधिक होना चाहिए, यह अशोकी प्राकृतका बढा हुआ विकास है। हम समझते है यह एक ऐसी भूमिका है जिसपर अपभ्रशका विकास अनुमित किया जा सकता है। लेकिन जहाँ तक हमारी साहित्यिक अपभ्रशका सम्बन्ध है उसपर पश्चिमी मध्यदेशी प्राकृतका प्रभाव अधिक रहा, हम देख चुके हैं कि प्राकृत वैयाकरण भी यही मानते है।

अपभ्रंश और देशी— अपभ्रशको देशी कहा जा सकता है, पर एक निश्चित सीमामें। नयी काव्य-भाषाको देशी कहनेकी प्रथा इस देशमें बहुत पुरानी है। स्वय पाणिनिने 'सस्कृत'को लौकिक भाषा कहा है। (लोके वेदे च)। सस्कृत नाम उन्होने नही दिया। बादमें भाषा शब्द सस्कृतके अर्थमे रूढ हो गया। लेकिन जब नयी भाषाएँ उठी तो सस्कृतसे भेद बतानेके लिए उन्हें प्राकृत नाम दिया गया। प्राकृतके बाद एक और भाषा काव्यका वाहन बनी। १०वी सदीमें पुष्पदन्तने इसे 'अपभ्रश' कहा है। स्वयम्भू शायद इसे 'भाषा' कहते थे, उनके 'गामिलभाषा' शब्दसे तो यही ध्वनि निकलती है।

'देशीभाषा-उभय तडुज्जल' का डॉ० जोशीने जो, "दोनो तटो (सस्कृत प्राकृत)से देशी भाषा उज्ज्वल है"[1] अर्थ किया है, वह ठीक नही। पूरा पद है—

"वद्धमाण मुहकुहर विणिग्गय
रामकहाणइ एह कमागय
अक्खर - वासजलोहमणोहर

1 प्रा० भा० का अध्ययन पृ० ७ अनुवादक।

सुअलंकार छन्दमच्छोहर
दीह समास पवाहावंकिय
सक्कय पाइय पुलिणालंकिय
देसीभासा-उभय तडुज्जल
कवि दुक्कर घणसद्द-सिलायल"

यहाँ कवि स्वयम्भू अपनी रामकथाको नदीका रूपक दे रहा है।

'भगवान् महावीरके मुख-पर्वतसे निकली हुई यह रामकथाकी नदी एक क्रमसे बहती आ रही है। अक्षरोंके विन्यासके जलसमूहसे जो अत्यन्त सुन्दर है, जो सुन्दर अलंकारों और छन्दोंके जलचरोंको धारण करती है। लम्बे समासोंके प्रवाहोंसे जो टेढ़ी-मेढी है, संस्कृत और प्राकृत, ये दो जिसके तट हैं, जिसके दोनों तट देशीभाषाके जलसे भरपूर हैं, अथवा देशीभाषा-से जिसके दोनों तट शोभित हैं। कहीं-कहींपर कठिन और सघन शब्दो-की चट्टानें हैं।

हम देख चुके हैं कि बोलचालमें आभीरी थी, काव्यमें वही अपभ्रंश थी। दण्डीके समय यही स्थिति थी। परन्तु हेमचन्द्रने देशीनाममालाके नामसे जो शब्दकोष लिखा है, उसमें अपभ्रंश शब्द भी है। पर उसमें कुछ ग्राम्य शब्द भी है। कुवलयमालाकार, उद्भट आदि भी ग्राम्य भाषा-का उल्लेख करते हैं। इसमें ग्राम्यका अर्थ देशी ही सूचित होता है। परन्तु यह देशी, इस युगमें साहित्यरूढ शिष्ट अपभ्रंशसे भिन्न है। इतना ही नहीं उसका जो परवर्ती रूप है—वह अवहट्ठ कहलाया, देशी नहीं। विद्यापतिके कथनसे यही सिद्ध होता है। उन्होंने लिखा है "देसिल वअना सब जन मिट्ठा, तें तैसन जम्पओ अवहट्ठा"। यहाँ कीर्तिलताकी भाषा अवहट्ठ बतायी गयी है। और गीतोंकी भाषा देशी वचन। वचनका अर्थ भाषा भी होता है। स्वयम्भूने इसका इस अर्थमें प्रयोग किया है। डॉ० हीरालाल 'देशी' और अवहट्ठको एक ही मानते हैं (सा० ध० दो० ५३) परन्तु मैं विद्यापतिके कथनका उक्त अभिप्राय ही ठीक समझता हूँ। वह अपने पाठकोंको अवहट्ठके प्रति यह कहकर आकृष्ट करना चाहते हैं कि वह भी देशीवचनकी तरह मीठी है। विद्यापतिने संस्कृतमें रचना की है, देशीमें भी, पर परम्परागत काव्यभाषामें भी रचना कर वह सर्वभाषा कवि बनना चाहते थे, किन्तु पाठक उनके समयमें अवहट्ठ पसन्द नहीं करता था। यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि देशीमें स्थानीय या प्रादेशिकता-का भाव अधिक रहता है। इसलिए जब कोई बोली काव्यमें कुछ

फैलने लगती है तो उसे भाषा कहने लगते हैं। उदाहरण के लिए विद्यापतिके समय जो देशी थी वही सूर, तुलसीके समय भाषा बन गयी। व्रजभाषा तो प्रसिद्ध ही है। जैन संस्कृत पुराणोंपर ब्रजमे लिखी हुई टीकाएँ भाषा वचनिका कहलाती हैं। तुलसी भी मानसकी भाषाको 'भाषा भनिति' कहते हैं।[1] एक दूसरे स्थलपर वे प्राकृत कवियोकी भाषाको भी भाषा कहते हैं। आ० शुक्लने भी पुरानी काव्यभाषाका उल्लेख किया है, इसलिए, देशी और भाषा शब्दोका अर्थ उनके विशेष प्रसंगको लक्ष्यमे रखकर ही करना चाहिए। स्वयम्भूके समय अपभ्रंश देशी थी, पर हेमचन्द्रके समय नही। अपभ्रंश और देशीके विषयमे कतिपय विदेशी पण्डितोमें मतभेद था। पिशल और डॉ० सर ग्रियर्सनका अभिमत था कि प्राकृतकी अपेक्षा अपभ्रंश ही आधुनिक बोलियोका ठीक प्रतिनिधित्व करती है। ग्रियर्सन तो आधुनिक भारतीय आर्य-बोलियोका आधार विभिन्न अपभ्रंशोको मानते ही है। जैसे—नागर अपभ्रंश से राजस्थानी, गुजराती, महाराष्ट्री। अपभ्रंशसे मराठी, मागधीमे बंगाली, बिहारी, आसामी, उडिया और व्राचडसे सिंधी। परन्तु डॉ० कीथ इसे एक सैद्धान्तिक कल्पना मात्र मानते हैं।[2] उनका कहना है कि खोज करनेपर यह कल्पना टिकती नही, उपलब्ध अपभ्रंश साहित्यसे यह अच्छी तरह सिद्ध है कि अपभ्रंशका दूसरा ही अर्थ था। क्योकि हेमचन्द्र तकने अपभ्रंशकी पहचान देशीसे नही की। इसलिए देशी अलग चीज़ है। लेकिन हम ऊपर कह चुके है कि हमे 'देशी' का अर्थ एक सीमामें ही करना चाहिए। ऊपरके उल्लेखोमे यह प्रमाणित किया जा चुका है कि अपभ्रंश देशी चाहे न हो, पर परवर्ती देशी बोलियोका सामान्य आधार वही हो सकती है। है भी। साहित्यिक होनेके लिए हरेक भाषाको देशी स्थितिमें से गुज़रना पडता है। इसलिए यह नही कहा जा सकता कि वह कभी देशी थी ही नही। हेमचन्द्र 'देशी' शब्दोमे तत्सम और तद्भवके अतिरिक्त शब्दको गिनानेकी प्रतिज्ञा तो करते है फिर भी बहुत-से तद्भव शब्द अपनी नाममालामे अंकित कर देते है। उनके विचारसे वह शब्द भी देशी है जो लिया तो संस्कृतसे गया है, पर उसका अर्थ बदल गया है। वह बहुत-से अनार्य शब्दोको भी गिना देते है जैसे—ऊरो छाणी, पुल्ली चिक्का आदि शब्द। देशी नाममालाके सम्पादकके अनुसार उसमें अरबी फारसी शब्द भी है।

१ भाषा भनिति भोरि मति मोरी (रा० च० मा० ८० दुःखा)।
२ विस्तारके लिए देखिये प्रकीर्णकमें 'डॉ० कीथ और अपभ्रंश' शीर्षक।

इसलिए हेमचन्द्रके देशीका अर्थ केवल देश प्रचलित शब्द नही है। वे शब्द भी हैं जिनका संस्कृतसे कोई सम्बन्ध नही। हेमचन्द्रके बहुत शब्द तत्कालीन बोलियोंके भी है क्योंकि इनका प्रयोग परिनिष्ठित अपभ्रंशमे नही है। हेमचन्द्रने आ० और देशके नाम गिनाये है। ये है अभिमान चिह्न, गोपाल देवराज, द्रोण, धनपाल, पादलिप्ताचार्य और राहुल। हेमचन्द्रके समय अपभ्रंश और देशीमें आपसी सम्बन्ध क्या था यह निश्चित रूप से तो नही बताया जा सकता, लेकिन इतना हम जानते हैं कि विद्यापतिकी तरह ११वी सदीके लेखक मराठीको देशी कहते थे (देखो, दे० ना० मा० की भूमिका)। इन देशी शब्दोके मूलको लेकर भी विवाद है। डॉ० वैद्य जिन शब्दोको संस्कृतका मानते हैं उन्हें डॉ० उपाध्ये द्रविड मानते है। अतः इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि हेमचन्द्रके समय देशीसे भाषाकी एक नयी दिशाका बोध होने लगा था। एक बात यह भी लक्षित होती है कि इस केन्द्रीय काव्य भाषा और उसके किनारेकी भाषाओमें उतना भेद नही था, जितना कि आज है। इसे हम आगे स्पष्ट करेंगे।

आभीर और अपभ्रंश— पीछे हमने लक्ष्य किया था कि दण्डी, भरतकी आभीरीको काव्यमे अपभ्रंश मानते हैं। इसपर-से यह अनुमान किया जाता है कि आभीरोकी भाषा ही आगे चलकर अपभ्रंश बन गयी। पर आभीरोसे अपभ्रंशका सम्बन्ध जोडनेमे कई अडचनें हैं। एक तो आभीरोके मूलके विषयमे कुछ विशेष पता नही लगता। दूसरे इतिहासमें उनका प्रभाव नगण्य रहा। तीसरे उनकी आभीरी कैसी थी, इसका कोई नमूना हमारे पास नही। यह ठीक है कि भरतमुनि आभीरीको उकार-बहुला कहते है, पर यह 'उ', 'ओ' का ह्रस्वादेश भी हो सकता है, वह भाषाकी प्रकृतिका निर्णायक तत्त्व नही माना जा सकता। यदि परिनिष्ठित अपभ्रंशको आभीरी कहा जाये तो प्राकृत भी आभीरी मानी जा सकती है। क्योंकि निय प्राकृतमे भी वे विशेषताएँ मिलती है जो अपभ्रंशमे है। फिर यह कैसे सम्भव मान लिया जाये कि बिना किसी साधारण आधारके, आभीरोकी बोली अपभ्रंश बनकर सब ओर फैल गयी। इसलिए अपभ्रंशके विकासको दूसरे स्रोतोंसे खोजना चाहिए।

विकासकी व्याख्या और प्रादेशिक तत्त्व— उक्त विवेचनसे हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते है कि शौरसेनी या महाराष्ट्री प्राकृतोकी अपेक्षा, अपभ्रंशपर पश्चिमी प्रभाव अधिक है। इसका मुख्य कारण

सम्भवत , उत्तर पश्चिमकी राजपूत जातियोका देशकी राजनीतिमे अधिक भाग लेना ही है । अन्यत्र हम देख चुके हैं कि अपभ्रश युग और राजपूत युग, एक ही साथ शुरू हुए । यह सहोदय चाहे आकस्मिक हो पर उससे अपभ्रशको फैलनेका अवसर मिला । हूणोके रक्तमिश्रणसे जो जातियां उठी, वे पश्चिमकी थी । इनके काफी पहले, आभीरोकी लहर भी यहीसे उठी थी । गुर्जर-प्रतिहार मध्य देशमें काफी समय प्रभावशाली रहे । वगालके राजवश और राष्ट्रकूट वश भी इसे पसन्द करते थे, शासन और धर्मकी भाषा चाहे जो रही हो पर जनसाधारण अपभ्रश रूपको ही समझती थी, इसलिए राजशेखर राजकविके लिए अपभ्रश बोलनेवाले नौकरकी आवश्यकतापर जोर देता है । हमारा अनुमान है कि भरत मुनिकी आभीरोक्ति पश्चिमी भरतकी एक बोली थी जिसका आधार पश्चिमी प्राकृत था। आगे चलकर, राजनैतिक कारणोसे वह व्यापक भाषाका उत्तराधिकार पा गयी । जैन लेखकोने लोकप्रियताके कारण ही, उसे अपनाया होगा । यह एक सुविदित तथ्य है कि भारतके सास्कृतिक इतिहासमे हरेक भाषा एक विशेष परिस्थितिमें विकसित होती आयी है। सस्कृत यदि आर्य-अनार्यके सघर्ष और सगममें-से निकली तो प्राकृत भी, बुद्ध-महावीरकी धार्मिक क्रान्तिमे-से उठ खडी हुई । और अपभ्रश गुप्तोत्तरकालकी राजनैतिक उथल-पुथलमे महत्त्व पा गयी । इसके अनन्तर प्रादेशिक आधारपर भाषाओंका विकास हुआ । इनमे साहित्य रचना भी हुई । वे एक दूसरेसे काफी स्वतन्त्र और दूर थी । वगला, मराठी और गुजरातीके बीच केन्द्रमें कई भाषाएँ थी पर उनमे व्रज काव्य-भाषा थी । पर मुगल-अभियान और सन्तोके प्रयत्नसे खडीबोली व्यापक बन बैठी । फिर भी हमें यह ध्यानमे रखनेकी आवश्यकता है कि केन्द्रीय और व्यापक होकर भी वह किनारेकी भाषाओंसे जितनी दूर है उतनी अपभ्रशको केन्द्रमें रखकर, कीर्तिलता, 'रासो' और ज्ञानेश्वरीकी टीकाभाषाके तुलनात्मक अध्ययनसे अच्छी तरह समझ सकते है । मै इस दूरीके निम्न कारण समझता हूँ

१ मुसलमानी शासन और उसके पहलेसे ही जनता एक ही प्रदेशमे रहना पसन्द करने लगी, इससे अन्त प्रान्तीय सम्पर्क कम हुआ ।

२ ध्वनियोंके उच्चारण और भाषाके गठनपर स्थानीय प्रभावका अधिक बढते जाना ।

३ दरबारमे विदेशी भाषाकी प्रतिष्ठा ।

४. संयोगात्मक अवस्थासे वियोगात्मक अवस्थाकी ओर इन भाषाओंका विकसित होना।

५ प्राकृतिक भिन्नता भी एक कारण था ही। इससे भाषाओंका ही नही – जनपदोंका व्यक्तित्व भी काफी भिन्न हो गया। डॉ० धीरेन्द्र वर्माने हिन्दीकी बोलियोंके आधारपर, भारतके पुराने जनपदोंकी पहचान की है। पर इससे यह समझ बैठना कि इन जनपदोंमे सदासे ऐसा ही भाषा भेद रहा, भूल है। गुजराती, मराठीकी बात छोडिए, हिन्दीकी बोलियोंकी भी तुलनात्मक समीक्षा, हिन्दीको केन्द्रमे रखकर नही की जा सकती। इससे बहुत-सी उलझने और कार्य अस्पष्ट ही रह जायेंगे। उन्हें सुलझानेमे अपभ्रंश ही कुछ सहायक हो सकती है। इसी प्रकार 'हिन्दी और उसके किनारेकी बोलियोंकी तुलनात्मक समीक्षाका आधार भी अपभ्रंश ही हो सकती है क्योंकि ऐतिहासिक परम्परासे, इन सबके सम्बन्ध सूत्रको जोडनेका 'रिक्थ' अपभ्रंशको ही प्राप्त है।

अपभ्रंश साहित्यका स्वरूप— अपभ्रंशका इतना महत्त्व मानते हुए भी उसका साहित्य बहुत ही सीमित है। वह प्राकृतसे भी अधिक सकुचित है। भाषाकी दृष्टिसे प्राकृतका क्षेत्र विस्तृत है। उसमें जैन-बौद्ध धर्म साहित्य है, काव्य और सिद्धान्त साहित्य भी है, अशोकके शिला-लेखोंमें उसके बोलचालके रूप सुरक्षित हैं। भारतके बाहर भी वह है, सस्कृत नाटकोंमे भी उसका अस्तित्व है। उसकी तुलनामे अपभ्रंशमे प्रबन्ध और मुक्तक रचनाओंको छोडकर, कुछ भी साहित्य उपलब्ध नही। अधिकतर, वह भी जैन कथा साहित्य है। मुक्तक रचनामे सिद्धोंकी विचारधारा भी आ जाती है। इसलिए यह सीमित और शिष्ट साहित्य माना जायेगा। उसका व्याकरणिक रूप एक-सा है। भरत मुनिने आभी-रोक्तिका नाटकमे प्रयोग करनेका विधान किया था। परन्तु राजशेखर-जैसा उदार और अपभ्रंशका प्रशसक लेखक भी अपने नाटकोंमें प्राकृतको ही अपनाता है। इसलिए भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे इसके अध्ययनसे मौलि-कताका क्रम पता लगता है। पुष्पदन्तने नाटक, आख्यायिका, कथामृत अनिबद्ध कथा मुक्तक (म० पु० १, ८६) का उल्लेख किया है। स्वयम्भू भी चक्कलक-कुलक, स्कन्धक, पवणुद्धत, रासालुब्ध, मजरिया, विला-सिनी, णत्रकुड और खडखडय आदि छन्दोंमे कविता करनेवालोंका उल्लेख करते हैं। (प० च० २।१५) सम्भवत इन छन्दोंमे निबद्ध गेय या मुक्तक

काव्यरूप, स्वयम्भूके पहलेसे थे, इन सबकी खोजकी नितान्त आवश्यकता है। परन्तु इससे भी बडी आवश्यकता है अभी तकके प्रकाशित अपभ्रश साहित्यके शब्दकोश निर्माणकी, इसके बिना आलोच्य भाषाकी प्रकृति और प्रवृत्तिका वैज्ञानिक या तुलनात्मक अध्ययन नही किया जा सकता।

प्राकृत अपभ्रंश या हिन्दी— अपभ्रशके सम्बन्धमे एक समस्या उसके नामको लेकर है। प्राकृतके पण्डित उसे प्राकृतकी अन्तिम अवस्था मानते हैं और हिन्दीके विद्वान् पुरानी हिन्दी। कुछ इसी तरहका दावा, गुजराती, बगला और मराठीवालोका भी है। इसमे इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि 'अपभ्रश' नव्य भारतीय आर्य भाषाकी सामान्य आधार भूमि है। दूसरी ओर प्राकृतकी अन्तिम अवस्था माननेपर इसका सम्बन्ध पुरानी भारतीय आर्य भाषासे हो जाता है। आ० शुक्लको हिन्दीके आदिकालमें कुछ अपभ्रश पोथियाँ इसलिए गिनानी पडी क्योकि वे सदासे भाषा काव्यके अन्तर्गत मानी जाती रही है। गुलेरीजी अपभ्रशको 'पुरानी हिन्दी' कहते थे। राहुलजी अपनी 'हिन्दी काव्य धारा' पुस्तकमे अपभ्रश कवियोका उल्लेख करते हैं। श्री काशीप्रसाद जायसवालने भी (ना० प्र० प० भाग८ अक २ में प्रकाशित) 'पुरानी हिन्दीका जन्मकाल' लेखमें कुछ अपभ्रश पुस्तकोकी चर्चा की है। उनका कहना है कि काव्यगत भाषा अपभ्रश, प्राकृतसे दूर और हिन्दी व्याकरणके निकट है, अत उसे पुरानी हिन्दी कहनेमें हमे सकोच नहीं होता। लेकिन यह परम्परा इससे भी पुरानी है। शिवसिंहने अपने हिन्दी साहित्यके इतिहासमें पुष्पभाट नामके भाषा कविका उल्लेख किया है। उन्हें भाषाकी जड यह कवि ही मालूम होता है, डॉ० द्विवेदी इसकी पहचान अपभ्रश कवि पुष्पदन्तसे करते है, पर यह केवल सम्भावनाके रूपमें है। हम देख चुके हैं कि भाषा शब्द कई अर्थोमें प्रयुक्त है, तुलसी प्राकृत कविको भाषा कवि कहते हैं, 'ते प्राकृत कवि परम सयाने। जिन्ह भाषा हरि चरित बखाने'। यदि प्राकृतका अर्थ साधारण लिया जाये तो भी भाषाका अर्थ अस्पष्ट ही रहेगा, क्योकि 'मानस' भी उन्होने भाषामें ही लिखा है, इसलिए भाषाके दो ही अर्थ हो सकते है, अवधी या काव्य भाषा अपभ्रश और यह सुनिश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि इनमें-से किसी एकमें लिखे राम कथा-काव्यकी जानकारी तुलसीको अवश्य थी। हो सकता है पुष्पभाट भी ऐसा कोई कवि रहा हो। पुष्पदन्तसे इसका सम्बन्ध नही बैठता। डॉ० द्विवेदीने बहुत पहले कहा था कि चन्द्रबरदाई, हिन्दीका आदिकवि होनेकी

कोषा अपभ्रंशका अन्तिम काल अधिक है। आ० शुक्ल जिसे वीरगाथा काल कहते हैं, उसे द्विवेदीजी आदिकाल कहते हैं, वि० सं० ९८३ से १३१८ तकके इस कालमें शुक्लजी निम्न पुस्तकोंका विचार करते हैं, विजयपाल-रासो, हम्मीर रासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका, खुमान रासो, वीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचंद प्रकाश, जयमयंक, जसचद्रिका, परिमालरासो, खुसरोकी पहेलियाँ और विद्यापतिकी पदावली। इनमें अन्तिम तथा वीसलदेवरासो को छोड़कर शेष ग्रन्थ वीरगाथात्मक हैं। अतः इसे वह वीरगाथा काल कहते हैं। कुछ और पुस्तकोंकी शुक्लजीने इन तीन कारणोंसे विवेचना नही की। (१) पीछेकी रचनाएँ है (२) नोटिस मात्र है (३) जैन धर्मके उपदेश हैं। परन्तु डॉ० द्विवेदीने इन तर्कोंका खण्डन करके कुछ और अपभ्रंशकी जैन पुस्तकोंको उक्त सूचीमें रखनेका समर्थन किया है। लेकिन वे भी, इनका विचार, हिन्दीके आदिकालके अन्त-र्गत ही करते हैं—'वस्तुत छन्द काव्य रूप, काव्यगत रूढियो और वक्तव्य वस्तुकी दृष्टिसे १०वी से लेकर १४वी शताब्दी तक लोकभाषाका साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंशमें प्राप्त साहित्यका ही बढाव है यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंशसे थोडी भिन्न है, इसलिए १०वी से १४वी तकके उपलब्ध लोकभाषा साहित्यको अपभ्रंशसे थोडी भिन्न भाषाका साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुत वह हिन्दीकी आधुनिक बोलियोमें-से किसी-किसीके पूर्वरूपके रूपमें ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिन्दी-साहित्य-के लेखक १०वी सदीसे इस साहित्यका आरम्भ करते हैं। इस समयसे हिन्दी भाषाका आदिकाल माना जा सकता है। इस कालमें दो प्रकारकी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—एक तो जैन भण्डारोमें सुरक्षित और अधिकाशमें जैन प्रभावापन्न पर निश्चित, साहित्यिक अपभ्रंशकी रचनाएँ हैं और दूसरी लोक-परम्परामें बहती हुई आनेवाली और मूल रूपसे अत्यन्त भिन्न बनी हुई लोक-भाषाकी रचनाएँ (हि० सा० आ० ३०-४४)। डॉ० द्विवेदीने अपनी प्रशस्त शैलीमें महत्त्वकी कई बातें कह दी है (१) वह इस कालकी लोक रचनाओको हिन्दीकी सभी बोलियोका पूर्वरूप नहीं मानते। (२) ये लोक रचनाएँ भाषाकी दृष्टिसे कुछ भिन्न है। (३) ये सन्दिग्ध हैं (४) परिनिष्ठित अपभ्रंशकी रचनाएँ जैन प्रभावापन्न हैं। लेकिन इन तर्कोंसे यह हिन्दीका आदिकाल सिद्ध नही होता, इसीसे सकोचके साथ ही वह परम्पराका सूत्र जोडनेके लिए इसे आदिकाल मान लेते है। इस सम्बन्धमें मेरी धारणा यह है कि १०वी सदीकी प्रथम

श्रेणीकी रचनाओमे ८वीकी अपभ्रंश रचनाओमे भाषाकी दृष्टिसे कोई भिन्नता नही, इसलिए उन्हें हिन्दीकालके खातेमें डालना ठीक नही। राहुलजी ७वी सदीसे हिन्दीकाल माननेके पक्षमें है। कवित्त लोक-भाषा साहित्य (रासो आदि) भी एक साहित्य-रूढ भाषाका ही साहित्य है। सच्ची लोक-भाषा विद्यापतिकी पदावलीमें है न कि कीर्तिलतामें। गुजराती और मराठी आदिकी अपेक्षा हिन्दीके विकासमे अपभ्रंशका योग सीधा नही है। परिनिष्ठित अपभ्रंशके बढावकी एक-मात्र यही व्याख्या हो सकती है कि उसपर प्रादेशिक बोलियोका प्रभाव पडने लगा था। इस प्रभाववाली रचनाएँ १२वी सदीके बादकी है। इसलिए इन्हें सन्धिकालकी रचना मान लेनेमे कोई हर्ज नही। विद्यापतिने जो 'अवहट्ठ' और 'देशी वचन'का उल्लेख किया है, वह एक बात नही। वे दो अलग-अलग स्थितियाँ हैं। स्वर्गीय गुलेरीजी ७वीसे १२वी सदीके मध्य तक अपभ्रंशकी प्रधानता मानते है। इसके बाद, अपभ्रंश पुरानी हिन्दीमें परिणत हो जाती हैं। उदाहरणके लिए इसमें देशीकी प्रधानता है। विभक्तियाँ खिर गयी है—(हिन्दी साहित्यका आदिकाल पृ० २०—२१)। इस प्रकार गुलेरीजी अपभ्रंशका युग १२वी सदीके मध्य तक मानते है, जब कि मैं उसे पूरी १२वी सदी तक माननेके पक्षमे हूँ। बाकी बातोमें कोई सैद्धान्तिक मतभेद नही। पुरानी विभक्तियोका खिरना, आधुनिक भाषाओके परसर्गोंके विकासकी आवश्यक भूमिका है। इसलिए १२वी सदीके बादके दो सौ वर्षको सन्धिकाल समझना चाहिए। क्योकि हिन्दीकी तरह दूसरी नव्य भारतीय आर्यभाषाएँ भी अपभ्रंशके इस उत्तराधिकार-को सँभालना चाहती है। सच पूछिए तो हिन्दीकी अपेक्षा इसकी योग्यता उनमे अधिक है। इसलिए इस कालको हिन्दी-काल मानना उसके क्षेत्रको सकुचित करना है।

इसी प्रकार अपभ्रंशको प्राकृतकी अन्तिम भूमिका कहना तो ठीक है, पर प्राकृत ही मान लेना ठीक नही। नव्य भारतीय आर्यभाषायोकी प्रवृत्तियो और कार्योंके समझनेके लिए उसे प्राकृतसे भिन्न भाषाके रूपमें देखना चाहिए, ध्वनियोको छोडकर रूप और व्याकरणिक दृष्टिसे उसमें प्राकृतोसे काफी भिन्नता है। वह और प्राकृत एक होती तो दण्डीसे लेकर हेमचन्द्रके युग तक आलोचकोको उसे अलग गिनानेकी आवश्यकता नही थी। इन तथ्योको ध्यानमें रखते हुए अधिक उपयुक्त यही है कि आ० आर्यभाषाओका समय ई० पू० ६ठी सदी तक माना जाये, उसके बाद

५वी सदी तक प्राकृत युग, ६ठी-से १२वी सदी तक अपभ्रंशकाल, उसके बाद दो सौ वर्ष सन्धिकाल, और तदनन्तर आधुनिक भाषाओका युग माना जाये। यह विभाजन बोल-चालके भाषा-रूपोको लक्ष्यमे रखकर किया गया है, वैसे इनको साहित्यिक रूप ग्रहण करनेमे दो-तीन सौ वर्ष लग ही जाते है। इसलिए इस कालकी भाषाको अन्तिम प्राकृत या पुरानी हिन्दी कहनेकी अपेक्षा अपभ्रंश कहना ही अधिक सगत है।

प्राकृत व्याकरण और अपभ्रंश

कह चुके हैं कि व्याकरणकी दृष्टिसे, अपभ्रंशका विश्लेषण प्राकृतोके सन्दर्भमें हुआ। यह स्वाभाविक भी था क्योकि वैयाकरण प्राय उसे प्राकृत ही समझते थे। यह भी स्मरणीय है कि जिस प्रकार प्राकृतोका व्याकरण सस्कृतके आधारपर लिखा जाता रहा है, उसी प्रकार अपभ्रंशका भी प्राकृतोके आधारपर। फलत. संस्कृतके व्याकरणकी तुलनामें प्राकृत व्याकरण अपेक्षाकृत सरल है और प्राकृतोकी तुलनामें अपभ्रंशका व्याकरण। ऐतिहासिक अनुक्रममें सबसे पहले प्राकृत वैयाकरण वररुचि हैं।[1] सर जॉर्ज ग्रियर्सनके अनुसार वररुचिके प्राकृत व्याकरणने प्राकृतोके दोनो सम्प्रदायोको प्रभावित किया। ये हैं, पूर्वी सम्प्रदाय और पश्चिमी सम्प्रदाय। पूर्वी सम्प्रदायमें वररुचि, मार्कण्डेय, पुरुषोत्तम, राम तर्कवागीश आते हैं। इसके विपरीत पश्चिमी सम्प्रदायमें आते हैं चण्ड, हेमचन्द्र, त्रिविक्रम और श्रुतसागर। पश्चिमी सम्प्रदायके अनुसार सबसे प्रमुख भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। दूसरी भाषाएँ हैं मागधी, पैशाची चूलिका, पैशाची और अपभ्रंश। जैन धर्मके ग्रन्थोमें प्रयुक्त भाषाको आ० हेमचन्द्र आर्यभाषा कहनेके पक्षमें हैं। प्राकृत वैयाकरणोने पाणिनिके आदर्शपर ही अपनी-अपनी प्राकृतोका व्याकरण लिखा। इस अनुकरणसे प्राकृतोके व्याकरणमें कुछ कमियाँ रह गयी। एक तो उनमें प्रातिशाख्योकी भाँति प्राकृतोपर

---

१ प्राकृत वैयाकरणोंका ऐतिहासिक अनुक्रम होगा—वररुचि . प्राकृत प्रकाश। चण्ड . प्राकृत लक्षण। हेमचन्द्र . सिद्धहेम शब्दानुशासन। त्रिविक्रम : व्याकरण। सिंहराज . प्राकृतरूपावतार। रघुनाथ शर्मा . प्राकृतानन्द। लक्ष्मीधर . षड्भाषा चन्द्रिका। मार्कण्डेय : प्राकृतसर्वस्व। शुभचन्द्र : शब्द चिन्तामणि। नरसिंह . प्राकृत शब्द दीपिका। अप्पयदीक्षित . समन्तभद्र . प्राकृत प्राकृतमणि। व्याकरण। इसके सिवा, रावण-द्वारा लिखित प्राकृत कामधेनु भी सुनी जाती है।

कोई आलोचनात्मक दस्तावेज़ नही है, दूसरे प्राकृतके व्याकरणकारोंने साहित्यमें व्याप्त भाषाका ही विचार किया है। फिर, इन वैयाकरणोंने प्राकृतोंका जो विचार किया है वह परम्परागत है। प्राकृतोंके भेद-प्रभेद स्वीकार करते हुए भी, उनके सामान्य नियमोंका ही ये प्रतिपादन करते है। कभी-कभी उनके निष्कर्ष एक-दूसरेके विरुद्ध भी पडते है।[1] उदाहरणके लिए, भरत मुनिके अनुसार कुछ स्थानीय प्राकृतोंको छोडकर शेषमे आदि, मध्य और संयुक्त व्यंजनमें न का 'ण' होता है। परन्तु आ० हेमचन्द्रका कहना कि देश्यभाषामे 'नकारादि' शब्द एकदम असम्भव है। वह लिखते है, "देश्याम सम्भवन्ति एवेति न निबद्धा" "यच्च वादौ इति सूत्रित-मस्माभि· तत्संस्कृतभवप्राकृतशब्दापेक्षया, न तु देश्यपेक्षया, इति सर्व-मवदातम्।" किन्तु त्रिविक्रम इसे नही मानते। उन्होने एक जगह धात्वा-देशमे 'णिरप्पइ' की जगह 'निरुप्पइ' लिखा है। इससे जान पडता है कि वह देशीमें 'न' को बनाये रखनेके पक्षमे थे। प्रारम्भिक प्राकृतोंमे आर-नाल, कमल, अनल आदि शब्दोंका अस्तित्व है। निश्चय ही ये शब्द आप प्राकृतसे, अथवा संस्कृत या ठेठ भाषासे लिये गये। प्राकृतके पश्चिमी सम्प्रदायने इस बारेमे निम्न व्यवस्था दी है—

१ जैन ग्रन्थोंके तद्भव शब्दमे आदि 'न' रह जाता है। पर मध्यम 'न' का 'ण' बन जाता है।
२ जैनेतरमे 'न' का 'ण' होता है।
३ जैकोबीका अनुमान था कि 'त्त' का 'न्न' होता है, जैसे दत्त, दित्त–दिन्न। 'र्ण'का 'ण्ण' होता है, जैसे कर्ण—कण्ण।
४ दूसरे वैयाकरण इसका समर्थन नही करते।
५ निष्कर्ष यह कि प्राकृतोंमे किसी नियमका विचार करते हुए देखना पडता है कि वह जैन प्राकृत है या जैनेतर। सम्बन्धित प्रयोग किस भाषा अथवा बोलीका है।

प्रकृतिः संस्कृतम्

प्राकृतोंके वैज्ञानिक अध्ययनमें इस सूत्रका बहुत महत्त्व है। प्रकृति, प्राकृत और संस्कृतका क्या अभिप्राय है और इनका आपसमे क्या सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध ज्ञानपर ही बहुत कुछ अपभ्रंशका वैज्ञानिक विश्लेषण निर्भर

---

[1] प्राकृत ग्रामर और त्रिभुवन, पी० एल० वैद्यकी भूमिका।

करता है। इसके दो कारण है—एक तो अपभ्रशका व्याकरण बादमें लिखा गया, दूसरे वह प्राकृत व्याकरणोकी परम्परामें है। यह सच है कि अपभ्रशकी साहित्यिकता जितना मनीषियोको आकृष्ट कर सकी उतना उसका भाषागत स्वरूप नही। सम्भव है कि अपभ्रशको प्राकृत समझनेकी धारणा ही इसके लिए उत्तरदायी हो। अथवा सरलताके कारण वह, व्याकरणिक-चिन्तनसे अछूती रह गयी हो। उत्तरोत्तर साहित्यनिष्ठ होने-पर, जब अपभ्रश रूढ होने लगी तब पण्डितोको उसके व्याकरणकी आवश्यकता प्रतीत हुई। चण्डने वैसे अपभ्रशका उल्लेख किया है, पर उसके प्रथम वैयाकरण आ० हेमचन्द्र हैं। उनके बाद त्रिविक्रम और क्रमदीश्वरने अपभ्रशको अपने व्याकरणोमें जगह दी। पर उन्होने हेमचन्द्र-को ही अपना आधार माना। हेमचन्द्रके शब्दानुशासनका सबसे विवादग्रस्त वाक्याश है "प्रकृति. सस्कृत तत्र भव, तत आगत वा प्राकृत।" थोडे-बहुत शाब्दिक हेर-फेरके साथ, दूसरे वैयाकरणोने इस आशयको दोहराया है।[1] प्राकृतोके जो भेद-प्रभेद किये गये हैं, उनसे भी प्राकृतका निश्चित अर्थ उपलब्ध नही होता। उनके विभाजनके मुख्य आधार दो हैं—ऐति-हासिक और प्रादेशिक। एक ओर, व्यावहारिक आधार भी हो सकता है। भरत मुनिने अपने नाट्यशास्त्रमें इसका सकेत दिया है। उन्हीके अनुकरणपर मार्कण्डेय प्राकृतोके चार भेद करते हैं—भाषा, विभाषा, अपभ्रश और पैशाच। भाषा—जैसे महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, आवन्ती और मागधी। विभाषा—जैसे शकारी, चाण्डाली, शाबरी, आभीरी, शाकरी आदि सत्ताईस भाषाएँ। अपभ्रशके वह तीन भेद करते हैं—नागर, व्राचड और उपनागर। वह ग्यारह प्रकारकी पैशाच भाषाओको 'नागर' में गिनाते हैं। राम तर्कवागीश भी प्राय यही मानते हैं। उक्त विभाजनका मुख्य स्रोत क्या है, बताना कठिन है। मोटे तौरपर, लगता यही है कि मार्कण्डेयके भाषा शब्दका अभिप्राय साहित्यिक प्राकृतोसे है और विभाषाका बोलियोसे। वह आभीरीको भी बोलियोमें गिनाते हैं, जो

---

१. प्रकृति. सस्कृत तत्र भव प्राकृतमुच्यते। (मार्कण्डेय)
प्रकृते. आगत प्राकृतम्। प्रकृति सस्कृतम्। (धनिक, दशरूपक टीका)
प्रकृते. सस्कृतात् आगत प्राकृतम्। (वाग्भटालकारकी टीका)
प्रकृति. सस्कृत तत्र भवत्वात् प्राकृतम्। (सिंहदेव गणी, प्राकृत चन्द्रिका)
प्रकृते सस्कृतायास्तु विकृति. प्राकृती मता। (प्राकृत शब्द प्रदीपिका)
'प्राकृतस्य तु सर्वमेव सस्कृतयोनि.। (कर्पूरमजरी बम्बई सस्करण)

भरत मुनिके समय एक बोली थी, और जिसका साहित्यिक रूप अपभ्रंश कहलाया। लगता है मार्कण्डेयने अपने युगकी भाषाओंका विवरण न देकर, भाषाओंका परम्परागत लेखा-जोखा दे दिया है। अत प्रस्तुत विवरण हमे किसी भी निष्कर्षपर नही पहुँचाता, सिवा इसके कि मार्कण्डेय अपभ्रंशको प्राकृतसे अलग मानते है। साहित्यशास्त्रियोने तो बहुत पहले अपभ्रंश साहित्यका पृथक् विचार प्रारम्भ कर दिया था। प्राकृत शब्दशास्त्री भी, प्राकृतमे रखते हुए, उसका स्वतन्त्र निरूपण करते रहे। फिर भी प्राकृतसे जिन भाषाओंका बोध होता है, उनके आधारपर प्राकृतका अर्थ निश्चित नही किया जा सकता।

प्राकृतका अर्थ

साधारणतया प्राकृतका अर्थ है स्वाभाविक या अकृत्रिम। भाषाके सन्दर्भमे प्राकृतका समान अर्थ है सस्कृतसे भिन्न। प्राकृतसे पुराना शब्द भाषा है। प्राकृत शब्द रूढ़ रहा जबकि भाषा शब्द गतिशील। वैयाकरणोंने प्रारम्भमें भाषाके दो भेद स्वीकार किये हैं—वैदिक भाषा और लौकिक भाषा यानी सस्कृत। ये दोनो ही भाषा कहलायी, क्योकि ये पढी-लिखी जाती थी। सस्कृत वस्तुत प्राकृतोंके बीच विचार-सम्प्रेषणीयताकी सामान्य माध्यम थी। 'प्राकृत' प्रारम्भमें बोल-चालकी बोलियोंके लिए प्रयुक्त होता था, बादमें साहित्यिक भाषाओंके अर्थमें रूढ हो गया। ये भाषाएँ निश्चय ही सस्कृतसे प्रभावित होते हुए भी उससे भिन्न हैं। सच पूछिए तो वैदिक सस्कृत, आर्ष-सस्कृत ही थी। यह सोचना अशत ही ठीक माना जा सकता है कि वैदिक भाषाके रूढ होनेपर सस्कृत अस्तित्वमें आयी। क्योकि सस्कृत पुरानी भाषाकी प्रतिक्रिया-मात्र नही थी। वह नयी आवश्यकताओ और सम्भावनाओंकी माध्यम बनकर आयी। यह नयी भाषा कुछ निश्चित सस्कारोंको लेकर आयी। पुरानीकी तुलनामे नयी एकदम सँवरी और कसी हुई थी। इसीकी तुलनामें प्राकृत बोलियाँ अपनी उच्चारण-सीमाओ और प्रादेशिकताने घिरी हुई थी। उनमें चाहे एकरूपता न हो, पर उन्हें एकदम सस्कारविहीन नहीं कहा जा सकता। क्योकि भाषा, व्यक्तिगत नही सामाजिक वस्तु है। उसकी सामाजिकता किसी सामान्य प्रक्रियापर ही कायम रह सकती है, यही उसके सस्कार है। उसे व्यापक और स्थायित्व देनेके लिए जब उसका सस्कार किया गया तो सस्कृतके आदर्शपर। प्राकृतका व्याकरण सस्कृत व्याकरणके आधारपर ही

सम्भव था। हुआ भी ऐसा ही। आ० हेमचन्द्रने जो इस सिद्धान्तके प्रथम प्रतिपादक हैं, इसीलिए 'प्रकृतिः संस्कृतम्' कहा है न कि 'संस्कृतं प्रकृतिः'। इसका अभिप्राय है कि प्रकृति-संस्कृत ही होती है। वस्तुतः सभी भारतीय आर्यभाषाओंकी प्रकृति एक है। उनके नामधातुओं और उच्चारणकी स्थितिमें बहुत कुछ समानता है। संस्कृत और प्राकृतमें जो भेद है वह प्रकृतिका नहीं, प्रत्ययों अर्थात् व्याकरणका है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि प्राकृतोंकी जिस प्रकृतिसे प्रत्यय विधान किया जाता है वह संस्कृतकी साध्यमाना प्रकृतिसे बहुत प्रभावित है। प्राकृतोंके विश्लेषणमें संस्कृतकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। प्राकृतों ही नहीं, वरन् आधुनिक हिन्दीकी प्रकृतिपर संस्कृत विभक्तियोंका प्रभाव अवशिष्ट[1] है। इसी प्रभावापन्नताको बतानेके लिए 'प्रकृति संस्कृतम्' के सिद्धान्तका प्रतिपादन आ० हेमचन्द्रने किया। इसका दूसरा अर्थ यह भी सम्भव है कि प्रकृति, संस्कृत यानी निष्पन्न होती है। व्याकरणमें इसीसे प्रकृतिके दो भेद हैं—एक सिद्ध और दूसरी साध्यमान। ऐतिहासिक अनुक्रममें प्राकृतोंके व्याकरण संस्कृतके बाद लिये गये। 'प्रकृति संस्कृत'को इसी सन्दर्भके प्रकाशमें देखना चाहिए। हेमचन्द्र कहते हैं—

> "संस्कृतानन्तर प्राकृतमधिक्रियते।"
> संस्कृतके बाद, प्राकृतका अधिकार प्रारम्भ होता है।
> संस्कृतानन्तरं प्राकृतस्यानुशासनम्।
> सिद्धसाध्यमान-भेदसंस्कृतयोनेः इति तस्यैव लक्षण न देशस्य इति ज्ञापनार्थम्।
> संस्कृतके बाद प्राकृतका अनुशासन है। यहाँ उस प्राकृतका विश्लेषण है जो सिद्ध-साध्यमान भेदोंसे युक्त-संस्कृतसे युक्त है, देशीका नहीं। निष्कर्ष यह कि—

१ संस्कृतके बाद प्राकृतका अनुशासन ही क्रमप्राप्त है।

२. उसी प्राकृतका जो अपनी सिद्ध और साध्यमान प्रकृतिके कारण संस्कृतयोनिजा है।

३ संज्ञा कारक आदि तत्त्व प्राकृतमें संस्कृतके समान हैं।

---

१. आकारान्त पुल्लिंगके एकवचन और बहुवचनमें क्रमशः जो ए और ओ स्त्रीलिंगमें भी ओं आदि विकारी रूप हैं, इन विकारी रूपोंमें षष्ठी विभक्तिका प्रभाव माना जाता है।

४ लक्षण-सिद्ध प्राकृत और देशी एक बात नही।

५ प्राकृत परम्परामें होते हुए भी हेमचन्द्र अपभ्रशका अलग विचार करते है।

हेमचन्द्र और त्रिविक्रम

इस बारेमें दो मत होनेका प्रश्न नही उठता कि हेमचन्द्रने अपभ्रशका व्याकरण लिखकर बहुत बडा ऐतिहासिक काम किया। आधुनिक युगमें अपभ्रशको जो खोज-खबर हो सकी, वह भी इसीलिए। उदाहरणके समूचे अवतरण देकर, उन्होने बहुत-सा लुप्त साहित्य भी बचा लिया। सक्षिप्त होते हुए भी व्याकरणके सभी अगोका समावेश उसमें है। सर्वप्रथम स्वर-व्यजनोका विचार है, फिर विभक्तियो और क्रियापदोका। उसके अनन्तर धात्वादेश, अव्यय, क्रिया विशेषण, स्वार्थिक प्रत्यय, भाववाचक सज्ञा, क्रियार्थक क्रिया, पूर्वकालिक क्रिया और लिगानुशासनका। ग्रन्थकी परिसमाप्ति इस निर्देशके साथ होती है कि शेष प्रक्रियामें किसका अनुकरण किया जाये। जैसा कि कहा जा चुका है कि त्रिविक्रमने अपने व्याकरणकी रचना हेमचन्द्रके अनुसार की है। उसमें मौलिकता यद्यपि नही है, परन्तु नये तथ्योका सग्रह अवश्य है। त्रिविक्रमके समूचे व्याकरणको एक बार देख जाइए, आपको लगेगा कि त्रिविक्रमकी दिलचस्पी व्याकरण देनेमें उतनी नही जितनी नये शब्दोंके सग्रहमें। मेरी समझसे अकेला यही काम त्रिविक्रम-को ऐतिहासिक महत्त्व प्रदान करता है। हेमचन्द्रने सस्कृतके बाद प्राकृत और तब अपभ्रशकी चर्चा की, त्रिविक्रम सीधे प्राकृतोसे अपने व्याकरणका श्रीगणेश करते हैं। पहले दो अध्यायो और तीसरे अध्यायके प्रथम चरणमें प्राकृत महाराष्ट्रीका व्याकरण है। दूसरे चरणमें शौरसेनी, मागधी, चूलिका और पैशाचीका। अन्तिम दो चरणोमें अपभ्रशका। तीसरे चरणमें स्वर-व्यजन परिवर्तन एव अन्य प्रत्ययोका विधान है। दूसरे चरणमें सज्ञा और धातुरूपोकी चर्चा है। अन्तमें 'आडगास्तु देश्या' कहकर वह देशी शब्दोकी लम्बी-चौडी सूची देते है। इसमें बहुत-से शब्द ऐसे है, जो हेमचन्द्रकी देशी नाममालामें भी नही मिलते। अपभ्रश ही नही, दूसरी प्राकृतोके शब्दोकी भी सूची त्रिविक्रमने दी है। उन्होने यह तो नही बताया कि किस स्तोत्रसे इन शब्दोका सग्रह उन्होने किया पर ऐतिहासिक तुलनाके लिए इसका महत्त्व अत्यधिक है। उन्होने केवल महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रशके शब्दोका सग्रह दिया है, दूसरी प्राकृतोके शब्दोका

नही। देशी शब्दोका संग्रह कुल छह शीर्षकोंके अन्तर्गत है। इनमें प्रथम पाँच महाराष्ट्री प्राकृतके हैं और अन्तिम अपभ्रंशका। इस सन्दर्भमे यह भी स्मरणीय है कि हेमचन्द्रका अनुकरण करते हुए भी, त्रिविक्रम कुछ बातोमे मौलिक थे। उदाहरणके लिए आ० हेमचन्द्र पहले सस्कृतको आदर्श मानते हैं, तब लोकको अर्थात् प्राकृतमें जो बात सस्कृतसे सिद्ध न हो उसे लोकसे जानना चाहिए। इसके विपरीत त्रिविक्रम अपने व्याकरणका उद्घाटन करते हैं 'सिद्धिर्लोकाच्च' से अर्थात् प्राकृत शब्दोकी सिद्धि लोकसे होती है। जो लोकसे समझमें न आये, उसे दूसरी भाषाके व्याकरणसे समझना चाहिए—'अनुक्तमन्यशब्दानुशासनवत्'। पर अपने इस मौलिक दृष्टिकोणके बाद भी, वह प्रयासपूर्वक हेमचन्द्रसे सामजस्य बनाये रखते हैं। वे शब्दको साहित्यका प्राण मानते हैं[1]। जो उच्चारणमें सरल और अर्थमें महान् हो ऐसा शब्द प्राकृत ही हो सकता है। यह तीन प्रकारके हैं—तत्सम, तद्भव और देशज। उसमें तत्समका नियमन सस्कृतके लक्षण-से होगा और तद्भव यानी साहित्यिक प्राकृतका सिद्ध और साध्यमान सस्कृत-प्रकृतिसे।[1] बाकी रहता है देश्य और आर्ष, सो दोनो ही बहुल हैं— एक स्वतन्त्र होनेसे और दूसरा रूढ होनेसे। इसलिए उनका लक्षण देना यहाँ ठीक नहीं। वह तो उस सम्प्रदायसे जाना जा सकता है जिसका वह शब्द है। इसलिए मैं यहाँ प्राकृत (प्रकृति सस्कृत तद्भवं तत आगत वा प्राकृत) के लक्ष-लक्षणोंका विचार करता हूँ। इससे स्पष्ट है कि त्रिविक्रमने देशी शब्दोको व्याकरणकी तराज़ूपर नही तोला ? यह स्वाभाविक भी था। यह एक ऐसी विवशता है जो हर वैयाकरणके साथ रही है। आकृतिगण, निपात, आदेश, धात्वादेश आदि व्याकरणिक विधियाँ इसी तथ्यको प्रमाणित करती हैं। त्रिविक्रमने विभिन्न आधारोंपर देशी शब्दोका सग्रह किया है। 'पुन्नाय्याद्या' में वे ऐसे शब्दोको रखते हैं जिनके स्वरोको व्याकरणके

---

१ 'अनल्पार्थ सुखोच्चार शब्द. साहित्यजीवितम्।
स च प्राकृतमेवेति मत सत्रानुवर्तितम्॥
प्राकृत तत्सम देश्यं तद्भव चेत्यतस्त्रिधा।
तत्सम संस्कृतसम ज्ञेय सस्कृतलक्षणम्॥
देश्यमार्षं च रूढत्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च भूयसा।
प्रकृते· सस्कृतात् साध्यमानाच्च सिद्धाच्च यद्भवेत्॥
प्राकृतस्यास्य लक्ष्यानुरोधि लक्ष्म प्रचक्ष्महे।'

नियमोंमें बाँधना कठिन है।[1] इन्हें त्रिविक्रम निपात मानते हैं। इस शीर्षकमें कुल २१ शब्द हैं।[2] गौणाद्या. सूत्रके अन्तर्गत ऐसे शब्दोंको रखा गया है जिनकी प्रकृति प्रत्ययादिका विश्लेषण व्याकरणसे सम्भव नहीं।[3] कुल मिलाकर १०८ शब्द इसमें हैं।[4] गहिआद्या. शीर्षकमें वे शब्द आते हैं जिनका अर्थ और स्वरूप, निर्वचनके आधारपर कल्पित कर लिया गया है।[5] इस तरहके १२२ शब्दोंकी सूची, उक्त शीर्षकमें है।[6] अपुण्णागा क्तेनके अन्तर्गत उन शब्दोंको रखा गया है जो 'क्त' प्रत्ययके साथ निपात मान लिये गये हैं। अपुण्णादय शब्दा क्तप्रत्ययेन सह निपात्यन्ते। ऐसे कुल २५४ शब्द संग्रहमें हैं।[7] वरइत्तगा स्त्रनाद्यै में वे शब्द संग्रहीत हैं जो प्रत्ययोंके साथ निपात मान लिये गये हैं।[8] ऐसे शब्दोंकी कुल संख्या १३४ हैं।[9] अपभ्रंशमें झाडगाद्या. सूत्रमें उन शब्दोंको लिया गया है। जो देश-विदेशमें व्यवहारमें आते हैं और जो शब्दशास्त्रीकी पहुँचके बाहर हैं। ये या तो प्रसिद्ध हैं अथवा स्वयं निष्पन्न[10]। इसमें सबसे अधिक शब्दोंकी (८५०) संख्या है[11]। 'इस प्रकार महाराष्ट्री प्राकृतके ६३२ और अपभ्रंशके ८५०, दोनोंको मिलाकर कुल १५०० के आस-पास शब्द हैं। त्रिविक्रमका व्याकरण, शब्दशासन और शब्दसंग्रहका संगम ग्रन्थ हो गया है। हेमचन्द्र और दूसरे कोशकारों-द्वारा संग्रहीत देशी शब्दोंसे यदि इनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाये तो कई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकल

---

१ वा पुआयाद्या ।६।१।२।१०६, पुआई इत्यादय. शब्दा· स्वराद्यादेश-विशेपिता वा निपात्यन्ते, देखिए प्रकीर्णक क्र० स० ६ व।

२ शब्द सूचीके लिए देखिए प्रकीर्णक क्र० स० ६ व।

३ गौणादय शब्दा अनुक्तप्रकृतिप्रत्ययलोपागमवर्णविकाराः बहुल निपात्यन्ते १।१।३।१०५।

४ सूचीके लिए देखिए प्रकीर्णक क्र० स० ६ स।

५ गहिआद्या इत्यादय शब्दा निर्वचनागोचरा. निपात्यन्ते १।४।१२१।

६ शब्दोंके लिए देखिए प्रकीर्णक क्र० स० ६ क।

७ देखिए प्रकीर्णक ६ ख।

८ वरइत्त इत्यादय. तृनादिप्रत्ययै सहिता. स्वराद्यादेश-विशेपता बहुल निपात्यन्ते।

९ सूचीके लिए देखिए प्रकीर्णक क्र० स० ६ ग।

१० झाडादय शब्दा देश्या देशविदेशव्यवहारादुपलभ्यमाना सिद्धा निष्पन्ना· वा वेदितव्या ३।४।७२,

११ सूचीके लिए देखिए प्रकीर्णक क्र० स० ६ अ।

सकते हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि महाराष्ट्री प्राकृतसे अपभ्रंशके शब्दोकी सख्या अधिक थी। शब्दोके तुलनात्मक अध्ययनकी दिशामें अच्छी सामग्री प्रस्तुत कृतिमें है, इसमे सन्देह नही।

आचार्य हेमचन्द्रका अपभ्रंश व्याकरण

अपभ्रशमें निम्न स्वर-व्यञ्जन प्रयुक्त हैं—

स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ऍ ए ओॅ ओ।

व्यजन—क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ ण त थ द घ प फ ब भ म य र ल व स ह।

स्वर विकार—ऋ लृ, ऐ औके स्थानमें दूसरे स्वर आ जाते है। जैसे लृ = इ या इलि। ऋ = अ, इ, उ, आ, और ए, उदाहरण क्रमश तणु, तिणु, पुट्ठु, काच्चु और गेह। ऐ = ऍ, ए या अए, उदाहरण अवरेॅक, देव और दइअ। औ = ओॅ, ओ या अउ, उदाहरण जोव्वण, गोरी और गउरी। पदके अन्तमें रहनेपर उ, हु, हिं और ह का लघु उच्चारण होता है। (इस नियमका सम्बन्ध छन्दसे है, इससे स्पष्ट है कि यह काव्य-भाषाकी व्याख्या की जा रही है)।

स्वर विनिमय—स्वर आपसमें बदल जाते है। जैसे अ = अ, सीता = सीय, आ = ए, मात्रा = मेत्त, ई = अ हरीतिकी, हरदह, आ, कश्मीर = कम्हार, उ = अ, मुकुट = मउड, इ – पुरुष = पुरिस, उ = ए – नूपुर = नेउर, ओ – मूल्य = मोल्ल, ए = इ, ई – लेखा = लिह, लीह।

अनुस्वार—युक्त ह्रस्व स्वरके आगे यदि ष स श ष या ह हो तो ह्रस्व स्वरको दीर्घ स्वर हो जाता है, विंशति = वीस, सिंह = सीह। साधारण नियम यह है कि आदि व्यजनमें परिवर्तन नही होता, पर इसके अपवाद भी हैं, धृति = दिहि, दुहिता = धीय, यमुना = जमुना। मध्यग = क, ख, त, थ, प और फ के स्थानमें क्रमसे ग, घ, द, ध, व और भ होते हैं। मध्यग क, ग, च, ज, त, द, प और व को लोप होता है (यह महाराष्ट्री प्राकृतकी विशेषता है)। स्वरोके मध्यवर्ती ख, घ, थ, फ और भको 'हा' होता है।

कुछ व्यजनोका स्फुट विनिमय होता है जैसे म्ह = म्म, गिम्हो = गिम्मो, ट = ड – तट = तड, ठ = ढ – मठ = मढ इत्यादि।

महाप्राण भी हो सकता है क्रीड = खेल, कर्पर = खप्पर, परसु =

फरसु। दन्त्य व्यजनोको मूर्धन्य बना देते है, पताका = पडाय, पतित = पडिउ, ग्रन्थिपाल = गठिपाल, दहति = डहइ, दोला = डोला।

सयुक्त व्यजनमें परिवर्तनके इतने नियम है। सयुक्त व्यजनमे दूसरा व्यजन य र ल व होनेपर उसके लोपका नियम है, व्यापार=वावारउ, व्यामोह = वामोह, क्रीडा = कील, स्वर = सर। क्षका स्थान कई व्यजन ले लेते है, क्षार = खार, क्षण = छण, कटाक्ष = कडक्ख। त्य – अत्यत = अच्चत। त्व – मिथ्यात्व = मिच्छत्त। द्य = अज्जु। सावर्ण्य भावका नियम व्यापक है, कल्य = कल्ल, काव्य = कव्व, सर्व = सव्व, कन्या = कण्ण।

अपभ्रशमें सन्धिका कोई नियम नहीं है, उद्वृत्त स्वरकी भी सन्धि कर देनेकी प्रथा है। जैसे अधकार = अधआर – अधार।

रूप विचार—पाली प्राकृतोकी अपेक्षा अपभ्रशमे शब्द-रूप तथा क्रिया-रूप अधिक सरल है। द्विवचन और चतुर्थी विभक्तिका लोप प्राकृत युगमें हो चुका था। निय प्राकृतके प्रसगमें इसके कारणका निर्देश किया जा चुका है। अपभ्रशमे प्रथमा और द्वितीया विभक्तियोके रूपोमे अभेद होने लगता है। निय प्राकृतमें भी हमने यह बात लक्ष्य की थी। षष्ठीका भी इसमें यही हाल हुआ। निर्विभक्तिक पदसे ही उक्त तीन विभक्तियोका बोध हो सकता है। दूसरी प्रवृत्ति है हलन्त इकारान्त और उकारान्त शब्दोको अकारान्त बनानेकी। जैसे बाहु, स्वसृ, भ्रातृ, मनस्, जगत् और युवन्के क्रमश बाह, सस, भायर, मन, जग, और जुव्वाण शब्द होगे। इससे स्पष्ट है कि सस्कृत शब्द अपभ्रश प्रकृतिमें ढलकर ही अपभ्र श प्रत्ययोकी सहायतासे पद बनते हैं। इस प्रक्रियामे ध्वनि-परिवर्तनका प्रभाव स्पष्ट है। इन शब्दोको अगरूप (आवलिक फार्म) नही कहा जा सकता क्योकि प्रत्यय विशिष्ट शब्दसे यह प्रकृति नही बनायी गयी। सीधे शब्दसे प्रत्यय लगते हैं, परन्तु आ० भारतीय भाषाओमे मूल शब्दमे प्रत्यय न लगाकर उसके विकसित रूपमे लगाये जाते है, केवल बँगला इसका अपवाद है। मराठीमें इसे सामान्य रूप कहते है, हिन्दीमें अगरूप या विकारीरूप प्रत्ययोमें भी सरलता है।

नामकी विभक्तियोके कुल प्रत्यय इतने हैं

अकारान्त	पुलिंग	अकारान्त	नपुंसकलिग
१ ० उ ओ	०	१. ०	० इ
२ ,,	,,	२ ,,	,,

३ एएं एण	हिं एहिं	३. शेष पुंलिंग अकारान्त-की तरह।
४ हे हु	हु	४.
५. ० सु हो स्सु	० हं	५.
६ उ ए	हिं	६.

इकारान्त पुंलिंग		इकारान्त स्त्रीलिंग	
१ ०	०	१ ०	० उ ओ
२. ०	०	२ ०	,,
३. ए ण	हिं	३. ए	हिं
४. हे	हु	४. हे	हु
५ ०	० ह हु	५. हे	हु
६ हि	हु	६ हि	हिं

विशेष रूपसे ये तीन बातें लक्ष्य करनेकी है—

१. शब्द रूपोकी कमी है। इसके दो कारण है, एक तो प्रकृतिको समान बनानेकी प्रवृत्ति है और इसके विभक्ति चिह्नोका प्राय. लोप हो जाता है। यह प्रक्रिया प्राकृतोमें ही प्रारम्भ हो चुकी थी।

२ प्रत्ययोकी सरलता और समानता। अधिकतर 'ह' में स्वर और अनुस्वार जोडकर प्रत्ययका काम चलाया जाता है।

३ विभक्ति और वचनोकी कमी। इससे सरलता बढी, पर आगे चलकर विभक्तियोके निर्णयमे सन्देह भी होने लगा, अवहट्ठ कालमें यह प्रवृत्ति और भी बढी होगी। विभक्तिके लिए, कुछ निश्चित शब्दोका भी प्रयोग होता है। ये शब्द प्राचीन विभक्तिके साथ आते हैं। जैसे सम्बन्ध (षष्ठी) के लिए केर और तण, एव सम्प्रदान (चतुर्थी) के लिए केहि केसि, रेहि रेसि तणेण। परसर्गोके विकासकी, इस प्रकार ये शब्दप्रत्यय भूमिका प्रस्तुत करते है।

सर्वनाम—सर्वनामोंके रूपमें भी काफी परिवर्तन हुआ।

उत्तम पुरुष

	एकवचन	वहुवचन
१	हउं	अम्हे अम्हइ
२	मइं	,,
३.	,,	अम्हेंहि

४. मह्व मज्झु	अम्हह्
५. ,,	,,
६ मइ	अम्हासु

मध्यम पुरुष

१ तुहु	तुम्ह तुम्हइ
२ पइ तइ	,, ,,
३ ,, ,,	तुम्हेहिं
४ तउ तुज्झ तुध्र	तुम्हह
५ ,,	,,
६ पइ तइ	तुम्हासु

अन्य पुरुष

१ सव्वु सव्वो सव्व	सव्वे सव्वा सव्व
२ ,,	सव्व सव्वा
३ सव्वेंण सव्वें	सव्वेंहि सव्वेंसि
४ सव्वहा सव्वाहा	सव्वहु सव्वाहु
५ सव्वसु सव्वस्सु सव्वहो	सव्वह सव्व
६ सव्वहिं	सव्वहिं

एतद् = यहके रूप–

	पुलिंग	स्त्रीलिंग	नपुसकलिंग
१.	एहो–एइ	एह–एईउ एहाउ	एहु–एहइ एहाइ एईइ
२	,, ,,	,, ,,	,, ,,

शेप रूप सव्वकी तरह समझना चाहिए।

वह (अदस्) का कर्त्ता और कर्मके वचनमें 'ओह' होता है।

यत् (जो) सम्बन्धी सर्वनाम

१	जु जो	जो	जा	जाउ	ज धु	जाइ
२	ज	जे	ज	जाउ	ज जु	जाइ
३	जेयो,जि,ज	जेंहि	जाइ, जाए, जेंहि जिए			
४	जउ, जइ	जहु	जाइ	जाहि		
५	जासु जसु जस्स जाह जहो जहे	जाह	जाहि	जाहि		

६. जहि जम्मि	जहिं	जाहि	जाहिं		

तद् (वह) निर्देशके अर्थमे

१ सो, सु, स	ते	सा, स	ताउ ति	ततु	ताइ
२ त	ते	त	ताउ	त, अ	ताइ
३. तेण तइ	तेहिं ताह	तइ तिए			
			तेहि		
ते ति	तेहिं	ताए तए			
		तए			
४. तहे तउ	तहु	ताह तहे	तहिं		
५. तासु, तहो तहि		तिह ताहि			
तसु	तहु	तहे	ताहि		
६. तहिं ताह	तहि	तहि तहिं	ताहिं		

प्रश्नवाचक किम्के रूप—

पुंलिंग		स्त्रीलिंग		नपुसकलिंग	
एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
१. को कु	क	का का	कायउ काउ	किं	काइ
२ ,,	,,	,,	,,	,,	,,
३ केण कइ	केहिं	काह काए	केहि काहि		
४. कउ किहे	कहु	काहे	काहिं		
कहा					
५. कहो कहु कस्स					
कासु	काह	कहि काहि	काहि		
६ कहि कहिं	कहिं	काहिं	काहिं		

इदम्–(यह) को आय होता है। इसके रूप सव्वकी तरह चलते हैं।

अव्यय–एम्व = ऐसा ही, पर = पर, समाणु = समान, ध्रुव = निश्चय ही, म = नही, किर = प्रसिद्धिके अर्थमें, अहवइ = अथवा, दिवे = दिवा, सहु = साथ, नाहिं = नही, पच्छइ = वादमे, एवमेव = ऐसे ही, जि = हि, एम्वहि = इस समय, पच्चलिउ = वल्कि, उत्तहे = यहाँसे, वुन्न = खिन्न, वुत्त = उक्त, विच्च = मार्ग, अनु = अन्यथा।

विशेष कार्य—रेफका लोप होता है जैसे प्रिउ = पिउ, रेफका आगम होता है व्यासु = व्रासु । द को इ होता है, जैसे—आपद = आवइ, 'के लिए' के अर्थमें = केहिं तेहिं, रेसि, और रेसिं आते हैं । समानताके अर्थमें-न, नउ, नाइ, नावइ,जणि, जणुका प्रयोग होता है ।

सर्वनाम विशेषण—जितना = जेवडु, जेतलु । कितना = केवडु, केत्तलु । उतना = तेवडु, तेत्तलु । इतना = एवडु, एत्तलु ।

गुणवाचक—जैसा = जइसो, जेहु, तैसा = तइसो, तेहु, कैसा = कइसो, केहु । ऐसा = अइसो, एहु ।

सम्बन्धवाचक—इस जैसा = एरिस, तुम्हारे जैसा = तुम्हारिस, हमारा = हम्हारिस, हमारा = हम्हार ।

स्थानवाचक—यहाँ = एत्थु, जहाँ = जेत्थु जत्तु, तहाँ = तेत्थु तेत्तु, यहाँ वहाँ = एत्तहे तेत्तहे, जहिं कहिं तहिं रूप भी हो सकते हैं ।

समयवाचक—जबतक = जामहिं, जाम, जाउं, तब तक = तामहिं, ताम, ताउं, तबसे = तो ।

रीतिवाचक—जिस प्रकार = जेम, जिम, जिह, जिध, किस प्रकार = केम, किम, किह, किध, तिस प्रकार = तेम, तिम, तिह, तिध ।

भाववाचक संज्ञामें 'प्पणु' और 'तणु' प्रत्यय आते हैं[1], स्त्रीलिंग शब्दोंमें 'डी' और 'डा' आता है । इनको आपसमें मिलाकर भी लगा सकते हैं – क्रम यह होगा – अ, डड, डुल्ला, डड, डड + अ, गुल्ल + अ, और डुल्ल + डड । अपभ्रंशमें शब्दोंके लिंगके सम्बन्धमें कोई अनुशासन नहीं है । नपुंसकलिंग शब्दमें स्त्रीलिंग हो सकता है और स्त्रीलिंग शब्दमें पुंलिंग । शेषमें भी यही प्रक्रिया हो सकती है ।

आख्यात—हेमचन्द्रने क्रियाका जो विचार किया है उसमें वह संस्कृत

---

१ डॉ० जोशीने हिन्दी-भाववाचक 'पन'का विकास जो वैदिक 'त्वन्' प्राकृत 'तण'से माना है, (प्राकृत भाषाका व्याकरण पृ० ६) वह ठीक नहीं । प्रश्न है 'प' ध्वनि बीचमें कैसे आ घुसी । इसका सम्बन्ध सीधा अपभ्रंशके 'प्पण' से (त्वतलो प्पण सिद्ध हेम शब्दानुशासन ४।४३७) है । प्पण लगकर, अपभ्रंशमें रूप बनता है वड्डप्पणु । हिन्दीमें वैसे संयुक्त व्यंजन नहीं रहता और 'ण' का न होता है, अत हुआ 'वड़प्पन' । यह वैकल्पिक है अपभ्रंशमें । दूसरा रूप होगा 'वहुत्तणहो तणेण' । हिन्दीने सीधे एक 'प्पणु' को अपना लिया । वड़प्पनमें 'प्पन' का वड़प्पन सुरक्षित है । परम्पराका सम्मान । पर लड़कपन छुटपन आदिमें 'पन' ही रह गया ।

धातुओको पहले अपभ्रशकी प्रकृतिमे ढाल लेते हैं। प्राकृत क्रियाओके सम्बन्धमें भी यह सिद्धान्त लागू है। इस दृष्टिसे पाँच प्रकारकी धातुओका प्रयोग इस भाषामे मिलता है।

१. मूल धातु—जिन्हें हम देशज कह सकते हैं। आकर भाषा (सस्कृत) से जिनका कोई सम्बन्ध नही।
२ सप्रत्यय धातु—वे धातुएँ हैं, जो प्रत्ययसहित संस्कृत क्रियासे ली गयी है।
३ विकरण धातु—जो साम्य मान सस्कृत धातुसे सम्बन्व रखती हैं।
४ नामधातु—
५ ध्वनि धातु—अनुकरणमूलक।

इनमें २ और ३ संख्याकी धातुओकी सख्या अधिक है। नामकी तरह धातुमें भी सस्कृत हलन्त धातुओको अकारान्त बना लिया जाता है। अपभ्रश साहित्यमें अनुकरणमूलक धातुओका सबसे अधिक प्रयोग है।

क्रियारूप—

सामान्य वर्तमान काल

	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	करमि करउ	करहु करिमु
म० पु०	करहि करसि	करहु करह
अ० पु०	करइ, करेइ	करहिं करन्ति

सामान्य भविष्य

उ० पु०	करेसमि करीहिमी	करिसु करेसहुं
म० पु०	करेसहि करेससि	करेसहु करेसहो
अ० पु०	करेसइ, करेहइ	करेसहिं करेहिंति

आज्ञा मध्यम पुरुप—इ, उ, और ए प्रत्यय लगते हैं।
जैसे—सुमरि, सुमरु, सुमरे
शेपमें वर्तमान कालके ही प्रत्यय लगते हैं।

विधिके अर्थमें—

उ० पु०	करिज्जउ	किज्जउं
म० पु०	करिज्जहि करिज्जइ	करिज्जहु
अ० पु०	करिज्जउ	करिज्जनु करिज्जहु

सामान्य भूतमें भूत कृदन्तका ही प्रयोग होता है, जैसे—गय, किय, पइट्ठ ।

कर्मणि प्रयोगके लिए—'इज्ज' या 'इय' प्रत्यय आता है । कहिज्जइ, किट्टियइ । कृदन्तमें परस्मैपदी प्रत्यय आते हैं—करत, पइसत, इत्यादि । परन्तु आत्मनेपदी प्रत्यय भी आ सकते हैं । जैसे—पविस्माण । विधिके लिए—इएव्वउ, एवा आते हैं ।

पूर्वकालिक क्रियाके लिए आठ प्रत्यय आते हैं—इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एवि, एविणु ।

क्रियार्थक क्रियामे—एव, अण, अणह, अणहिं, एप्पि, एप्पिणु, एवि और एविणु प्रत्यय आते हैं । शील, धर्म या साध्वर्थ बतानेके लिए 'अणअ' प्रत्यय आता है—हस + अणअ = हसणउ = हसनशील । धातुओको कुछ विशेष आदेश होते हैं । क्रिय = कीसु, भू = हुच्च, ब्रु = बुव, व्रज = वुज, दृश = प्रस, गृह = ग्रण्ह, ।

क्रियाविशेषण—वहिल्लउ = शीघ्र, निच्चट्ट = दृढ, कोड्ड = कौतुक, दडवड = शीघ्र, छुड्डु = यदि, जुअजुअ = अलग-अलग ।

विशेषण—विट्टलु = नीच, अप्पणु = आत्मीय, सड्ढलु = असाधारण, रवण्ण = सुन्दर, नालिअ, वढ = मूर्ख, नवख = नया, ।

सज्ञा शब्द—द्रवक्क = भय, घघल = झगडा, जाइट्ठिया = जो जो देखा, मम्भीसा = डरो मत । सम्बन्धीके अर्थमें 'केर' और 'तण' प्रत्यय आते है । घइ' का निरर्थक प्रयोग होता है ।

आ० हेमचन्द्रका यह भी कथन है कि जो बातें अपभ्र श व्याकरणके इस प्रसगमें छूट गयी हो, वे प्राकृतसे समझ लेनी चाहिए और जो प्राकृतमें न हो वे सस्कृतसे । अधिकाश प्राकृत वैयाकरण प्राकृतोका विचार सस्कृत व्याकरणकी शैली ही पर करते हैं ।

युग और स्रोत

ऐतिहासिक दृष्टिसे अपभ्रंश साहित्यका युग, मैं ७वीसे १२वी ईस्वी तक मानता हूँ। वैसे बोल-चालके रूपमें इस भाषाका उल्लेख दो-चार सौ वर्ष पहलेसे ही मिलता है। हम देख चुके हैं कि दण्डीके समय (६७५-७१०) मे यह नवीन भाषा साहित्यमें अपभ्रंशके नामसे प्रयुक्त होने लगी थी। बाणभट्टने (७वीका पूर्वार्ध) भाषा कवि वायुकुमार और ईशान कविका भी उल्लेख किया है। पुष्पदन्तने भी 'ईशान' कविका नाम स्मरण किया है। इससे सिद्ध है कि सातवी सदीके प्रारम्भमें अपभ्रंश काव्यकी धारा प्रवाहित हो चली थी। वैसे उपलब्ध कवियोमें सबसे पहले स्वयम्भू हैं। ये सातवींके अन्तिम चरणमें हुए। उन्होने अपने 'स्वयम्भू छन्द'मे आठ-नौ अपभ्रंश कवियोके नाम गिनाये हैं। ये हैं, चउमुख, धुत्त, धनदेव, छइल्ल, अज्जदेव, गोइंद, सुद्धसील, जिणआस, और वियड्ढ। इससे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि उनके कोई सौ-डेढ सौ वर्ष पहले अपभ्रंशमें काव्य-रचना प्रारम्भ हो चुकी थी। अत ७वीसे इसका विधिवत् प्रारम्भ मानना ही ठीक है। जहाँ तक अन्तका सम्बन्ध है वह १२वी ही उचित है। इस प्रकार हेमचन्द्र और रहमान इस काव्यके अन्तिम कवि ठहरते हैं। वैसे बाद तक (१६-१७वी) अपभ्रंशमें साहित्य-रचना होती रही। कमसे कम १४वी तकके भाषा-साहित्यपर इसका यथेष्ट प्रभाव रहा। फिर भी अन्तिम समय १२वी सदी ही मानना चाहिए। क्योंकि इसके बादकी काव्य-रचनामें पुरानी काव्य भाषाका ही रूढ अनुकरण होता रहा। नवीन युगचेतनाकी दृष्टिसे भी उसका कोई महत्त्व नही। यथार्थमें वह सन्धियुगकी अवस्था थी। इसके बाद देशी भाषाओका साहित्य रचा जाने लगा। अन्यत्र हम यह विचार कर चुके हैं कि १०वीसे १३वी तकका काल हिन्दीका आदि काल न होकर अपभ्रंशका ही अन्तिम काल है। अत यहाँ विस्तारसे विरत होकर अपभ्रंश युगको ७वींसे १२वीं सदी तक मान लेते हैं। श्री राहुलजीने इस कालका नाम 'सिद्ध-सामन्तकाल' सुझाया है। पर यह नाम इस भाषा और साहित्यकी सभी प्रवृत्तियोका प्रतिनिधित्व नही करता। श्री राहुलजीने अपभ्रंशको हिन्दी मानकर ही यह नाम दिया

हैं। पर हमे इस नामपर ही आपत्ति है। वस्तुत यह अपभ्र श है। प्राकृतकी अन्तिम भूमिका, पर उससे अलग। इसी तरह मध्य भारतीय आर्य भाषाओकी प्राथमिक भूमिका, पर उनसे भिन्न। अत सिद्धसामन्त नामसे भाषाका बोध नही होता और न साहित्यकी पूर्ण आत्माका। सामाजिक अवस्थाको व्यक्त करनेके लिए 'सामन्त' तो ठीक है पर 'सिद्ध' शब्दसे केवल सिद्धोकी आध्यात्मिक विचारधाराका बोध होता है। दूसरी ओर भी आध्यात्मिक विचारधाराएँ थी। उनका क्या होगा? न वे सामन्तवादिनी हैं और न गोरखपन्थी, फिर भी उनमे उग्र अध्यात्म है। वह एक शुद्ध आध्यात्मिक क्रान्ति है जो अपने ही युगकी परिस्थितियोसे उत्पन्न हुई थी। उस भक्तिकी धाराका भी इस कालमें उद्गम हो चुका था जिसकी आगे चलकर कई धाराएँ प्रवाहित हुईं। ये केवल परिस्थितियोकी उपज नही थीं। उनमें चेतनका प्रकाश था। अत हम अपभ्रंश युग कहना ही अधिक उपयुक्त समझते है। राजनैतिक दृष्टिसे यह 'राजपूत युग' कहा जा सकता है।

राजनैतिक स्थिति

पूर्व राजपूत युग

निश्चय ही कई कारणोसे यह युग बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। ईसाकी ५वी सदीमें गुप्त साम्राज्यका पतन हो गया। छिट-फुट रूपमे उसके उत्तराधिकारी सातवी तक बने रहे। परन्तु आठवीके प्रारम्भमे नयी शक्तियोके उदयमे उनका अस्त हो गया। हूणोके हमले रोकनेमे ये असमर्थ सिद्ध हुए। उन्हें रोकनेका श्रेय मिला मन्दसौर (मालवा) के शासक यशोवर्मनको। सन् ६०६ ईस्वीमे बाह्य आक्रमण और आन्तरिक विप्लवके कारण हर्षवर्धनको थानेश्वर और कन्नौजका सम्मिलित शासक बनना पडा। उसे एक साथ कई समस्याओका सामना करना पडा। छह वर्षके सघर्षके बाद वह सफलता पा सका और ६१२ ईस्वी मे पूर्ण शासक बना। ६१८ ईस्वी से ६२७ ईस्वी तक उसे उपद्रवोको दबानेके लिए बहुत व्यस्त रहना पडा। ६४७ ईस्वी मे वह चल बसा। ६४६ से ८३६ ईस्वी तक उत्तरी गगा घाटी, बाह्य आक्रमण और आन्तरिक उत्पातोकी सघर्ष-भूमि बनी रही। इस कालमें महोदयश्री (कन्नौज) को हथयानेके लिए तीन शक्तियोमें कठोर सघर्प चला। अन्तमें प्रतिहारोने

इसपर विजय प्राप्त की। कन्नौजका इस समय वही महत्त्व था, जो मुगलो-के समय दिल्लीका था। आलोच्यकालमे भारतकी राजनैतिक स्थिति इस प्रकार थी।

गुर्जर प्रतिहार

दक्षिण राजपूतानाके गुर्जर प्रतिहारोने भीनमलमे ७वी सदीके प्रारम्भमे अपनी राजधानी बनायी। इसके प्रथम शासक नागभट्टने अरबोका सामना किया था। इसी वशके वत्सराजने गुर्जरोको सघटित कर, उत्तरी भारतके राज्योपर हमले शुरू कर दिये। उसने कन्नौज ले लिया। पर राष्ट्रकूट ध्रुवने उसकी प्रगति रोक दी। जैन हरिवशपुराणके अनुसार यह ७८३ ई० में जीवित था। बीचमे यह वश कमजोर पड गया। पर ९वी के मध्यमें भोडा प्रथमके समय इसने अपनी धाक जमा ली। उसने ५० वर्ष राज्य किया। पालोसे उनकी ही सीमापर लम्बा सघर्ष चलता रहा। ये अरबो और राष्ट्रकूटोके परम्परागत शत्रु थे। १०वींमें उसके निधनके बाद बेटोमें गद्दीके लिए आपसी होड चल पडी। पर चन्देल सरदार हर्षकी सहायतासे महीपाल गद्दीपर बैठ गया। परन्तु इस भीतरी कलहसे केन्द्रीय सत्ता टूट गयो। और गुजरातके चालुक्य तथा मालवाके परमार स्वतन्त्र हो गये। दक्षिण चालुक्य इन्द्र तृतीयने कन्नौजपर चढाई कर दी। भोजके समयका विस्तृत राज्य अब सिमट गया। राजशेखर, महीपालका राजगुरु था, और क्षेमीश्वर सभापण्डित। इस वशका अन्तिम उत्तराधिकारी राज्यपाल सन् १०१२ ईस्वीमें महमूदसे हार गया। कन्नौजके पतनके बाद उसने राजधानी गगाके दक्षिणमें हटा ली। पर सन् १०२० ईस्वीमें उसका भी पतन हो गया। अब प्रतिहार राज्य कई इकाइयोमें बँट गया[1]।

पालवंश

बगालके पाल वशकी उन्नतिका लगभग यही काल है। मौर्य और गुप्त युगमें बंगाल मगधका अश रहा। बादमे अनेक स्थानीय शक्तियाँ उठ खडी हुई। पालवशके पहले वहाँ मात्स्य न्याय चल रहा था। आठवींके प्रथमार्धमें गोपालने इस राज्यकी नीव डाली। असली विस्तार इस वशका

१ चालुक्य (गुजरात), यादव (मथुरा), परमार (मालवा), धाहल (चेदि), चौहान (अजमेर), तोमर (दिल्ली)।

धर्मपालने किया। अब वह दक्षिणी विहारसे उत्तर पश्चिमी बगालमे आ गया। धर्मपालने राष्ट्रकूट राजाकी मदद से इन्द्रायुधको कन्नौजकी गद्दीसे उतारकर अपने प्रतिनिधि चक्रायुधको बैठा दिया। बादमें प्रतिहार नागभट्ट द्वितीयकी मददसे उसने धर्मपालको हरा दिया। परन्तु राष्ट्रकूटोकी सहायतासे उसने गुर्जरोंके छक्के छुडा दिये। उसके उत्तराधिकारी देवपालने भी यह गौरव अक्षुण्ण रखा। यह बौद्ध धर्मका महान् आश्रयदाता था। बडे-बडे बौद्ध पण्डित उसके दरबारमें थे। इसके समय नालन्दा विद्याका प्रसिद्ध केन्द्र था। उसने ४० वर्ष शासन किया। परन्तु उसके बाद भोज प्रथमने उत्तरी भारतमे इस वशका प्रभाव कम कर दिया। परन्तु १०वी के प्रारम्भमे महीपालने पुन पालवशका गौरव बढाया। वह भी बौद्ध धर्मका संरक्षक था। मुस्लिम आक्रमणके समय उद्भाण्डपुरके शाही राजाओकी सहायताके लिए उत्तर भारतके राजपूतोने जो सघ बनाया था उसमें इसने सहयोग नही दिया। चेदि राजा गागेयदेवने इसे १०२० ईस्वीमे हरा दिया। उधर तजोरके राजेन्द्र चोलने भी धावा बोल दिया। किसी तरह इसने राजधानी बचायी। ४०० वर्ष इस वशने शासन किया। ये राजपूत नही थे। अत ये उनकी मन्त्रणासे दूर रहे। १२वी सदीमें सेन वशने इस वशका अन्त कर दिया। १२वीके मध्य तक नया वश शासनारूढ हो चुका था।

दक्षिण भारत

छठी सदीमें वातापिके प्राथमिक चालुक्य कर्नाटकमे प्रबल हो उठे। वे पल्लवोके कट्टर शत्रु थे। पुलकेशी प्रथमने अश्वमेध किया था। उसने कोंकणको जीत लिया। और उसकी सत्ता गुजरात तक फैल गयी। चोल और कलिंग उसे अर्पण कर चुके थे। हर्षवर्धनको उसीने दक्षिण प्रवेशसे रोका था। बादमें उसके पुत्र विक्रमादित्य प्रथमने पल्लवोका राज्य छीन लिया। ६७१ ईस्वीमें यह युद्ध पूरा हुआ। अन्तिम राजा कीर्तिवर्माको ७५७ में हराकर राष्ट्रकूटनरेश दन्तिदुर्गने नये राज्यकी नीव डाली। इस कालमे ब्राह्मण धर्मको प्रोत्साहन मिला। बौद्धधर्मका ह्रास हो रहा था। जैन धर्म तब भी बना रहा। स्थापत्य और चित्रकलाकी खूब उन्नति हुई। ऐलीफंटा और बदामीके लयण मन्दिर इसके ज्वलन्त उदाहरण है।

राष्ट्रकूट शासनको कर्नाटक महाराष्ट्र राज्य भी कह सकते है। राजा ध्रुव इस वशका पहला समर्थ राजा था। उसने प्रतिहार राजा वत्सराजको

हराया था। गोविन्द तृतीयके समय राज्यकी सीमा और बढी। ८१४ईस्वी-मे उसका पुत्र अमोघवर्ष गद्दीपर बैठा। मान्यखेटको वसानेका श्रेय उसीको है जो मलखेड नामसे निज़ाम हैदराबादमें अभीतक है। वह बादमें जैन होगया था। उसके बाद पुत्रोमें गद्दीके लिए होड मच गयी। इससे राज्यकी क्षति हुई। ९११-१४ ईस्वीके बाद इन्द्र तृतीयके हाथ शासनकी बागडोर आयी। उसने फिरसे लुप्त गौरव स्थापित किया। उसने मालवापर चढाई की। उज्जैनको कँपा दिया तथा महोदयश्रीको नष्ट कर दिया। महीपाल वहाँसे पूर्वकी ओर खिसक गया। उसके सेनापति नृसिहने प्रयाग तक उसका पीछा किया। इससे राजपूतोकी प्रतिष्ठाको गहरा आघात पहुँचा। उसके बाद (९३३ ई०) यह वश प्रभावहीन हो चला। ९९२ ईस्वीमें राष्ट्रसत्ताके पतनके बाद यह राज्य कई भागोमे बँट गया।

राष्ट्रकूटोका अन्त करनेवाला तैल द्वितीय परवर्त्ती चालुक्य वंश (कल्याणी) का सस्थापक था। ९७३ से १११० ईस्वी तक थोडे समयको छोडकर, यह वश प्रतापी शासक रहा। परन्तु जिस समय तुर्क आक्रमण हो रहे थे उस समय ये परमारो और तजोरके चोलोसे उलझ रहे थे। ११९० ईस्वीमें कल्याणी चालुक्यके तीन भाग हुए, यादव (देवगिरि), काकतीय (वारगल), हौसलेय (द्वारसमुद्र)

गुजरातके चालुक्य

इस वश (९६१-१२४१ ईस्वी)का सस्थापक मूलराज था। अनहिलवाडा (पाटन) इस वशकी राजधानी थी। उत्तर भारतके कितने ब्राह्मणपरिवार उसने गुजरातमें वसाये। भीमदेवके समयमे (१०२४ ई०) महमूदने भारतपर हमला किया। मुल्तान सिंध होकर यह अनहिलवाडा पहुँचा। पर भीम भाग गया। महमूदके चले जानेपर भीम राजधानी आ गया। उसने आवूके एक परमार सामन्तपर हमला कर दिया। १०६४ ई० मे उसका पुत्र कर्ण गद्दीपर वैठा। इसने अहमदावादके पास कर्णवती नगरी वसाई। १०९३ ईस्वीमे जयसिंह सिद्धराज गद्दीपर वैठा। उसने मालवाको गुजरातमें मिला लिया। ११४२ से ११७३ ईस्वी तक कुमारपालका राज्य रहा। यह ५५ वर्षको अवस्यामें गद्दीपर वैठा। ये दोनो जैन धर्मके आश्रयदाता थे। हेमचन्द्र इन्हीके समय हुए। कुमार-पालको मृत्युके ठीक तीन वर्ष वाद ११७८ ईस्वी में मुहम्मद ग़ोरीने

गुजरातकी राजधानीपर हमला किया। अन्तिम सोलकी राजा त्रिभुवन-पाल १२४१-४२ ईस्वी तक जीवित था।

चौहान वंश

११वीके प्रारम्भमें अजमेरके चौहानोंने तोमर राज्य जीत लिया था। यवन-आक्रमणके समय दिल्ली और अजमेर एक हो गये थे। पंजाबमें मुसलमानोंका निरन्तर प्रतिरोध करनेके कारण इसकी साख अच्छी थी। विग्रहराज प्रथम प्रसिद्ध चौहान राजा था। ११५३ ईस्वीमें सोमदेवने 'विग्रहराज' नाटक लिखा। पृथ्वीराज प्रथमके बाद सोमेश्वर गद्दीपर बैठा। इसकी दो रानियाँ थी। एक चेदिवंशकी और दूसरी तोमरवंशकी। पहलीसे हरिराज उत्पन्न हुआ और दूसरीसे पृथ्वीराज। पृथ्वीराजने बुन्देलखण्डको भी अपनी सीमामें मिला लिया। पर कन्नौज और कालिंजर-से उसके अच्छे सम्बन्ध नही। मुहम्मद गोरीने दो बार उसपर आक्रमण किया पर ११९१ ईस्वीमें पृथ्वीराजने उसे हरा दिया। पर अगले वर्ष दिल्लीराजका पतन हो गया। उसके बाद ही अजमेरकी बारी थी। चौहानवंशके उत्तराधिकारी साँभरके आस-पास छोटे-से प्रदेशके मालिक बने रहे। १३वी सदीमें अन्तिम चौहान राजा हम्मीरसिंह था। उसने मालवाके अर्जुनवर्माको हराया था।

चेदि

धाहलके हैहय या कलचुरी दक्खिनके थे। धाहल राजधानी थी। आधुनिक जबलपुर ज़िला इसी प्रदेशमें है। इस वंशके युवराज प्रथमने मालवा और गुजरातसे बुलाकर मत्तमयूर सम्प्रदायके शैवोंको यहाँ बसाया। उन्हें मठ अर्पित किये और मध्यभारतमें नये स्थापत्यका सूत्रपात किया। उसका पुत्र लक्ष्मणराज और भी प्रतापी निकला। उसने भेड़ाघाटके निकट बहुत बड़ा शैव मठ बनवाया। उसने भी एक सम्प्रदाय बुलाया। उसके बाद इस शासनका पतन होने लगा। परन्तु गांगेयने उसे रोका। १०१९ ईस्वी तक इसका राज्य चम्पारन तक था। उसने विक्रमादित्यकी उपाधि भी धारण की। २२ जनवरी १०४१ ईस्वीमें वह मर गया। उसका बेटा कर्ण भी यशस्वी था। कर्णको, कन्नौजके पतनके बाद मध्यदेशका शासक कहते थे। १०४२ ईस्वीमें उसने धूमधामसे पिताका श्राद्ध किया था। बनारस और प्रयाग उसने प्रतिहारोंसे झपट लिये।

हिमालयसे सर्वदा गोदावरी तक उसका विशाल राज्य था। किन्तु बुढापेमें उसे हारपर हार मिली। मालवा और चन्देले स्वाधीन हो गये। आगे चलकर चन्द्रदेवने ११वीके अन्तमें कन्नौजमें नये वशकी स्थापना की। और चेदिराज्यसे गगाघाटी छिन गयी।

गहडवाल

यह वश भी मिश्रित था। इस वशका असली शासक गोविन्दचन्द था। ११०४ से ११११४ ईस्वी तक वह युवराज रहा। फिर ११५४ ईस्वी तक राज्य किया। इसका प्रतिद्वन्द्वी केवल चौहान विग्रहराज था। नही तो अधिकाश हिन्दी प्रदेश इसके अधीन था। ये लोग वैदिक सस्कृतिके उपासक थे। बाहरसे ब्राह्मणोको बुलाकर यहाँ बसा रहे थे। सस्कृतको खूब प्रोत्साहन दिया। भारतोय तीर्थोंकी रक्षामें ये तत्पर थे। ११५५ ईस्वीमें विजयचन्द गद्दीपर बैठा। इस समयमें पाल वशका पतन हो चुका था। ११७० ईस्वीमें जयचन्द गद्दी पर बैठा। उसने विदेशी आक्रमणके समय चौहान पृथ्वीराज द्वितीयकी मदद नही की। ११९२ ईस्वीमें चौहान-की मृत्युके बाद ११९४ मे गोरीने जयचन्दको हरा दिया। १२०२ ईस्वीमें गहडवाल हरिश्चन्दके बाद गगाघाटी मुसलमानोके हाथ चली गयी।

चन्देले

बुन्देलखण्डका चन्देलराज्य भी कुछ समय तक प्रमुख रहा। ये जेजाकभुक्तिके बुन्देल भी कहलाते है। हर्षने सर्वप्रथम स्वाधीनता प्राप्त की। पहले खुजराहोमें इनकी राजधानी थी उसके बाद महोबा और कालिंजरमें। इस वशमें भी हूण रक्त था। यशोवर्मा बहुत प्रतापी था। खुजराहोके मन्दिरमें उसने विष्णुकी प्रसिद्ध मूर्ति प्रतिष्ठित की थी। धंगने १०वीके अन्तमें शाहीराजा जयपालको सहायता की थी। उसका पुत्र चन्द कन्नौजके राजा राज्यपालका समकालीन था। १००९ ईस्वीमें इसने आनन्दपालकी मुसलिम आक्रमणके विरुद्ध सहायता की थी। १०१९ ईस्वीमें महमूदके 'बरो' ले लेनेपर चन्द बुन्देलखण्डको पहाडियोमें छिप गया। ११वीके मध्योत्तरमें कीर्तिवर्माने ब्राह्मण सेनापति गोपालकी सहायतासे अपने वशका चेदि राज्यसे उद्धार किया। इस नव विजयके उत्सवपर अभिनीत होनेके लिए कृष्णमिश्रने प्रबोधचन्द्रोदय नाटक लिखा। कीर्तिवर्माका पोता मदनवर्मा १२वी सदीमें उत्तरभारतका प्रमुख व्यक्ति गिना जाता था। उसने कालिजरके किलेकी सजावट करायी।

इसीके समय खुजराहोके मन्दिरमें रिसभ जिनकी प्रतिमा स्थापित हुई। उसके उत्तराधिकारी परमार्दिनके समय पृथ्वीराजका गोरीसे युद्ध हुआ। जयचन्दके पतनके अनन्तर चन्देले अलग रहे।

परमार

१०वीके पहले चरणमें परमार राष्ट्रकूटके अधीन थे। पर ९७४ ईस्वीमें वे वाक्पतिराजके समय स्वाधीन हो गये। ११वीके प्रथम चरणमें भोज प्रथमने राज्यकी बागडोर थामी। यह अपने युगका सबसे विद्वान् राजा था। पर सोलकी भीम प्रथम, कलचुरी कर्ण और कल्याणीके चालुक्योंने मिलकर उसे हरा दिया। भोजके बाद मालवा कई भागोंमें बँट गया। बादमें जयसिंह सिद्धराजने उसे अपने राज्यमें मिला लिया।

कुल मिलाकर, यही प्रमुख राजशक्तियां, इस युगमें प्रबल रही। इस कालमें सबसे महत्त्वकी बात यह हुई कि गुप्तो और हर्षके समय अशान्त, बर्बर, हूण जाति विशाल भारतीय समाजमें खप गयी। उनके मिश्रणसे जो राजपूत जातियाँ उदयमें आयी, उन्होने इस युगकी राजनैतिक हलचलमें विशेष भाग लिया। प्रारम्भमें ये समर्थ और शक्तिसम्पन्न थी। आगे चलकर मिथ्या अभिमान, आपसी कलह और राष्ट्रीय आदर्श न होनेसे वे एकके बाद एक पराजित होते गये। अपनी खीज मिटाने और युद्धका शौक पूरा करनेके लिए पडोसी राज्यपर भी चढाई कर देती थी। दूसरी अप्रत्याशित घटना है इस युगका मुसलमानी आक्रमण।

यवन राज्यका विस्तार

यह पांच सौ वर्षोमें हुआ। एक साथ मुसलमान समूचे देशको नही जीत सके। ७११ में मुट्ठी भर सैनिकोके साथ मुहम्मद बिन कासिमने देवलके किलेपर कब्जा कर लिया। दाहिर मारा गया। वह ब्राह्मण था। वहांके मूल निवासी बौद्ध थे। ७१२ ईस्वीमे समूचा सिंध अरबोके अधीन था। तबसे अँगरेजोके समय तक मुसलमानोके अधीन रहा। ९७७ ईस्वीमें सुबुक्तगीन ग़ज़नीका राजा बना। उसने अफगानिस्तानके शाही राजाओको उखाडना शुरू किया। शाही राजा जयपालने विरोधमें पहले तो गज़नीपर असफल हमला किया, फिर भारतीय राजाओकी सम्मिलित सहायतासे उसका प्रतिरोध किया। किन्तु कुर्रमकी घाटीमें हार खानी पडी। महमूदके गज़नीकी गद्दीपर बैठते ही उसने हमले

शुरू कर दिये। १००१ ईस्वीमें पेशावरमे शाही राजा विजयपालने उसका मुकाबिला किया। पर सपरिवार पकडा गया। कुछ शर्तोंके साथ उसे महमूदने छोड दिया। पर वह आगमें जल मरा। आनन्दपालने काफी समय तक उसे रोका। पर उसे भी हार माननी पडी। १००८ ईस्वीमें उसने राजपूतोकी सम्मिलित वाहिनीको पराजित किया। १०१८ ईस्वीमें प्रतिहार राज्यका अन्त कर दिया। १०२२-२३ ईस्वीमें ग्वालियर और कालिंजर उसके अधिकारमें आ गये। १०२६ ईस्वीमें सोमनाथको लूटा। इस अभियानमें उसे बहुत-सी सम्पति हाथ लगी। उसने पजाब-से शाही राज्यका नाम मिटा दिया। तबसे अफगानिस्तान, सिन्ध और पजाब उसके उत्तराधिकारियोके पास रहे। तोमर और चौहान उसके पडोसी राज्य थे।

११७३ ईस्वीमे मुहम्मद गोरीने अफगानिस्तान ले लिया। ११७५ ईस्वीमें मुलतानपर उसका कब्ज़ा हो गया। ११७८ ईस्वीमें उसने गुजरातपर हमला किया। पर मूलराज द्वितीयने उसे हरा दिया। ११८६ ईस्वीमें खुसरो मल्लिकको हरानेके बाद अब भारतमें प्रवेश करने-के लिए पृथ्वीराजसे टक्कर अनिवार्य थी। उसने हमला किया पर हारकर भागना पडा। राजपूतोने पीछा नही किया। एक ही वर्ष बाद उसने फिरसे हमला किया और पृथ्वीराजको मिट्टीमे मिला दिया। ११९४ ईस्वीमें जयचन्दके पतनके बाद मध्य देश उसके हाथमें आ गया। बिहार-बगालकी विजयमें उसे अधिक देर नही लगी। क्योकि गहडवाल, सेन और पालोकी आपसी लडाइयोंसे यह प्रदेश वीरान हो चुका था। यह एक विस्मयकी बात है कि इतनी बडी राजनीतिक घटनाका किंचित् उल्लेख अपभ्रंश साहित्यमें नही है। हमारी समझसे इसके निम्नलिखित कारण हो सकते है–

१. प्राचीन भारतीय साहित्यकार अपने युगकी राजनैतिक घटनाओके प्रति विशेष सचेत नही रहा। वह आदर्शकी स्थापना करता है, घटनाओका विवरण देना उसका काम नही।

२ सास्कृतिक दृष्टिसे मुसलमानोका कोई प्रभाव भारतीय समाज-पर अभीतक नहीं पडा था।

३ जिन प्रदेशोमें (गुजरात, मालवा और दक्षिण बंगाल आदि) यह साहित्य लिखा गया वे अभी स्वतन्त्र थे।

४ कविका लक्ष्य साहित्यिक या धार्मिक हो रहा। इसका सबसे बडा प्रमाण सन्देशरासक है। एक मुलतानी मुसलमान होते हुए भी, अब्दुल रहमान तकने इस सम्बन्धमे ज़रा भी नही लिखा।

५ यह होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूपसे इस युगकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ आलोच्य साहित्यमे बराबर मिलती हैं। (देखो—समाज और सस्कृति)

इस युगके राजे प्राय लडाकू होते थे। मल्ल युद्ध और जगली पशुओ-से युद्ध करना पसन्द करते थे। यह होते हुए भी कला और विद्याके प्रेमी होते थे। जैसे महेन्द्रवर्मन, राजा भोज इत्यादि। शासन सचालनका सूत्र राजाके हाथमें था। कानून और सुरक्षाके लिए भी वही उत्तरदायी थे। मन्त्री उनकी सहायताके लिए अवश्य थे। 'सन्धिविग्रहिक' का पद बहुत ऊँचा था। दूर-पास दौत्य सम्बन्ध स्थापित करनेकी बहुत प्रथा थी। शासनकी सुविधाके लिए राज्य कई इकाइयोमें विभक्त था। वशगत भावना उग्र थी। वैवाहिक सम्बन्ध भी राजशक्ति बढानेका एक स्रोत था। राजाओ, उनके कृपापात्रो तथा सामन्तोका विलासी जीवन था। देश अनेक स्थानीय क्षेत्रोमे विभक्त था। अत स्थानीय सस्कृतिका विकास हो रहा था।

सामाजिक स्थिति

सामाजिक स्थितिमें परिवर्तन तेज़ीसे हो रहा था। जातीय धर्म बढ चला था। ब्राह्मण और किसान भी सेनामें भरती होते थे। विवाह-बन्धन ढीला था। विदेशी आक्रान्ताओको समाजमें खपानेकी चेष्टा की जा रही थी। फाह्यान कहता है कि इस युगमें मध्य देशके ऊँची जातिके लोगोका सदाचार ऊँचा था। उच्च कुलकी स्त्रियां शासनमें भाग लेती थीं। दक्षिणके राजघरानोकी स्त्रियाँ सगीत और नृत्यमें अधिक कुशल थी। वे सार्वजनिक प्रदर्शनमें भी भाग लेती थी। राजकुमारियोकी शिक्षा उदार थी। उन्हें साहित्य और ललितकलाओंकी शिक्षा दी जाती थी। कईने युद्ध और शासनमे भाग लिया। चालुक्य जयसिंह द्वितीयकी बहन अक्कादेवीने प्रान्तपर शासन किया, युद्धमे लडी और किलेको जीता। (शास्त्री २६२) होमलेय बल्लालकी पत्नी नृत्य और सगीतमे बहुत दक्ष थी। फिर भी राजन्यवर्ग और साधारण जनताके जीवनमें काफी अन्तर था। स्त्रियोको स्वतन्त्रता थी। पर जनपद कल्याणी दरबारमें

विवाहित पत्नियोकी भयंकर प्रतिद्वंदी बन जाती थी। गरीब होकर भी ब्राह्मण अपने चरित्रके कारण आदरके पात्र थे। राज्य-सेवाकी अपेक्षा, इस युगमे व्यापारी या किसान होना अधिक सम्मानित समझा जाता था।

शिक्षा

अपभ्रंश साहित्यमे उच्च शिक्षाका वर्णन विस्तारसे है, किन्तु प्राथमिक शिक्षाका विवरण नही मिलता। ग्रामशिक्षकका उल्लेख है। धरतीके अतिरिक्त, उसे दूसरे उपहार भी मिलते थे। दस्तकारी पिता ही पुत्रको सिखाता था। कलात्मक सौन्दर्यके सम्बन्धमे कलाकारोकी मिली-जुली धारणा थी, जो उस युगके स्मारकोसे स्पष्ट है। काव्य-पुराणोका मन्दिरो या सार्वजनिक स्थानोपर जो पाठ होता था, वयस्कोकी शिक्षाका वही एक साधन था। गायकोके दल घर-घर भक्तिपरक गीत गाते थे, इससे सगीतका काफी प्रचार हुआ, साथ ही धर्म और साहित्यका भी। मठ और विहारोने भी शिक्षामे काफी योग दिया। सस्कृतके प्रारम्भिक अध्ययनका महत्त्व सभी समझते थे। उसके शिक्षणको विशेष सरक्षण भी प्राप्त था। (शास्त्री २६३) शिक्षाके विषयमें, इस युगके राजन्यवर्गमे विशेष बात यह लक्षित होती है कि वे अपनेको सभी विद्याओमें पारगत बनाना चाहते थे।

धार्मिक अवस्था

५वी या ६ठी सदी तक भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदाय मिल-जुलकर रहते रहे। वैदिक यज्ञ, पुराने देवी-देवताओकी उपासना (जिसमे पशु-वध भी था), गृहकर्म और मूर्तिपूजा बराबर चली जा रही थी। बौद्ध और जैनधर्म फल-फूल रहे थे। परन्तु सातवी-आठवी सदीमें परिस्थिति एकदम बदलने लगी। तामिल देशमें तेजीसे एक आस्तिक आन्दोलन उठा और समूचे देशमें उसकी लहर फैल गयी। उनका उद्देश्य जैन और बौद्धधर्मको दबाना तथा शिव या विष्णुकी भक्तिका प्रचार करना था। ये सन्त एक मूर्तिसे दूसरी मूर्ति तक नाचते-गाते जाते थे। गीत रचकर, गाकर, नाचकर, वाद-विवाद कर, इन्होने अपना प्रचार किया। आलम्वार और नायम्वार इनके नाम थे। १०वी सदी के अन्तमें अन्दारने तैवारम्के नामसे इनके गीतोका संकलन किया। तामिल शैव धर्मकी यह महत्त्वपूर्ण

पुस्तक मानी जाती है[1]। (शास्त्री १२ और २६५) ६४२ ईस्वीमे ह्वेन्सागने अपनी दक्षिण भारत-यात्रामे बौद्धधर्मकी अवनति देखकर दु ख प्रकट किया था। भक्ति धर्म उस समय प्रारम्भिक रूपमें था। नयी भक्ति फैलनेके कारण ये थे —

१ राज्याश्रयसे जनतामें शीघ्र ही यह फैला।
२ जनताकी भाषामें गीतोकी रचना होती थी।
३ शिव और विष्णुके लोकोत्तर व्यक्तित्व-द्वारा जनतामे विश्वास पैदा करना।
४ सुन्दर रागोमें गीतोका गाया जाना।

आ० शकर और कुमारिल भट्टने विरोधी धर्मोका विरोध किया। ये खास सम्प्रदायके न होकर सनातन ब्राह्मण धर्मके प्रचारक थे। आ० शकर-ने विचारोकी दार्शनिक शैली और धार्मिक सगठनमें बौद्धोसे बहुत कुछ लिया। ये लोग बुद्ध धर्मको हिन्दू धर्मका कट्टर शत्रु समझते थे। नाथमुनि (९८५-१०३०) ने भक्तिका दार्शनिक समर्थन किया, उन्होने सारे भारतका दौरा भी किया। यामुनाचार्य उनका पोता था। उसके बाद रामानुज हुए। पहले यह श्रीरगम् मठके उत्तराधिकारी थे। उन्होने आडम्बरपूर्ण पूजाविधिमे सुधार करना चाहा। बादमे उन्हे मैसूरमे शरण लेनी पडी।

वैष्णव—आलोच्यकालमे यह मत शैवमतकी तरह सघटित नही था। प्राथमिक चालुक्य और वातापीके शासक वैष्णव थे। रामानुजके प्रयत्नसे होसलवशका मैसूर-नरेश विट्टि (विष्णुवर्धन) वैष्णवधर्ममें दीक्षित हुआ। ७वी और ८वी सदीमें कई वैष्णव आचार्य हुए। विट्टिकी पत्नी शीतला जैन ही रही। वस्तुत इस कालमे वैष्णवधर्मकी अपेक्षा शैवधर्म ही अधिक प्रतिष्ठित था।

शैवधर्म—गुप्त नरेश चाहे वैष्णव रहे हो पर इस समय अधिकाश राजा शैव थे। छठी और ७वी सदीमे इसने वैष्णवधर्मका स्थान ले लिया था। मिहिरकुल, यशोवर्मन, शशाक, हर्ष, सभी शासक शैव थे। ८वीं मे शकराचार्यने शिवभक्तिका प्रचार किया यद्यपि ये किसी खास सम्प्रदाय-के नही थे। उसके बाद भी कई प्रसिद्ध शैवाचार्य हुए। ९वी और

१ आल वेयर कीन कन्ट्रोवर्सेलिस्टिस ऐगट हेड नो माफ्ट वर्ट फार दी बुद्धिस्ट ऐण्ड जैनम् (शास्त्री २६७)

१०वी मे इसके कई सम्प्रदाय दक्षिण भारतमे थे, जैसे पाशुपत कालमुख, कापालिकका काची, त्रिरुवेरपुर, मेलपट्टा, कोदम्बालूरमे अधिक प्रचार था। ये देवी-उपासनामे विश्वास करते थे और उसके लिए अपना सिर भी दे सकते थे। सातवी सदीके साहित्यमे इनका उल्लेख मिलता है। लेकिन सबसे सघटित धर्म उठा वीरशैवमत। यह कर्णाटकमें बहुत तेज़ीसे फैला। वैसे इसका संस्थापक विज्जलनरेश (कल्याणी) का मन्त्री विज्जल माना जाता है। परन्तु शिलालेखोसे स्पष्ट है कि असली नेता एकान्तदा रामैया था। वासव उसका राजनैतिक सहायक था। इनके मतमें मुख्य बातें थी—१ मठोकी प्रमुखता, २. सामाजिक व्यवहारमे समानता, ३. शिवलिंग गलेमे लटकाये रखना, ४ शैव सन्तोका आदर, ५ स्त्रियोके प्रति उदारताकी भावना। इसके अतिरिक्त गुजरात और चेदि नरेश प्राय. शैव थे। यह बात विशेष रूपसे ध्यान देनेकी है कि मध्य देशपर पुष्यमित्र शुगके समयसे ही ब्राह्मण धर्मका प्रभाव रहा। यहाँके राजा हमेशा ब्राह्मण धर्मके अनुयायी रहे।

बौद्ध धर्म—यह निरन्तर अवनतिपर था। बगालके पाल शासक अवश्य इसके आश्रयदाता थे। इसके दो कारण थे—एक तो बौद्धधर्ममें नाना साधनाएँ आ मिली थी। नारायण विष्णुकी कल्पनासे, बुद्ध और विष्णुकी पहचान कठिन हो गयी। बहुत-सी बौद्ध प्रतिमाएँ हिन्दू मन्दिरोमे प्रतिष्ठित कर दी गयी। अमरावती इसका उदाहरण है। दूसरे, तन्त्रवादके प्रभावसे शैव और बौद्धोकी पहचान कठिन थी। यह होते हुए भी कई भागोमें उसका अस्तित्व था। प्रथम अरब आक्रमणके समय ये सिन्धमे थे।

जैनधर्म—कर्णाटक और तामिल प्रदेशमे जैनधर्म अधिक लोकप्रिय था। सातवी सदीमे ह्वेन्सागने देखा था कि वह बौद्धधर्मका स्थान ग्रहण करता जा रहा है। उसने बगालमें भी इस धर्मको देखा था। पर पश्चिमी भारतमे इसका विशेष प्रभाव था। वातापीके चालुक्यो और मान्यखेटके राष्ट्रकूटोके समय दिगम्बर मत ख़ूब समृद्ध था। विज्जल कलचुरी (कल्याणी) और कुमारपाल चालुक्य इसके बहुत बडे सरक्षक थे। इसी कालमें वह शैवमतके सघर्षमें आया। १२वी सदीके नये शैव और वैष्णव आन्दोलनसे इसको काफी क्षति हुई।

इस्लाम धर्म—६३६ ईस्वीमें मुस्लिम जहाज़ भारतीय समुद्रमें आये। उसके बादसे ही, अरबके व्यापारियोका इस देशसे सम्बन्ध रहा।

ये यहांके कई वन्दरगाहोंमें बस गये। यहाँकी स्त्रियोंसे विवाह किया। घोड़ोंके आयातके लिए हिन्दू राजा इन्हें प्रोत्साहन देते थे। एक सन्दिग्ध धारणा यह भी है कि ईसाई भी इस समय दक्षिण भारतमें वसने लगे थे। इस कालमें अद्वैत भावात्मक भक्ति, आत्मसमर्पण, सामाजिक समानता और गुरुकी आवश्यकतापर जो ज़ोर दिया गया उसे बहुत-से विद्वान् इस्लामका प्रभाव मानते हैं। पर इस नवीनवादकी व्याख्या, इस्लामका प्रभाव न मानकर भी, दूसरे ढगसे कर सकते हैं। (शास्त्री २७३) उसे इस्लामका प्रभाव मानना, ऐतिहासिक दृष्टिसे सगत नहीं कहा जा सकता, सास्कृतिक दृष्टिसे यह बात और भी गले नही उतरती।

धार्मिक सहिष्णुता

साम्प्रदायिक प्रतियोगिताके होते हुए भी इस कालमें धार्मिक सहिष्णुता बनी थी। सम्प्रदाय थे, पर आजकी तरह एक दूसरेसे दूर नही थे। धार्मिक विश्वास वदलते रहते थे। किसी वशकी एक पीढी जैन थी तो दूसरी शैव। यदि पिता शैव होता यो पुत्र जैन। कुमारपालके समय गुजरातके प्रतिष्ठित घरानोमे शैव और जैनधर्मका साथ-साथ पालन होता था। धर्मकी शक्तिका बढना न बढना, राजाश्रयपर निर्भर था। इसलिए धार्मिक गुरु और आचार्य राजाको प्रभावित करनेकी चिन्तामें रहते थे। राज्य विस्तार, मन्दिर, मठ बनवाना और बहुविवाह इस युगके राज-आदर्श थे। मन्दिरोका इस युगमें अधिक महत्त्व था। सामाजिक और सास्कृतिक दृष्टिसे ही नही, अपितु अर्थकी दृष्टिसे भी। कितने ही लोगोको वहाँ आजीविका मिलती थी। पुजारी, सगीतज्ञ, नर्तकी और रसोइया की इन्हीसे आजीविका चल रही थी। मन्दिर इस युगमें बैंक, स्कूल, अस्पताल और ज़मींदारका काम करता था। राजा, सामन्त और व्यापारी सदैव इन्हें धन देते रहते थे। जैन मन्दिर भी इस प्रभावसे अछूते नही थे। कुमारपाल चालुक्य जव अपने राजप्रासादके मन्दिरमें जिनका पूजन-अर्चन कर चुकता तो नर्तकियाँ दीप लेकर देवताओंके सम्मुख नाचती थी। यह प्रथा दक्षिण भारतके जिन-मन्दिरोंमें भी थी। इस युगके उत्तरार्धमें उन सभी धार्मिक विचारो (उग्र अध्यात्म, भक्ति, हठयोग आदि) की जड जम चुकी थी जिनका हिन्दी युगपर प्रभाव पड़ा।

दर्शन—दार्शनिक चिन्तन भी इस युगका समृद्ध था। भक्तिके दार्शनिक आचार्य इसी युगकी उपज हैं। यह भक्ति उत्तर भारतके

भागवत-धर्मसे भिन्न थी। आचार्य शंकर, कुमारिलभट्ट और माधव इसी युगकी देन हैं। प्रभाकर, मण्डनमिश्र, उद्योतकर, उदयन, सायण, विज्ञानेश्वर, धर्मकीर्ति, पाल्यकीर्ति, अकलंक, वीरसेन, प्रभाचन्द, आदि मेधावी दार्शनिक इसी कालमें हुए।

साहित्य साधना—इस कालकी साहित्य-साधना कई क्षेत्रों और कई भाषाओंमें विभक्त थी। ९, १० और ११वीं सदीमें कन्नौज और कश्मीर संस्कृत साहित्य साधनाके दो प्रमुख केन्द्र थे। एकमें आनन्दवर्धन, अभिनव-गुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट प्रभृति साहित्य समालोचक हुए तो दूसरेमें वाक्पतिराज, भवभूति, श्रीहर्ष, राजशेखर आदि हुए। इस कालमें गद्य कथा-लेखकोंकी परम्परा चली। दण्डी, बाणभट्ट, सोमदेव, सोड्ढल, धनपाल, शान्तिदेव और वादीभसिंह प्रमुख संस्कृत कथालेखक थे। चरितकाव्यकी परम्परा अश्वघोषके बुद्धचरितसे पूर्व गुप्तयुगमें चली थी। रघुवंश भी चरितकाव्य ही है। परन्तु ऐतिहासिक व्यक्तिको लेकर चरितकाव्यकी पद्धति बाणभट्टके हर्षचरितसे चली। नाटककारोंमें भवभूतिके अतिरिक्त भट्ट नारायण, मुरारी, राजशेखर, जयदेव, मधुसूदन, रामचन्द्र, जयसिंह सूरि, यशपाल, श्रीकृष्ण, शक्तिभद्र, कुमारदास, राजा कुलशेखर आदि प्रमुख हुए। चम्पू-लेखकोंमें त्रिविक्रम भट्ट और सोमदेव मुख्य हैं। दार्शनिक साहित्यके अतिरिक्त पुराणोंमें भागवतपुराण इसी कालमें लिखा गया। नीलकण्ठ शास्त्री इसे १०वींके आस-पासका मानते हैं। जैन पुराणों और सिद्धान्तसाहित्यके लिए इस कालका वही महत्त्व है जो हिन्दू पुराणोंके लिए गुप्त कालका। अमोघवर्ष प्रथमके समय राष्ट्रकूटोंकी राजधानीमें हरिवंशपुराण, आदि-पुराण, उत्तरपुराण, अकलंकचरित आदि लिखे गये। स्वयं अमोघवर्षने नीतिशास्त्रपर प्रश्नोत्तरमालिका लिखी थी। जयधवलाकी टीका भी इसी समय लिखी गयी। प्राकृत साहित्य भी इस युगमें यथेष्ट रचा गया। नाटिकाको प्राकृतमें 'सट्टक' कहते थे। परमार-नरेश अर्जुनवर्माके जीवन-पर मदनलालने कौमुदी मित्रानन्दकी रचना की। श्रीकृष्णका प्रबोध-चन्द्रोदय भी प्रतीक शैलीमें है। इसमें अद्वैत वेदान्त और विष्णु भक्तिका समन्वय है। १०४२ में जैन लेखक यशपालने इसका अनुकरण किया। संस्कृतके गीत कवियोंके रूपमें भर्तृहरि, अमरुक, जयदेव विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। आर्यासप्तशतीका लेखक गोवर्धन राजा लक्ष्मणसेन (१११६) का सभा कवि था, और जयदेव भी।

द्रविड़ भाषाओंका साहित्य—६ से ८ तक काफी तमिल

साहित्य रचा गया। इसमें कई कवि जैन थे। प्रो० नीलकण्ठ शास्त्रीका कहना है कि तामिल साहित्यका स्वरूप, प्रेरणा और स्रोत प्राय एक-सा है। (२७९ पृ०) समकालीन राजाओपर इसमें भी ऐतिहासिक काव्य लिखे गये। चोल शासनकाल (८५०-१२००) तामिल साहित्यका स्वर्णकाल था। प्रबन्ध-काव्यकी प्रमुखता थी। दार्शनिक और भक्ति-साहित्य भी लिखा गया।

कन्नडका साहित्य तामिलके बाद रचा गया। इसकी भी प्रारम्भिक रचनाएँ जैनोकी मिलती है। पम्प, कृष्ण तृतीयका समकालीन प्रसिद्ध कवि है। पम्पने आदिपुराण ९४१ में लिखा। उसके बाद पौन्न हुआ। इसने शान्तिपुराण लिखा। इसमें ऐतिहासिक तथ्योका भी निर्देश है। यह चामुण्डरायके आश्रयमे रहा।

तेलुगु साहित्यका क्रम कन्नडके बाद है। १२वी सदीसे उसमें वीरशैव साहित्यकी प्रचुरता रही। साहित्यकी दृष्टिसे मलयालमका इस युगमें कोई अस्तित्व नही था।

इस समूचे साहित्यके विश्लेपणसे यह स्पष्ट है कि गीत और प्रबन्ध काव्यकी इस युगमें प्रमुखता थी। संस्कृतमें जो कथा या चरित-काव्य लिखे गये, वे या तो काल्पनिक है या ऐतिहासिक व्यक्तियोपर आधारित है। नाटककी कथावस्तु पौराणिक भी है और ऐतिहासिक भी। पौराणिक चरित-काव्यकी परम्परामें एक भी कृति देखनेमें नही आयी। चन्दबरदाईने रासोमें संस्कृत ऐतिहासिक चरित-काव्यका अनुकरण किया। हेमचन्द्रने कुमारपालप्रतिबोध आदि लिखे।

जहाँतक आलोच्य साहित्यके स्रोतका प्रश्न है। ये कवि पुराणसे विपय वस्तु ग्रहण करते है। जैनेतर पुराणोकी कल्पनाओका भी इन्होने अपने काव्यमें उपयोग किया है। काव्य-सिद्धान्तोके लिए दण्डी और भामह-के ग्रन्थ इनके उपजीव्य है। काव्य-रूपोंके लिए कुछ तो पूर्ववर्ती प्राकृत और संस्कृत साहित्यसे ग्रहण करते है और कुछ साहित्यके लौकिक रूपोंसे। मुक्तक काव्योपर तत्कालीन दार्शनिक विचारधाराकी पूरी छाप है। राजशेखरने अपनी काव्यमीमासामें काव्यकी १२ योनियां (स्रोत) गिनायी हैं। वेदस्मृति (धर्मशास्त्र), इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या (दर्शन), राजसिद्धान्तत्रयी (पू० शा०, ना० शा०, और का० शा०) इत्यादि। अपभ्रंश प्रबन्ध कवियोंके भी प्राय यही स्रोत हैं। भेद केवल इतना है कि वेदस्मृतिकी जगह ये जैन पुराण और धर्मशास्त्रसे वस्तु और

विचार ग्रहण करते हैं। फिर भी वेद-पुराणसे ये अपरिचित नही थे। वस्तु विवरणके लिए राजसिद्धान्तनयी ही इनका मुख्य स्रोत है। सोमदेवका नीतिवाक्यामृत भी एक स्रोत है। व्यक्तिगत स्रोतोका उल्लेख हम कवियोके परिचयके प्रसगमे करेंगे। परन्तु इन सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत थे अपनी कल्पना, अनुभूति और प्रतिभा। काव्यकी सच्ची आत्माका निर्माण इन्हीसे होता है। शेष तो स्थूल उपादान हैं।

युग-प्रभाव

धार्मिक और पौराणिक होते भी अपभ्रश साहित्य अपनी युग-चेतनासे एकदम अछूता नही। इनके कथानायकोमें अपने युगके शासकोके स्वभाव, रुचि, रीति-नीति, विद्यानुराग और धार्मिक मनोवृत्ति लक्षित की जा सकती हैं। इतिहास और यह साहित्य इस बातसे सहमत हैं कि इस युगमें धर्म आडम्बरपूर्ण था। उसमें-से नये आध्यात्मिक आन्दोलन चले। दोनो इस बातकी भी पुष्टि करते हैं कि इस युगमें राजाका धार्मिक होना आवश्यक था। धर्म राज्यसे विस्तार चाहता था और राज्य धर्मसे प्रेरणा। फिर भी यह चेतना गतिशील थी। पर वह उत्तरोत्तर कट्टर और रूढ होती चली जा रही थी। सस्कृत प्राकृतके साथ अपभ्रंश साहित्यका लिखा जाना इस बातका द्योतक है कि यह भाषा उस समय लोक-जीवनके निकट थी। तामिल और कन्नडकी तरह जैन लेखकोने लोक-प्रचलित होनेसे ही अपभ्रशको धर्म-प्रचारका साधन बनाया होगा। फिर भी दो कारणोसे लोक-जीवनकी स्पष्ट व्याख्या इस साहित्यमें नही है। एक तो उस युगका कवि लोक-चेतनासे विमुख था, दूसरे उसकी दृष्टि धार्मिक और पौराणिक थी, तीसरे ये कवि संस्कृत और प्राकृत कवियोकी पाँतमें बैठना चाह रहे थे। फिर भी कई बातोमें यह साहित्य लोक-चेतनासे प्रभावित है आगे यह जाननेका अवसर आयेगा। युगके अन्य साहित्यके अनुरूप यह साहित्य राज्याश्रयमें नही लिखा गया। बहुत कम कवियोको यह आश्रय मिला। जिन्हें मिला भी, उन्हें राज्यका नही, राजपुरुषोका आश्रय मिला। उत्तरकालमें अपभ्रश कवि भी दरबारी आसन सुशोभित करने लगे थे। पर वहाँ किस श्रेणीकी रचनाओका रसास्वादन कराया जाता था इसका कोई नमूना हमारे पास नही। लेकिन हम समझते हैं कि यह दरबारी अपभ्रंश साहित्य, अन्य दरबारी साहित्यके ही समान था। काव्य रूपमें चाहे थोडा-बहुत अन्तर रहा हो।

अपभ्रंश कवि

१. कवि स्वयंभू (७८३ ईस्वी अनुमानित)

कवि स्वयभू जिस घरानेमे उत्पन्न हुए उसमें तीन पीढियोसे साहित्य-साधना हो रही थी। इनके पिताका नाम मारुतदेव और मॉंका पद्मिनी था[1]। इनके पिता कवि थे और पुत्र त्रिभुवन स्वयभू भी। स्वयभू छन्दमें एक उदाहरण उन्होने 'तहा मारुयएवस्स' लिखकर दिया है। वह गृहस्थ थे। कविकी दो पत्नियाँ थी—आइच्चाम्बा (आदित्याम्बा) और सामिअब्बा। कविने अयोध्या काण्ड और विद्याधर काण्डके अन्तमे उनके नामोका उल्लेख किया है। ये पढी-लिखी नही थी, प्रत्युत अपने पतिके साहित्यिक कार्योंमे सहयोग भी देती थी। एक और श्लिष्ट पदसे उनकी तीसरी पत्नीका अनुमान किया जाता है। और उनका सबसे छोटा बेटा त्रिभुवन इसीसे उत्पन्न हुआ था। वह पद यह है,

> सव्वे वि सुआ पजर-सुअव्व पढिय क्खराइ सिक्खति।
> कह राअस्स सुओ सुअव्व सुइ-गब्भ सभूओ॥

यहाँ सुआके दो अर्थ है – सुत और तोता। इसका अर्थ होता है कि सारे सुत पीजरेके सुएकी तरह, पढे हुए अक्षरोको ही सीखते हैं। परन्तु कविराज स्वयभूका पुत्र त्रिभुवन श्रुतके समान श्रुति गर्भसे उत्पन्न है। अर्थात् जैसे शास्त्र श्रुत (वेद) से निकले वैसे ही त्रिभुवन सुअव्वाके उदर-से उत्पन्न हुआ। इसके आधारपर प्रेमीजी कविकी तीसरी पत्नी होनेका अनुमान करते है। परन्तु यह ठीक नही। हमें उपमानके रूपमे ही उक्त पदको लेना चाहिए। क्योकि कविकी तीसरी पत्नी होती तो वे अवश्य उसका दो की तरह उल्लेख करते। यदि यह त्रिभुवनकी माँ थी, तब तो बेटेको भी अपनी माँके लिए श्रद्धाके शब्द-पुष्प चढाने थे। मैं समझता हूँ कविकी पत्नियोने प्रतिलिपि आदि करनेमे ही उन्हे थोडी-बहुत सहायता दी होगी इसलिए आधुनिक कतिपय लेखकोकी तरह, उसने भी अपनी पत्नियोका नाम उनकी प्रसिद्धिके लिए टॉंक दिया।

---

१ पउमिणि गब्भ सभूए मारुयदेव रूप अणुरायें। –प० च० १, पृ० २।

पुत्र त्रिभुवनने अनेक जगह अपने पिताके विषयमे जो बहुत-सी बातें कही है, उनसे जान पडता है कि इनके कई पुत्र और शिष्य थे। और तो धनके पीछे दौडे पर त्रिभुवनको पिताकी साहित्यिक विरासत मिली,

(सव्वो वि जणो मोहइ, णियत्ताय विढत्त दव्व संताणं ।
त्रिभुवण संभूणा पुणु गहियं सुकइत्त-संताणं ॥)[1]

उसने पिताका काव्य-भार उठाया। उनके कुलका उद्धार किया इत्यादि। इसमें कोई सन्देह नही कि कविका पारिवारिक जीवन सुखी और सम्पन्न था। घरेलू वातावरण साहित्य-साधनाके लिए उपयुक्त था, अपने आश्रय-दाता और समाजके प्रमुख सदस्योमें उनका अच्छा सम्मान था। कवि पुष्पदन्तकी तरह उग्र और एकान्तप्रेमी नही थे। उनकी उक्तियोमे निराशा और कटु अनुभवकी झलक कम ही है।

व्यक्तित्व—कवि अपने बारेमें कहता है कि मेरा शरीर दुबला-पतला और लम्बा है। नाक चिपटी और दांत विरल है।[2] इससे यह स्पष्ट है कि वह विनीत पर यथार्थवादी थे। शारीरिक सौन्दर्यकी जगह आत्मसौन्दर्यके प्रशसक थे। कविकी नीति और व्यवहार-सम्बन्धी उक्तियोके आधारपर यह भली भाँति प्रमाणित है कि वह भावुक होते हुए भी विचारशील और उदार भी थे। उनकी जैसी असाधारण प्रतिभा थी वैसा ही गम्भीर अध्ययन भी था।

अपने समय, जन्म और स्थानके सम्बन्धमें कवि स्वयभू चुप है। केवल इतना उल्लेख मिलता है कि धनजयकी प्रार्थनासे इन्होने काव्यकी रचना की।[3] परन्तु रिट्ठणेमि चरिउकी रचना करते समय वह धवलियाके आश्रयमें थे। (१०० और १०२ सन्धियोका अन्त) उनके पुत्र त्रिभुवन विंदइयाके निकट रहते थे। इन आश्रयदाताओके विषयमें विशेष सन्दर्भ नही मिलता। हो सकता है, ये एक ही धनी कुलकी तीन पीढियाँ हो। त्रिभुवनने विंदइयाके पुत्र गोविन्दका उल्लेख किया है (प० च० का अन्तिम १५, १६ पद) विंदइयाके साथ नाग श्रीपाल आदि भव्यजन भी रहते थे। यह कहना कठिन है कि यह कहाँके निवासी थे। पर ऊपरके नामोसे इन्हे कर्णाटक प्रदेशका निवासी होना चाहिए। पुष्पदन्तने मान्यखेट

---

१. प० च० के अन्तिम अशमें ३, ७, ६, और १०।
२. अइ तगु एण पईहर नन्तें छिव्वर नासें पविरल दत्त। —प० च० १, पृ० २४।
३. प० च० २, ७, १३, १७, १८, सन्धियोंका अन्तिम भाग।

(मलखेट, हैंदराबाद) में महापुराणकी रचना की थी। इनकी साहित्य-साधनाका केन्द्र भी यो कर्णाटकमें होना चाहिए। निम्न तथ्योसे इसका समर्थन होता है।

१ कविने रिट्ठणेमि चरिउ २१।१८।५ मे पांच पाण्डवो, द्रौपदी और कुन्तीकी तुलना गोदावरीके सात मुखोंसे की है। यह कल्पना दक्षिणवासी ही कर सकता है।

२ पउम चरिउमे माहका क्रम चैतसे शुरू होकर फागुन तक चलता है यह दक्षिणमें ही प्रचलित है।

३ गोदावरीका वर्णन एक प्रत्यक्षदर्शी ही ऐसा कर सकता है।

यह मानते हुए भी डॉ० भायाणी प्रभृति विद्वान् उन्हे उत्तरभारतका प्रवासी मानते हैं। क्योकि ७वी सदीसे राष्ट्रकूटकालमे, बरार और कर्णाटकमें राजनैतिक और सास्कृतिक सम्पर्क उत्तरोत्तर बढता गया।[1] अत उनके विदर्भसे प्रवासित होनेकी सम्भावना अधिक है। क्योकि एक दक्षिणवासीके लिए उत्तरकी भाषामें साहित्य-रचना करना कठिन था।[2] परन्तु मेरा मत है कि स्पष्ट प्रमाणके विना कविको उत्तरभारतीय मानना ठीक नही। यदि वह उत्तरके हो भी, तो कई पीढियो पहले उनका परिवार दक्षिणमे बस चुका होगा। राहुलजी इन्हे राष्ट्रकूट राजा ध्रुवके अमात्य रयडा धनजय सामन्तके साथ कन्नौज आया हुआ बताते हैं। पर यह मात्र अनुमान है। दक्षिणमें बहुत पहलेसे उत्तरकी भाषाओ (सस्कृत-प्राकृत) में जैन साहित्य लिखा जाता रहा है। इसमे अधिकाश दक्षिणी लेखको-द्वारा रचा गया है। अत वहांका लेखक उत्तरकी भाषामे आसानी-से लिख सकता था। जन्मभूमि चाहे जो हो, पर काव्य-साधना उन्होंने कर्णाटकमे की यह निर्विवाद है।

क्या वह यापनीय थे — कविने अपने गुरु और सम्प्रदायके बारेमें कुछ भी नही लिखा। इसका कारण उनका गृहस्थ होना है। परन्तु पुष्पदन्तके महापुराण (पृ०९) मे उन्हे "सयभू पद्धड़ी बद्धकर्ता आपली-सघीय" कहा गया है। प्रेमीजी और डॉ० भायाणी उन्हें यापनीय सघका मानते है।[3] इस सघमें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो मतोकी

१ डॉ० आल्टेकर—राष्ट्रकूटाज ऐण्ड देअर टाइम्स, पृ० ११।

२ प० च० भूमिका पृ० १२।

३ जै० सा० इ० ३८५।

कुछ बातें मिलती हैं। विमलसूरिके पउमचरियपर भी उक्त संघका प्रभाव है। कवि स्वयभूने उन्हीकी रामकथा-धाराको अपनाया है। इससे वह यापनीय सघके जान पडते हैं। (प्रेमी २८३)। परन्तु आगे चलकर हम देखेंगे कि स्वयभूने विमलसूरिकी रामकथाके कई स्थूल अश छोड़ दिये है। हाँ, डॉ० भायाणीके ये तर्क अवश्य विचारणीय हैं।

१. कविका दृष्टिकोण यापनीय संघकी तरह उदार था। वह जिनके साथ शिवकी भी तुलना करते हैं।

२. रविषेणके पद्मचरितका अनुकरण करते हुए भी उसके कई ब्राह्मण-विरोधी अशोका सक्षेपमे उल्लेख किया है।

३ उपाख्यान भी कम कर दिये है।

४ रविषेणसे स्वयभूकी दृष्टि भिन्न प्रतीत होती है।

मेरे विचारसे ये तर्क अधिक वज़नदार नही है। क्योकि तर्कसख्या १ का यापनीय सघसे कोई सम्वन्ध नही। शिव और जिनकी तुलनाका कारण दूसरा है। (देखिए, शिव बनाम जिन) तर्कसंख्या २ और ३ भी व्यर्थ है। वर्णन और उपाख्यानोका परिवर्तन काव्यके कारण है। साम्प्रदायिकतासे उसका कोई सम्बन्ध नही। तर्कसख्या ४मे दृष्टिभेदका दूसरा कारण भी हो सकता है। जैसा कि हम आगे विचार करेंगे कि कविने पुराणको काव्यमें रखना चाहा है न कि काव्यको पुराणमें। यापनीय सघका महत्त्व दिगम्बर और श्वेताम्बरोकी कट्टरताका बीच-बचाव करनेमें था। जो भी हो, उन्हे यापनीय सिद्ध करनेवाला एक भी प्रमाण हमारे पास नही है। कविने अपने पूर्ववर्ती आचार्य रविषेणका (ई० ६७७) उल्लेख किया है, तथा बादके कवियोने उनका उल्लेख किया है, जैसे पुष्पदन्त। ये ९५९ ईस्वीके लगभग हुए। अत इन दोनोके बीच किसी समय स्वयभूका जन्म समझना चाहिए। रिट्ठणेमि चरिउमें कविने जिनसेनका उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह इनसे कुछ ही पहले हुए होगे। जिनसेनके हरिवश पुराणका समय ७८३ ईस्वी है। इस प्रकार इनका समय ७८३ के बाद और ९वीं सदीके आरम्भमें कही पडता है।

साहित्य – इनकी अभीतक प्राप्त रचनाएँ कुल तीन है – १. पउम चरिउ २ रिट्ठणेमि चरिउ और ३ स्वयभू छन्द। अनुमानसे उनके तीन ग्रन्थ और माने जाते हैं—सुद्धय चरिउ, पंचमी चरिउ और स्वयंभू व्याकरण। ये अभी उपलब्ध नही हैं। पउम चरिउका हमने अन्यत्र विचार किया है।

रिट्ठणेमि चरिउमें ११२ सन्धियां हैं। शैली पउम चरिउसे मिलती है, पर कई सन्धियोंकी पुष्पिकाओंमें त्रिभुवन स्वयंभूका भी नाम है और अन्तकी सन्धियोंमें जसकीर्तिका नाम भी आता है। इससे असली लेखकका निर्णय करनेमें बड़ी उलझन होती है। १००वीं सन्धिके प्रारम्भका विवादग्रस्त छन्द यह है,

काऊण पोम चरिय सुद्धय चरियं च गुणग्घवियं।
हरिवंस-मोह-हरणे सरस्सई सुढिय-देह-व्व॥

अर्थात् – पउम चरिउ और सुद्धय चरिउ बनाकर, अब मैं हरिवंश-की रचनामें प्रवृत्त होता हूं। सरस्वती मुझे स्थिरता देवें।

श्री प्रेमीजी इसे त्रिभुवनका लिखा मानते हैं। क्योंकि उसकी एक गर्वोक्ति यह भी मिलती है,

"जइ ण हुउ छद चूडामणिस्स तिहुअणसयभू लहु तणओ
तो पद्धडिया कव्व, सिरि पचमि को समारेउ॥"

यहां मुख्य प्रश्न यह है कि कविके उक्त तीनों ग्रन्थ पूरे थे या अधूरे। प्रेमीजी (जै० सा० इ० ३८०) इन्हें पूरा मानते हैं। उनके अनुसार बादमें त्रिभुवनने अपनी रुचिके अनुसार उसमें परिवर्तन किया। । उनके मतसे उक्त कथनमें त्रिभुवन यह कह रहा है कि मैं पउम चरिउके शेष भागकी रचना कर चुका। अब हरिवशमें हाथ लगाता हूं। प्रेमीजी सुद्धयका शुद्ध पाठ सुव्वय करते हैं। इसका अर्थ सुव्रत होता है। राम इन्हीके समयमें हुए। अत सुव्वय चरिउ, पउम चरिउका ही पर्यायवाची है। परन्तु इसमें खींचातानी अधिक है। दोनोंका अर्थ एक मान लेनेपर भी 'च' शब्द दो अलग काव्योंका सूचक है फिर पउम चरिउमें मुनि सुव्रतकी कथा नाम मात्रको भी नहीं है। मगलाचरण अवश्य है। अत पाठान्तर कर लेनेपर भी 'सुव्वय चरिउ' उसे नहीं कहा जा सकता। हो सकता है पचमी चरिउकी तरह कविने 'सुद्धय चरिउ' नामसे कोई छोटी-मोटी रचना की हो। पउम चरिउ बादमें लिखा हो। यह असम्भव भी नहीं, क्योंकि कवि पउम चरिउकी भूमिकामें अपनेको कविराज कहता है। अत इस बारेमें डॉ० भायाणीका मत अधिक ग्राह्य है (प० च० भूमिका पृ०२८)। जसहर चरिउका उदाहरण देकर प्रेमीजीने (जै० सा० इ० ३७७) तीनों कृतियोंमें कुछ अश प्रक्षिप्त माना है। परन्तु डॉ० हीरालाल जैनका मत है कि पउम चरिउ पूरा था। परन्तु रिट्ठणेमि चरिउ कविकी

मृत्युसे अधूरा रह गया, अत त्रिभुवनने उसे पूरा किया। डॉ० भायाणी यह सब बात नही मानते। आपने जो तर्क दिये हैं (प० च० भूमिका ४५) वे ये हैं

१. स्वयभूने पउम चरिउ अधूरा क्यो छोडा।

२ पउम चरिउ और *रिट्ठणेमि* चरिउ *अलग-अलग आश्रयमे लिखे* गये। अत: पउम चरिउको अधूरा छोडकर, दूसरा काव्य क्यो शुरू किया।

३ त्रिभुवन पउम चरिउके परिवर्धित अशको पउम चरिउका शेप मानता है। जिसका अर्थ पूरक है।

४ एक ही कवि सभी ग्रन्थ अधूरे नही छोड सकता।

५ त्रिभुवनको अपने पितामें पूरी आस्था थी।
यदि उक्त तीनो ग्रन्थ पूरे होते, तो वह प्रक्षिप्त अश उसमें जोडनेकी घृष्टता नही करते।

६. मोह शब्द उक्त पद्यमें विचारणीय है।
अत इन तथ्योको दृष्टिमें रखकर आपका विचार यह है कि कवि पउम चरिउको पूरा किये बिना ही घवलइयाके आश्रयमें चला गया होगा। वहाँ उसने नया ग्रन्थ शुरू कर दिया, किन्तु अचानक मृत्यु हो जानेसे उसके पुत्रको दोनो पूरे करने पडे। आपके मतसे 'सयंभूदेव उव्वरिअ तिहुअण सयंभू समाणिअ' आदि शब्दोका अर्थ बचा हुआ करना चाहिए।

हम देख चुके है कि पउम चरिउका आधार पद्मपुराण और विमल-सूरिका पउम चरिय है। रविषेणके पद्मपुराणमें सृष्टि, वश समुत्पत्ति, प्रस्थान, सवेग, लवणकुश-उत्पत्ति, भवोक्ति और परिनिर्वृति ये सात अधिकार है। विमलसूरिमें भी यही बात है। पर स्वयभूके पउम चरिउ की ८२ सन्धिमें केवल पांच अधिकार ही आते हैं। बाक़ी दो भी उपेक्षणीय नही। अत पउम चरिउ अधूरा ही था। एक बात यह भी है कि पउम-चरिउकी २३ और ४३वी सन्धिमें नये मगलाचरण हैं। ये काव्य-निर्माणके बीचमें लम्बे विरामके द्योतक हैं, नही तो बीच कथामें इनकी आवश्यकता नही थी। अत स्व० प्रेमीजीके अनुसार सभी पूर्ण थे, डॉ० जैनके मतसे कुछ पूर्ण और कुछ अपूर्ण थे। डॉ० भायाणीके अनुसार सभी अधूरे थे। इनमें प्रेमी और डॉ० भायाणीके मतोके विवेचनसे डॉ० जैनके मतका

समाधान हो जायेगा। प्रेमीजी और डॉ० भायाणी दोनो यह मानते हैं कि त्रिभुवनने मूल ग्रन्थमें कुछ अपनी ओरसे जोडा। असली विवाद इस बात-का है कि ये कृतियाँ पूर्ण थी या अधूरी। उक्त पद्यकी चर्चा हम बादमें करेंगे। मै प्रेमीजीका मत ठीक समझता हूँ, यद्यपि उनके सभी तर्कोंसे सहमत नही हूँ। इसी तरह डॉ० भायाणीके कई तर्क ठीक है, फिर भी उनके मनसे मैं सहमत नही। इसके निम्न कारण है—

१ सभी कृतियाँ अधूरी नही मानी जा सकती।

२ 'उव्वरिअ'का डॉ० भायाणीने सन्तोषजनक अर्थ नही किया।

३ पउम चरिउकी २३ और ४३वी सन्धियोके शुरूमें मगलाचरण, लम्बे विश्रामके नही, अपितु कथाके नये मोडके द्योतक हैं। ये मोड हैं क्रमश रामका वनवास और राम-रावण युद्धकी भूमिकाका प्रारम्भ।

४ यदि रिट्ठणेमि चरिउकी रचनामें सवा छह वर्ष लगे तो पउम चरिउमें चार वर्ष लगना कोई बडी बात नही। इतने लम्बे कालमें बाधा आना स्वाभाविक है, पर इससे यह नही कहा जा सकता कि बाधाके कारण कविने एक काम अधूरा छोडकर दूसरा काम हाथमें ले लिया।

५ पउम चरिउके अन्तिम दो अधिकार स्वयभूने जान-बूझकर नही दिये, क्योकि वह रामकथाका काव्योचित ढगसे उपयोग करना चाहता था। डॉ० भायाणीने उन्हें यापनीय सिद्ध करनेके लिए स्वय यह स्वीकार किया है।

६ यदि किसी अप्रत्याशित कारणसे कविकी मृत्यु हुई होती तो त्रिभुवन अवश्य इसका उल्लेख करते।

७ अन्यत्र हमने दिखाया है कि अपभ्रश चरित-काव्य पढे भी जाते थे, अन्य मतमें 'लवकुश' आदि घटनाएँ थी, हो सकता है, किसी स्वाध्याय-प्रेमीके अनुरोधसे त्रिभुवनने कुछ और जोड दिया हो। इसके दो कारण हो सकते हैं, (१) पौराणिकता, (२) जैनेतर घटनाओका जैन दृष्टिसे परिचय कराना।

अब लीजिए ९९वी सन्धिका अन्तिम उक्त पद्य। इसमे कवि त्रिभुवन कहता है कि मैं सुद्धय चरिउ और पउम चरिउको (शेष भागोको) पूरा कर चुका, अब हरिवशके बारेमें (लोगोका) मोह दूर करनेके लिए उसमें हाथ लगाता हूँ। यह काम विश्रामजनक है। यदि 'सुद्धय चरिउ'

स्वयभूने लिखा हो, तो उनके पुत्रने उसमे अवश्य कुछ-न-कुछ जोडा होगा, भारतीय साहित्यमें ऐसा होना कोई असम्भव बात नही। जहाँतक जसकीर्ति-द्वारा प्रक्षिप्त अशका प्रश्न है वह बहुत बादका है। मैं समझता हूँ अन्य स्रोतसे रिट्ठणेमि चरिउकी मूल प्रति मिल सकती है। मूल अशके साथ प्रक्षिप्त अंशकी भाषागत तुलना करनेसे भी कुछ लक्ष्य हाथ लग सकता है। अधिक सम्भावना यही है कि पूरी रचनामें कुछ और बढाया गया। स्वयंभू छन्द भी महत्त्वपूर्ण कृति है। पर उसकी प्रति अपूर्ण है। अत प्रारम्भिक अंश और प्रशस्ति न होनेसे, लेखके विषयमे भ्रम हो सकता है। परन्तु अन्तरंग प्रमाणोसे यह सिद्ध होता है कि स्वयभू छन्द और पउम चरिउका कर्त्ता एक ही स्वयभू है। क्योकि इसमें उदाहरणके लिए दूसरे कवियोके पद नामसहित हैं। जो खुदके हैं, उनमें नाम नही है। पर वे पउम चरिउके हैं। आठ अध्यायोमें-से पहले तीनमें प्राकृत छन्दका विचार है। शेषमें अपभ्रश छन्दका। यह भाग कई दृष्टियोसे महत्त्व रखता है—

१ अपभ्रंश छन्दपर पहली रचना है। २ व्यवस्थित है। ३. प्राचीन है। ४. कवि-द्वारा रचित है। ५. पूर्ववर्ती कवियोके पद उदाहरणसहित हैं। वे लुप्त होनेसे बच गये, डॉ० भायाणीने इसका काफी विचार किया है (प० च० भूमिका)

अन्य ग्रन्थ—अनुमान है कि कविने एक व्याकरण ग्रन्थ भी लिखा था। कविकी प्रशसामें एक पद्य है, उसमें लिखा है कि अपभ्रशका मस्त गज तभीतक स्वच्छन्द घूमता है, जबतक स्वयभूका व्याकरणरूपी अंकुश उसे नही लगा। एक जगह उसकी तुलना पचाननसे दी गयी है जिसमें कहा गया है कि उसकी सच्छन्दरूपी विकट दाढें हैं, छन्द और अलकारोके नखोसे जो दुष्प्रवेश्य है। व्याकरणरूपी उसका अयाल है। (प० च० भूमिका, पृ० १२१, श्लो० ३, ४) परन्तु यह आलकारिक वर्णन भी हो सकता है।

रचनाका ध्येय—कवि अपना ध्येय इस प्रकार बताता है। 'पुणु अप्पाणउ पायडमि रामायणकावें' (प० च० १, ३) रामायणके द्वारा मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ। अर्थात् कवि काव्यको आत्माभिव्यक्ति-का साधन मानता है। यदि कविको देखना हो तो उसके काव्यको देखो, न कि उसके पार्थिव रूपको। यह हुआ शुद्ध साहित्यिक लक्ष्य। लौकिक लक्ष्य है लोकमें यशकी प्राप्ति। इसीलिए वह ग्रन्थको निर्मल पुण्य पवित्र

कथा कीर्तनसे प्रारम्भ करता है, क्योंकि इससे लोकमे कीर्ति बढती है।

णिम्मल पुण्ण पवित्त कह कित्तणु आढप्पइ।

जेण समाणिज्जतएणं थिर कित्ति विढप्पइ ॥ (प० च० १, ४)

कथाएँ बहुत है, पर कविको पुण्यकथाका कीर्तन ही इष्ट है। इसीसे कीर्ति मिलती है। यह कीर्तन उसने ग्राम्यतारहित सामान्य भापामें किया है।

अपने काव्यसम्बन्धी विचार कविने स्पष्ट रूपसे नही रखे, पर पउम चरिउके प्रारम्भमे रामकथाके नदी रूपकसे कई तथ्य सम्मुख आते है। उसमें उपमान-उपमेय रूपमें इतनी बातें है—

	उपमेय	उपमान
१	अक्षरका ठीक विन्यास	जलसमूह
२	सुन्दर अलकार और छन्द	जलचर
३	दीर्घ समास	प्रवाह
४	सस्कृत प्राकृत शब्द	किनारे
५	देश भापाकी प्रचुरता	जल
६	अर्थबहुलता	तरगें
७	आश्वास	तीर्थ (प० च० १, ४)

कविकी रामकथामे इन बातोका वही महत्त्व है जो नदीमे उपमान गत धर्मोका। इसमे सस्कृत और प्राकृतके बन्धका अनुबन्ध भी है, क्योंकि सस्कृत प्राकृत रामकथाकाव्य कविकी कथाके उपजीव्य है। कविकी आत्मविनयसे स्पष्ट है कि वह अपने युगकी काव्य-परम्परासे परिचित है। भरत, व्यास, पिंगल, भामह, दण्डी, इन्द्र, बाण, श्रीहर्ष आदिका उन्होने उल्लेख किया है। स्वयभू छन्दमें प्राकृत और अपभ्रश कवियोंके नाम भी दिये हैं। इससे उनके साहित्य-ज्ञानका अनुमान लगाया जा सकता है।

स्वयभू भारतके उन भाग्यशाली कवियोंमें है, जिन्हें अपने जीवन-कालमें ही ख्याति मिल गयी। अभीतक सस्कृत-प्राकृतके विशाल साहित्यके बीच अपभ्रश काव्यकी जो मन्दधारा बहती आ रही थी, कविने अपनी अनुभूति और प्रतिभाके द्वारा उसे सरिता (रामकथारूपी नदी) का रूप दिया। वह काव्य और शास्त्र दोनोमें पारगत थे। इसलिए उनके काव्यमे भक्तिकी तन्मयता और काव्यकी सरसता दोनो है। प्रकृति-चित्रण और निरीक्षणकी क्षमता उनमें थी। पुत्र त्रिभुवनकी पिताके बारेमें जो प्रशसापूर्ण उक्तियां हैं, वे निराधार नहीं है। परवर्ती कवियोने उनका

सम्मानके साथ उल्लेख किया है। आ० हेमचन्द्र उन्हे छन्दशास्त्रके महान् आचार्योमे रखते है। राजशेखर अपने छन्दशेखरकी रचनामें स्वयंभू छन्दका बहुत कुछ ऋणी है। परवर्ती अपभ्रंश कथा-काव्य स्वयंभूकी रचनाओसे प्रभावित है। निस्सन्देह वह उच्चकोटिके भाषा-कवियोमे प्रमुख थे। छन्दचूडामणि, कविराज धवल आदि उनके विरुद थे।

२. पुष्पदन्त (१०वी सदी अनुमानित)

ये कश्यप गोत्रके ब्राह्मण थे। उनके पिताका नाम केशवभट्ट और माँका मुग्धादेवी था। णायकुमार चरिउकी प्रशस्तिमे कवि अपने माता-पिताकी कल्याण-कामना करता है। इससे जान पडता है कि वह पहले शैव थे। प्रारम्भमें उन्होने किसी भैरवनरेन्द्र (शैवराजा) की प्रशसामें कोई काव्य भी लिखा था। बादमे आश्रयदाता भरतके अनुरोधसे (म० पु० १, पृ० ७) जिन-भक्तिसे प्रेरित होकर काव्य-रचना की। प्रेमीजी प्रसिद्ध शिवमहिम्न स्तोत्रके लेखक पुष्पदन्तसे इनकी पहचान करते हैं (पृ० ३०२)। पर यह अधिक सगत नही जान पडता। कविके पारिवारिक जीवनके विषयमे कुछ भी पता नही चलता। सम्भवत. वह एकाकी थे। उनकी उक्तियो और भावुक वर्णनसे यही जान पडता है कि वह स्वाभिमानी, उग्र और एकान्तप्रिय व्यक्ति थे।[1]

अपने जन्म और स्थानके विषयमें कविने कोई सूचना नही दी। प्रेमीजी उन्हें दक्षिणमें 'बाहरका आया' मानते है। (पृ० ३०३, ३०४) क्योकि उनके साहित्यमें द्रविड शब्द नही है। अधिकाश अपभ्रश साहित्य उत्तरमें लिखा गया। मराठी शब्द कुछ मिलते हैं। अत उन्हें बरारका निवासी होना चाहिए। मुझे उसमें कोई आपत्ति नही। परन्तु इसके लिए अभी और ठोस प्रमाणकी जरूरत है। क्योकि अपभ्रश व्यापक काव्य-भाषा थी। अत किसी भी प्रान्तका व्यक्ति उसमें रचना कर सकता था। डॉ० वैद्य 'डोड्ड' 'वोड्ड' आदि शब्दोको कन्नडका मानते हैं। (म० पु० ३, ३०८, ३१२)। कविने लिखा है कि वह 'मलखेड' पहुँचा था। पर कहांसे, यह उसने नही बताया। उस समय विदर्भ साहित्य-साधनाका केन्द्र था। हो सकता है कवि वहींसे आया हो। कविके जीवनके विषयमें भी अप्रत्यक्ष रूपसे

१ डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने पुष्पदन्तकी पहचान, अपनी आदिकाल पुस्तकमें हिन्दीके पुष्पभाट कविसे की है। पुष्पभाट दोहाकार था। वह और पुष्पदन्त एक नहीं हो सकते।

जानकारी मिलती है। उसने धवल, जयधवल ग्रन्थोका उल्लेख किया है। इनमें जयधवलाकी टीका वीरसेनके शिष्य जिनसेनने अमोघवर्ष प्रथम (८३७ ईस्वी) के समय की थी। हरिषेणकी धर्मपरिक्खामे (८३७–९८७ ईस्वी) पुष्पदन्तका उल्लेख है। कविने लिखा है 'कन्हरायकी जल-वाहिनीसे जो दुर्गम है, जिसके धवलगृहोंसे मेघमाला टकराती है, ऐसी वहुत वडी मान्यखेट नगरी है।' कन्हरायका अर्थ कृष्णराज है। परन्तु राष्ट्रकूट वशमें कृष्ण नामके तीन राजे हुए हैं। इनमें पहला शुभतुग उपाधि-धारी था। वह यह नही हो सकता, क्योकि उसके वाद ही अमोघवर्ष प्रथमने मान्यखेटको वसाया था। दूसरा कृष्ण भी नही हो सकता, क्योकि उसके समय गुणभद्रने उत्तरपुराण रचा था। दूसरे पुष्पदन्तके कई वर्णन, इसके साथ मेल नही खाते। अत कृष्ण तृतीय ही इनका सम-कालीन ठहरता है। इसके समर्थनमें ये तर्क दिये जाते है – १ पुष्पदन्तने लिखा है 'तोडेप्पणु चोडहो तणउ सीसु'। इतिहाससे यह सिद्ध है कि कृष्ण तृतीयने चोलपर विजय प्राप्त की थी। २ कविने धारानरेश द्वारा मान्यखेटके लूटे जानेका उल्लेख किया है। यह घटना कृष्ण तृतीयके वाद खोट्टिग देवके समयकी है।[1] धनपालने 'पाइय-लच्छी' नाममालामे लिखा है कि वि० स० १०२९ मे मालव नरेन्द्रने मान्यखेटको लूटा।[2] ग्वालियरके एक शिलालेखमे अकित है कि हर्षदेवने खोट्टिग देवकी राज्यलक्ष्मीको युद्धमे छीन लिया। (इण्डिका ग्राफिका जि०१, पृ०२२६) यह हर्षदेव ही हमारा धारानरेश है और उसने कृष्ण तृतीयके उत्तराधिकारी खोट्टिगपर चढाई की थी। अत कविका इनका समकालीन होना निर्विवाद है। इस सम्बन्धमें एक शका यह है कि महापुराण शक सवत् ८८७ में पूर्ण हो चुका था और मान्यखेटकी लूट शक सवत् ८९४में हुई, अत उसका उल्लेख कैसे हो गया। हम समझते है कि उक्त सस्कृत श्लोक वादका प्रक्षिप्त है। मूल ग्रन्थमे उसका सम्वन्ध नहीं। श्री जुगलकिशोर मुख्तार जसहर चरिउकी अन्तिम प्रस्तावनाके आधारपर पुष्पदन्तको वहुत परवर्ती मानना चाहते थे। पर अव यह प्राय सिद्ध हो चुका है कि वह अश वहुत वादमें प्रक्षिप्त हुआ। सोमदेवने जिस समय अपना यशस्तिलक समाप्त किया, उस समय कृष्ण तृतीय मेलपाटी-

---

१ धारानरेन्द्रकोपशिखिना दग्ध विदग्ध प्रियम्।
क्वेदानीं वसतिं करिष्यति पुन श्रीपुष्पदन्त कवि ॥

२ विक्कम कालस्स गए अउणुत्ति सुत्तरे सहस्सम्मि।
मालव नरिंद धाडीए लूडिए मण्णखेडम्मि ॥ – पृ० २८६

मे पडाव डाले हुए था। (पृ० ४१९) सोमदेव भी इसे चोलविजेता बताते है। पुष्पदन्तने भी मेलपाटीमें स्वयं रहनेका उल्लेख किया है। इन सब प्रमाणोसे वह कृष्ण तृतीयके समकालीन सिद्ध होते हैं।

साहित्य—

इनकी कुल तीन रचनाएँ प्राप्त है – णायकुमार चरिउ, महापुराण और जसहर चरिउ। सबका परिचय अन्यत्र दिया है। रचना-क्रम यही है। कवि शक सवत् ८८१ में मेलपाटी पहुँचा। तबसे शुरू कर ८८७ में उसने महापुराण पूरा किया। जसहर चरिउकी समाप्ति तक मान्यखेट लूटा जा चुका था। इस तरह कोई १३ वर्ष वह मेलपाटीमें रहा। प्रेमीजीका अनुमान है कि हेमचन्द्रने अभिमान चिह्नके नामसे जो अवतरण 'देशीनाममाला'में दिये हैं, वे अवतरण इन्ही पुष्पदन्तके हैं। सम्भव है उन्होने कोई देशी शब्दकोश रचा हो।

आश्रयदाता—कविके आश्रयदाता भरत और नन्न थे। भरत महामात्य वशमें उत्पन्न हुए थे। अपने समयके वह प्रतापशाली और प्रभावशाली मन्त्री थे। वह शस्त्रज्ञ और शास्त्रज्ञ दोनो थे। कवि उनकी प्रशसा करते हुए कभी नही अघाता। इसमें कुछ सचाई भी है। भरतमें दो गुण बहुत अच्छे थे – एक तो साहित्यसे प्रेम और दूसरे मनुष्यके स्वभावकी परख। पुष्पदन्त-जैसे उग्र, भावुक, स्वाभिमानी[1] राजनीतिके कटु आलोचक कविको अपने पास रखकर, इतना काम ले लेना, भरतके लिए ही सम्भव था। परन्तु भरतके पास आनेके पहले ही, पुष्पदन्त साहित्य-जगत्में कीर्ति अर्जित कर चुके थे। सम्भव है भरतने इसी कारण उन्हें अपने यहाँ रखा हो। वह समय-समयपर कविको काव्य-रचनाके लिए उत्साहित भी करते रहते थे। भरत कौडिन्न गोत्रके थे। पिताका नाम एरण और मॉंका देवी था। धर्मपत्नीका नाम कुन्दव्वा था। उनके सात पुत्र थे। उनके अधीन सेनाविभाग और दानविभाग था। (म० पु० १, पृ० १७) कविने उन्हें 'प्राकृतकाव्यरसालुब्ध' कहा है। मन्त्री और कविकी आपसमें कैसी पटती थी इसका एक घटनासे पता लग जायेगा। एक बार आदिपुराणके बाद कविका मन विरक्त हो गया। यह देखकर भरत बोले, 'तुम उन्मन और निष्प्रभ क्यो हो, तुम्हारा मन

---

१. धनु तणु समु मज्झु ण त गहणु णेहु णिकारणु इच्छामि।

—म० पु० २, पृ० ६

ग्रन्थ-रचनामें नही है, क्या किसीने तुम्हें विरत कर दिया, क्या मुझसे कोई अपराध बन पडा है। मैं हाथ जोडकर तुम्हारे आगे यह बैठा हूँ। तुम्हें वाणीरूपी कामधेनु सिद्ध है, उसे क्यो नही दुहते।" यह सुनकर कविने फिरसे लिखना स्वीकार कर लिया। पुष्पदन्त, भरतके बाद उनके पुत्र नन्नके आश्रयमें रहे। नन्न वल्लभनरेन्द्रका गृहमन्त्री था। नन्नके घरमें कविने जसहर चरिउकी रचना की। (जस० च० पृ० ३) महा-पुराणकी उत्थानिकामें कविने तुडिग राजाका नाम दिया है। यह कृष्ण-राजका घरेलू नाम था। इसके अतिरिक्त वल्लभराय, वल्लभनरेन्द्र, शुभतुग देव और कन्हरायका भी उल्लेख आया है। इनमे वल्लभराय राष्ट्रकूट-नरेशोकी उपाधि थी जो उन्होने चौलुक्य-नरेशोको जीतनेके उपलक्ष्यमें प्राप्त की थी। शेष सब इस वशके ऐतिहासिक राजा हैं। (प्रेमी ३२१)

उद्देश्य—कविके साहित्यका उद्देश्य शुद्ध धार्मिक है। कविने स्वय लिखा है कि भैरव राजाका स्तुति-काव्य बनानेसे जो मिथ्यात्व उत्पन्न हुआ था उसे मिटानेके लिए ही उसने महापुराणकी रचना की। (म० पु० १, पृ० ४) उसने 'धर्मके अनुशासनके आनन्दसे भरित नाभेय चरित की रचना' की है। (म० पु० पृ० ६) उसकी समस्त रचनाएँ जिन-भक्तिसे उसी तरह प्रेरित हैं जिस तरह तुलसीकी रामभक्तिमे। एक जगह मन्त्री भरतसे वह कहता है, 'लो तुम्हारी अभ्यर्थनापर मैं जिन-गुण वर्णन करता हूँ। पर धनके लिए नही केवल अकारण स्नेहके लिए।'[1] फिर वह कहता है, 'जिनपदभक्तिसे मेरा कवित्व वैसे ही फूट पडता है जैसे मधुमासमें आमके बौरोपर कोयल कूक उठती है। काननमें भ्रमर गूँजने लगते हैं। कीर आनन्दसे भर उठता है।'[2]

कविने सरस्वतीकी जो वन्दना की है, उससे उनके काव्यसम्बन्धी विचार ये जान पडते हैं, 'कोमल पद, पर कल्पना गूढ हो, भाषा प्रसन्न और गम्भीर होनी चाहिए। वह छन्द और अलकारको काव्यकी गतिका आवश्यक साधन मानता है। शास्त्र और अर्थ-तत्त्वकी गम्भीरता हो।'

---

१ मज्झुकइत्तणु जिणपद भत्तिहि, पसरइ णउ णिय जीविय वित्तिहि।
—म० पु० ?, ६

२ वोल्लइ कोइल अवय कलियहि। काणणि चच्चरीउ रुणुरुटइ॥
—वही

(म० पु० १) इस कसौटीपर कविका काव्य खरा उतरता है। कवि बार-बार अलकृत या रसभरी कथाकी उपमा देता है। (म० पु० २, पृ० १८, ४३, १३७, १५८, २१२, ३५५) इनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि कथाका निर्वाह ठीक हो। उसमें रस हो। अलकार हो। महापुराण (२ पृ० २९१) तथा णायकुमार चरिउ (३२, ४४, ४९) मे इसी तरहकी उपमाएँ है। जसहर चरिउ (१८) में एक उपमा इस प्रकार है 'तणुरुहु कव्वत्थु व रइमईए।' कवि काव्य-रचनामें सबसे बडी वस्तु गहन अनुभूतिको मानता है। इसके प्रभावमें कविबुद्धि न तो काव्यार्थ रूप पुत्रको जन सकती है और न कवि ही काव्य भावबद्ध कर सकता है।

व्यक्तित्व—कविका घरेलू नाम सम्भवतया 'खण्ड' था। 'खण्डूजी' आदिके रूपमें ये नाम महाराष्ट्रमें अब भी चलते हैं। उनका स्वभाव बहुत खरा था। राज्य और राजासे उन्हें बडी चिढ हो गयी थी। भरत, बाहुबलिके प्रसंगमें वह राजाको चोर और लुटेरा कहनेसे नही चूकते। उनके उपाधि नाम भी कई थे। अभिमानचिह्न, कविकुलतिलक, सरस्वती-निलय, काव्य पिसल्ल इत्यादि। महापुराण (३) के अन्तमें कविने अपना परिचय इस प्रकार दिया है,

सूने घरो और देव-कुलिकाओमें रहनेवाले, कलिके प्रबल पापपटलो-से रहित, बेघर-बार, पुत्र-कलत्रविहीन, नदियो वापियो और सरोवरोमें स्नान करनेवाले, पुराने बल्कल और वस्त्र धारण करनेवाले, धूलधूसरित अग, दुर्जनके सगसे दूर रहनेवाले, जमीनपर सोनेवाले और अपने हाथो ओढनेवाले, पण्डित, मरणकी इच्छा रखनेवाले, मान्यखेटवासी अरहंतके उपासक भरत-द्वारा सम्मानित, काव्य प्रबन्धसे लोगोको पुलकित करनेवाले, पापरूपी कीचडको धोनेवाले, अभिमानमेरु पुष्पदन्तने यह काव्य, जिनपद-कमलोमें हाथ जोडे हुए भक्तिपूर्वक कोधन संवत्सरमें असाढ सुदी दसवींको बनाया।'

इन पक्तियोमें कविका साहित्यिक और व्यक्तिगत दोनो तरहका जीवन अकित है। प्रेमीजीके शब्दोमें 'इमसे कविकी प्रकृति और निस्सगताका एक चित्र-सा खिंच जाता है।' इसमें सन्देह नही कि कविको एक ही भूख थी और वह थी नि स्वार्थ प्रेमकी। भरतने भी अपनी सुजनतासे इस भूखको शान्त कर दिया। वे एक दूसरेके पूरक थे। कविमें अभिमान था तो भरतमें विनय। एक भावुक था तो दूसरा विचारशील। पुष्पदन्त-

का फक्कडपन देखिए कि जीवन-भर काव्य-साधना की, फिर भी अपनेको वह 'काव्य पिसल्ल' – 'काव्यका पिशाच' कहनेसे नही चूके। अपने परिचयमें वह कहते हैं, 'दुवला-पतला साँवला शरीर एकदम कुरूप, पर स्वभाव हँसमुख। जब बोलता तो दन्त-पक्तियोंसे दसो दिशाएँ धवल्ति हो जाती।' इससे वढकर निरहकारी और स्पष्टवादी कौन हो सकता है!

कविके व्यक्तित्वमें कई विरोधी बातोका विचित्र सम्मिलन था। वह अपनेको सरस्वतीनिलय मानते है और यह भी कहते है कि मैं 'कुक्षिमूर्ख' हूँ। एक ओर वह ताबमें आकर सरस्वतीसे कहते हैं कि तुम कहाँ जाओगी और दूसरी ओर यक्ष-यक्षिणियोसे काव्य-रचनाकी भीख माँगते है। वह विलास और रूपसे दूर है, पर काव्यमें इनका खूब चित्रण करते है। वह दुनियाके एक कोनेमें रहना पसन्द करते थे, पर दुनियाका ज्ञान और अनुभव उनके काव्यमे भरा पडा है। अपनी इस विरोधी प्रकृतिके कारण उन्होने काव्यमें विरोधाभास और श्लिष्ट शैलीका खूब प्रयोग किया है। वह शैवसे जैन बने थे और राज-स्तुतिसे जिन-भक्तिकी ओर झुके थे।

स्वयंभू और पुष्पदन्त—स्वयभूकी रामकथा यदि नदी है तो इनका महापुराण समुद्र। उनकी वाणी अलकृता, रसवती और जिन-भक्तिसे भरी है। उनके काव्यमें ओज और प्रवाह हैं। कई शैलियोका प्रयोग है। श्लिष्ट और सरल, कोमल और कठोर, सभी शैलियाँ हैं। दर्शन और शास्त्रीय ज्ञानका प्रदर्शन है पर अनुभूति पीछे नही है। प्रकृतिके उभयरूप उन्हें आकृष्ट करते है। ठाट-बाटसे कहानी कहनेमें वह निपुण हैं। उनके जीवनमें ही उनकी प्रतिभा चारो ओर फैल गयी थी। कोई उन्हें 'काव्य-पिसल्ल' कहता था तो कोई विद्वान् (म० पु० २, पृ० ६)। हरिषेण तो यहाँतक कहता है, 'पुष्पदन्त मनुष्य थोडे ही है, सरस्वती उनका पीछा नही छोडती' (ध० प०)। बाणके बाद राजनीतिका इतना उग्र आलोचक दूसरा लेखक नही हुआ। सचमुच मेलपाटीके उस उद्यानमें हुई भरत और पुष्पदन्तकी भेंट भारतीय साहित्यकी बहुत बडी घटना है। यह अनुभूति और कल्पनाकी वह अक्षय धारा है, जिसने अपभ्रश साहित्यका उपवन हरा-भरा हो उठा। मन्त्री भरत मानी थे, और कवि पुष्पदन्त कवि, उनके स्नेहके आलवालमें कविका काव्यकुसुम (म० पु०) खिल उठा।

३. धनपाल (१०वीं सदी अनुमानित)

इनकी भविसयत्तकहा जितनी प्रसिद्ध है, जीवनी उतनी ही अज्ञात है। ग्रन्थके अन्तकी प्रशस्तिसे इतना ही मालूम होता है कि वह धक्कड वशके थे। उनके पिताका नाम भाएसर और माताका धनश्री देवी था। वह जैन थे, पर किस सम्प्रदायके थे यह उन्होने नही लिखा। डॉ० जैकोबी-ने उन्हें दिगम्बर सिद्ध किया है, क्योकि भजवि जेण दिगबरि लायउ (५, २०) और सोलहवें स्वर्गका उसमें उल्लेख है।

यह धक्कड जाति पश्चिमी भारतकी वैश्य जाति थी। देलवाडामें तेजपालका वि० सं० १२८७ का एक शिलालेख है, उसमें धर्कट या धक्कड जातिका उल्लेख है। आबूके शिलालेखोमें भी इसका उल्लेख है। प्रारम्भमें यह राजस्थानकी मूल जाति थी। पर अब बरार और निजाममें भी है। पाइयलच्छीका लेखक, धारानिवासी धनपाल इस कविसे भिन्न व्यक्ति है। इनके समयके विषयमें कुछ भी पता नही लगा, पर भाषाके आधारपर जैकोबी इन्हें १०वी सदीका मानते हैं। क्योकि इनकी भाषा हरिभद्र सूरिके नेमिनाह चरिउसे मिलती है। मुनि जिनविजयने हरिभद्रका समय ७०५ से ७७५ के बीच माना है (जै० सा० स० १)। श्री गुणे निम्न-लिखित कारणोके आधारपर इन्हें १०वीका सिद्ध करते हैं —

१ भाषाके रूप और व्याकरणकी दृष्टिसे इसमें शिथिलता और अनेकरूपता है। अत यह तब लिखी गयी जब अपभ्र श बोली जाती थी।

२. हेमचन्द्रके समय अपभ्रश रूढ हो चुकी थी। वह १२वीमें हुए अतः दोनोके बीच दो-ढाई सौ वर्षका अन्तर होना चाहिए।

मेरी समझसे इन्हें १०वींका मानना असगत नही। कविने अपने काव्यको 'चरित कीर्तन' कहा है। बार-बार कवि अपनेको सरस्वतीका पुत्र कहता है। इससे जान पडता है कि उन्होने काफी शास्त्रचिन्तन किया होगा। अलंकृत शैलीकी अपेक्षा धनपाल काव्यको मनुष्य-हृदयके निकट रखना अधिक पसन्द करते थे। थोडी-सी अतिरजना और धार्मिक अशको छोडकर उनकी रचना लोक-हृदयके बहुत निकट है। उनका कथानायक दरबारी न होकर वणिक् है, भावोंके घात और प्रतिघात, घटनाओकी स्वाभाविक योजना, पृष्ठभूमि देकर भावोकी अभिव्यजना,

सम्बन्ध-निर्वाहमे कविको काफी सफलता मिली। प्रथम श्रेणीके अपभ्रंश कवियोमें उनकी गिनती होनी चाहिए।

४. कवि धाहिल

इनके जीवन, समय और स्थानके बारेमें कुछ पता नही चलता। पउमसिरी चरिउकी अन्तिम प्रशस्तिसे इतना ही ज्ञात होता है कि वह शिशुपालवधके लेखक कवि माघकी परम्परामे उत्पन्न हुए। कवि माघ श्रीमालवशी गुर्जर वैश्य थे। गुर्जरवशकी पुरानी राजधानी भिन्नमाल उनकी जन्मभूमि थी। यह विक्रमकी ८वी सदीमें हुए। कवि धाहिल उनसे चार-पाँच पीढियो बाद हुए होगे। अत भाषा और विषय-शैलीको ध्यानमें रखते हुए उन्हे १०वींके आसपासका होना चाहिए। डॉ० भायाणी उन्हे माघसे आठ-नौ पीढी बादका मानते हैं। (प० सि० च० १५)

कविने अपनी रचनाको 'कर्ण रसायन धर्म कथा' कहा है। वह अपनी शैलीको रम्य बनानेके पक्षमें हैं। 'ललित अक्षरोमे उसने अर्थ सार दिया है' उसका काव्य 'तरुणी-जनकी तरह बहुविकार (चेष्टा और भाव) वाला है।' असलमें कवि इसमे पारिवारिक समस्याका धार्मिक हल खोजनेके पक्षमें है। परन्तु किसी समस्याको रखते समय वह यथार्थवादी दृष्टिसे मानवी स्वभावका चित्रण करता है। धार्मिक कल्पनाका रग होनेपर भी, एक धनी परिवारमे विधवा लडकीकी स्थिति, गृहकलह, घरेलू कूटनीति, गन्धर्वविवाहकी रोमाण्टिक प्रवृत्तिका सुन्दर वर्णन है। वियोगिनी पद्मश्रीके विलापकी व्यजनामे कवि प्रकृतिका तादात्म्य भी करता है। कुल मिलाकर, धार्मिक होते हुए भी यह चरितकाव्य सरस, भावपूर्ण और काव्योचित है। धाहिलका उपनाम दिव्यदृष्टि था।[1]

५. मुनि कनकामर (१२वीं सदी अनुमानित)

करकण्ड चरिउके अन्तमें कविने जो प्रशस्ति दी है उसके अनुसार वह ब्राह्मण वशके चन्द्रऋषि गोत्रमें उत्पन्न हुए। बादमे दिगम्बर दीक्षा लेकर जैन मुनि हो गये। उनके गुरु पण्डित मगलदेव थे। कनकामर दीक्षाका नाम है। घूमते-घामते ये आशानगरीमें आकर ठहर गये। वहीपर एक भक्त सज्जनके अनुरोधसे उन्होंने इस काव्यकी रचना की। उक्त

१– प० सि० च०, पृ० ४०।

प्रशस्तिमे कविने अपने भक्त जनकी लम्बी-चौडी प्रशंसा की है। पर यह नही लिखा कि वह कहाँके थे और क्या थे। केवल यह सकेत कर दिया है कि राजा विजयपालके स्नेहभाजन थे। भूवाल राजा उनपर मुग्ध था और राजा कर्णके वह भावरजक थे। (कर० च० १०७) इससे इतना तो निश्चित है कि कविके भक्त महाशयका तीन राजाओसे सम्बन्ध रहा और राजनीतिसे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था।

यह आशानगरी कहाँ थी, यह अभीतक निर्णीत नही हो पाया। डॉ० हीरालालने इस नामकी चार नगरियाँ ढूँढ निकाली है। (कर० च० भूमिका ३)— १. आसाई हैदराबाद, यहाँ प्रसिद्ध अँगरेज़-मराठा लडाई हुई थी, २ आसी (बूँदी राजपूताना), ३ आसापुरी कागडा पजाब, और ४. असीरगढका किला (खानदेश) यहाँ आशादेवीका कभी महत्त्व था। इनमें सख्या २,३ और ४ का प्रस्तुत विषयसे कोई सम्बन्ध नही बैठता। परन्तु डॉ० हीरालाल कतिपय शिलालेखो और प्रमाणोके आधारपर आसापुरीका अस्तित्व बुन्देलखण्डमें मानते है। (कर० च० भूमिका पृ० ३) वह कविके विजयपालकी पहचान १०९७ के किसी चन्देलवशी राजासे करते हैं। इसमें सन्देह नही कि डॉ० साहबने काफी श्रम और खोजके बाद अपनी यह सम्भावना व्यक्त की है, पर ग्रन्थ-रचनाके उद्देश्य और दूसरे अन्तरग प्रमाणसे बुन्देलखण्डकी आसापुरीका समर्थन नही होता। एक तो इस नामकी नगरी वहाँ नही मिली, दूसरे वहाँके किसी ऐतिहासिक राजासे इन राजाओकी पहचान नही होती। तीसरे बुन्देलखण्डमें अपभ्रश काव्य-साधनाकी कोई परम्परा नही मिली इसलिए इसे कविकी आसानगरी मानना ठीक नही। वैसे डॉ० साहब हैदराबादकी आसाईको भी उपयुक्त मानते हैं, परन्तु केवल नामके आधारपर ऐसा माननेमें उन्हें हिचक है। (वही, भूमिका पृ० २)। परन्तु अन्तरग प्रमाणसे यही सिद्ध होता है।

इस काव्यके लक्ष्य है—श्रुतपंचमीका फल, पचकल्याणक विधिकी प्रतिष्ठा। कवि शुरूमें ही कह देता है कि मैं करकण्डुके उस चरितका वर्णन करता हूँ जो कल्याणकविधिरत्नसे कलित है। यहाँ कल्याणक विधिका अर्थ पचकल्याण विधानसे है। नायक करकण्डु, अन्तमें यह विधान करता भी है। उसने लयण भी बनवायी (देखो, वस्तुतत्त्व)। कविने लयणका वर्णन भी किया है। इससे यही जान पडता है, वह उक्त 'आसाइय' के आसपासका होगा, फिर करकण्ड चरिउके कई वर्णन पुष्प-

दन्तके वर्णनोसे अनुप्राणित है। पुष्पदन्त मान्यखेटमे रहे। कविने उनका उल्लेख भी किया है।[1] बुन्देलखण्डमे ऐसे लयण मन्दिर नही है और न यह सम्भव है कि बहुत दूरसे आकर, कविने बुन्देलखण्डकी आशानगरीमें आश्रय लिया। फिर कवि, करकण्डुकी दक्षिण दिग्विजयका भी उल्लेख करता है। इन सब कारणोंसे 'आसाइय' ही कविकी आश्रय भूमि समझनी चाहिए। इनका समय भी प्राय अनिश्चित है। पुष्पदन्तका उल्लेख करनेसे ये ९६५ के बादके तो ठहरते ही हैं। उनकी पुस्तककी पाण्डुलिपि कमसे कम १५०२ की लिखी मिलती है अत कनकामर ९६५ से १५०२ के बीचमें कही हुए। पर पांच साढे-पांच सौ वर्षोंके अन्तराल-मे-से उनका सही जीवन-काल निकाल लेना कठिन है। डॉ० हीरालाल-जीने करकण्ड चरिउमें अकित विजयपालको चन्देलवशी मानकर १०६५ के लगभग तिथि निश्चित की है। इसमें सन्देह नही कि यह रचना ११वी के अन्त और १२वीके प्रारम्भके बीच लिखी गयी होगी। भापा और काव्यशिल्पके आधारपर यही सिद्ध होता है।

कनकामरकी केवल यही रचना है। इसका उद्देश्य है 'दु खमे रहित सुख-भरी चरित-कथा वस्तुकी रचना करना' (कर० च० १)। वह अपनी कथाको विना किसी छलके व्यक्त करना चाहता है। उनकी रचनाका महत्त्व इस वातमे विशेप है कि एक तो इसमें कई कथाओका सग्रह है, दूसरे वर्णन सक्षिप्त है, तीसरे लयण मन्दिरका वर्णन भी है। एक-दो जगह घटनाओमे आकस्मिक मोड भी है। इसमे कई कथाएँ ऐसी है जो परवर्ती कालमें भी काव्यका आधार बनती है।

६. अब्दुल रहमान (१२वी व १३वीं सदीका मध्य)

सन्देशरासककी उत्थानिकामे कविने अपना यह परिचय दिया है, 'पश्चिमी दिशामे बहुत पहलेसे म्लेच्छ देश है। उसीमें मीरसेण नामका जुलाहा हुआ। लेखक उसीका कुल-कमल था।' वह प्राकृत काव्य और गीत विपयोमें प्रसिद्ध थे। म्लेच्छ देशसे सम्भवत उनका तात्पर्य पश्चिमी भारतमे बसे हुए मुसलमानोकी बस्तियोंसे है। क्योकि अन्यत्र हम देख चुके है कि मुहम्मद बिन कासिमके समयसे ही सिन्ध मुसलमानोंके हाथमें रहा। सन्देशरासकपर लक्ष्मीचन्दने १४०९ ईस्वीमे टीका लिखी। अत

---

१ कर० च० पृ० २।

इतना निश्चित है कि वह इसके पहले हुए; पर कितने पहले, इसपर मुनि जिनविजयने अन्तरंग प्रमाणके आधारपर निम्नलिखित तर्क देकर उन्हें शहाबुद्दीन ग़ोरीके अभ्युदयके कुछ पहलेका सिद्ध किया है :—

१. रहमानने सन्देशरासकमें मुलतानकी सुसंस्कृति और समृद्धिका चित्र खींचा है। इससे स्पष्ट है कि कविके समय मुलतान ध्वस्त नहीं हुआ था। मुहम्मद ग़ोरीकी चढाईसे मुलतानका गौरव सदाके लिए लुप्त हो गया।

२. सन्देशरासकमें विजयनगर और खम्बायतका उल्लेख है। यह विजयनगर या विक्रमपुर अभीतक जैसलमेर रिसायतमे है। यह रचना तबकी होगी जब खम्बायत खूब प्रसिद्ध था। चौलुक्य-वंशी सिद्धपाल और कुमारपालके समय खम्बायत कला और श्रीका केन्द्र था। दूर-दूरके व्यापारी यहाँ आते थे। १२वी या १३वीसे खम्बायतका पतन होने लगा था।

३ कविकी रचना मध्यमवर्गके पाठकोकी है। अत. उसमें भाषाकी शिथिलता है। यह अपभ्रंशका ह्रास-युग था। १२३० ईस्वीमें हेमचन्द्रका निधन हो चुका था। अत यह कवि १२वी और १३वीके बीचमें हुए। इस समय तक खम्बायत समृद्धिकी चरम सीमापर था। बादमें ग़ोरीने मुलतानको मिट्टीमें मिला दिया।

कविको प्राकृतका अच्छा ज्ञान था। उन्होंने मध्यवर्गीय पाठकोके लिए यह रचना की है। वे शायद 'मुक्तक श्रृंगार' ज्यादा पसन्द करते थे। यदि सन्देशरासकमे वियोगिनी और पथिककी सूत्रकथा हटा दी जाये तो यह मुक्तकका आनन्द भी दे सकता है, कविके भाव और उद्‌गार स्वाभाविक हो सकते है। पर उनकी अभिव्यक्तिका ढग शास्त्रीय है। मैं मुनिजीकी इस बातसे सहमत नही हूँ 'कि कवि स्वाभाविक भावोके सीधे-साधे शब्दोमें विविध चित्र देता है।' (स० रा० पृ० ७)

कवि रहमानका महत्त्व यह है कि वह सन्धिकालमें उत्पन्न हुए। इसलिए उनके काव्यमें कुछ साहित्यिक प्रवृत्तियाँ सुरक्षित रह गयी। दूसरे वह मुसलमान होकर भी अपभ्रंश लेखक हैं। यह इस बातका सबूत है कि इस युग तक मुसलमान इस देशकी भाषासे परिचित ही नहीं थे, उसमें काव्य-रचना भी करते थे। तीसरे उनके काव्य-उपादान भी भारतीय हैं। उनके रासकमें लोकभावना और साहित्यिकताका मेल है। प्रकृतिचित्रणमें

उद्दीपन है। पर स्वच्छन्द उक्तियाँ और ऋतु-उत्सवोंका भी मेल है। जायसी और घनानन्दमें इनकी कुछ बातोंका साम्य पाया जाता है। पर इनमें प्रेमका विरह है, विषमता नही। इनके बाद खुसरो १४वीं सदी प्रथम चरणके अन्तमें हुए।

७. जिनदत्त सूरि (वि० सं० ११३२)

यह एक युगप्रधान जैनाचार्य थे। वि० स० ११३२ में इनका जन्म हुआ। कहा जाता है कि एक बार श्री जिनेश्वर सूरि धर्मदेव उपाध्यायके साथ 'धवलक'में चातुर्मासके लिए आये। वहाँ वच्छिग नामके श्रावककी धर्मपत्नी वाहडदेवी अपने पुत्रके साथ धर्म सुनने जाती थी। बालकके असाधारण लक्षण देखकर, एक साध्वीने गुरुजीके लिए उसे माँगा। माँने दे दिया। धर्मदेवने नौ वर्षकी अवस्थामें उसे दीक्षा दे दी। अब उसका नाम सोमचन्द रखा गया। सोममें अद्भुत प्रतिभा थी। गुरु लोग भी उससे प्रश्न करनेमें डरते थे। धीरे-धीरे उनकी प्रशंसा सब ओर फैलने लगी। इतनेमें तत्कालीन युगगुरु जिनवल्लभसूरिका निधन होनेपर उनके उत्तराधिकारीका प्रश्न उठा। कितने ही साधु इस पदके उम्मीदवार थे। पर आचार्य देवभद्रके प्रयत्नसे सोमचन्दको इस पदपर बैठाया गया। जिनदत्तसूरि यही थे।

सूरिजीका व्यवहार बहुत उदार था। विहार उन्होंने खूब किया। एक बार उन्होंने अजमेरके अर्णोराजसे भी भेंट की थी। चैत्योंमें इन्होंने सुधारवादी आन्दोलन चलाया। चर्चरी ग्रन्थ इन्होंने बागड देशमें लिखा था। कहा जाता है कि इन्हें परकायप्रवेश विद्या सिद्ध थी। वि० स० १२११में अजमेरमें अनशनके बाद इन्होंने शरीर त्याग किया। उनके कुल तीन ग्रन्थ हैं – चर्चरी, उपदेश-रसायन-रास और कालस्वरूपकुलकम्। इनके ५-६ प्राकृत ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। साहित्यिक दृष्टिसे सूरिजीका जो महत्त्व है वह यह कि इन्होंने उस समयके लोकप्रचलित काव्य रूपके आधारपर अपने धार्मिक काव्योंकी रचना की। इस तरह साहित्यकी बानगी धर्ममें सुरक्षित रहकर बच गयी।

८. जोइन्दु (६ठी सदी अनुमानित)

ये शान्त उदार और शुद्ध अध्यात्म कवि थे। कविने स्वय अपने विषयमें कुछ भी नही लिखा। अन्य स्रोतोंसे उनके बारेमें जो जानकारी

मिलती है, उसका विस्तारसे विचार कर डॉ० आ० ने० उपाध्ये यह निष्कर्ष निकालते हैं –

१ श्रुतसागरने (१६वी सदी) परमात्मप्रकाशके कुछ दोहे उद्धृत किये हैं।

२ १४वी और १२वी सदीमें बालचन्द और ब्रह्मदेवने क्रमश. कन्नड और सस्कृतमें परमात्मप्रकाशपर टीका लिखी।

३. १२वीके उत्तरार्धमे जयसेनने आ० कुन्दकुन्दके समयसारकी टीकामें परमात्मप्रकाशका एक दोहा उद्धृत किया है।

४ हेमचन्द्रने रामसिंहके कुछ दोहे उद्धृत किये हैं, और रामसिंहने जोइन्दुसे।

५. चण्डके प्राकृत लक्षणमें इनका 'कालु लहेप्पिणु जिम-जिम मोह गलेइ' इत्यादि दोहा उद्घृत है।

अत' यह सिद्ध है कि जोइन्दु चण्डके पहले हुए, पर चण्डका समय अनिश्चित है। उनका ग्रन्थ भी अव्यवस्थित है। प्राकृत लक्षणके सम्पादक हर्नले उसे ई० पू० का मानते हैं। जब कि गुणे छठीसे अधिक पुराना नही मानते हैं। परन्तु प्राकृतलक्षणका व्यवस्थित रूप सातवींमें हुआ। निश्चित ही कवि चण्डसे पहले हुआ। जोइन्दुने अपनी कृतियोमें आ० कुन्द-कुन्द और पूज्यपादके विचारोका उपयोग किया है। कुन्दकुन्दका समय ई० की प्रथम सदी है, जब कि पूज्यपादका ५वी सदी है। अत इन तथ्योको ध्यानमें रखकर यह कहा जा सकता है कि जोइन्दु पूज्यपाद और चण्डके बीच छठी सदीमें हुए।

परम्परासे इनके नामपर कितने ही ग्रन्थ मिलते हैं, पर वास्तवमें इनकी रचनाएँ परमात्मप्रकाश और योगसार ही है। (पर० प्र० प्रस्तावना १०८) जोइन्दु अध्यात्मवादी थे, कवि नही। अत. उनकी कृतियोमें आत्मानुभूतिका रस है। ग्रन्थके अन्तमें उन्होने कलाकी छान-बीन करनेवालोको इस विषयमें चेता भी दिया है। लोकभाषामें शुद्ध अध्यात्म-विचार व्यक्त करनेवाली दोहा शैलीका यह प्रथम नमूना है। अन्यत्र हम यह दिखा चुके हैं कि इस क्रान्तिमूलक विचारधाराका क्या कारण था। आ० शंकरके वेदान्तके पूर्वकी अध्यात्मधारा कैसी थी, इसका यह अच्छा निदर्शन है। उनके प्रभावका पता इसीसे चल जाता है कि उनके ग्रन्थो-पर कई टीकाएँ लिखी गयी। अध्यात्म विचारोमें वह वेदान्तियोंके निकट

हैं, वाह्य आडम्बरके विरोधी हैं। पारिभाषिक शब्दोंका यह अध्यात्मपरक अर्थ करते हैं।

९. रामसिंह (११वीं सदी अनुमानित)

रामसिंह भी जोइन्दुकी परम्परामें हुए। इनकी एक मात्र रचना दोहा पाहुड है। डॉ० हीरालालने सप्रमाण यह बताया है कि इनपर जोइन्दुका प्रभाव है। वह इन्हें देवसेन और आ० हेमचन्द्रका मध्यवर्ती मानते हैं। लेकिन यह तभी सम्भव है जब यह सिद्ध हो जाये कि देवसेन ही सावय धम्म दोहाके कर्ता हैं, और पाहुड दोहाके कथित दोहे (३०, १२०) उसीसे लिये गये हैं। यह निश्चित है कि ये आचार्य हेमचन्द्रके पहले हुए। और एक भावुक तथा उग्र अध्यात्मवादी थे, शैव और तान्त्रिक पारिभाषिक शब्दोंका खुलकर इन्होंने प्रयोग किया है। रूढियोंके कटु आलोचक हैं। कभी-कभी उनका स्वर सिद्ध कवियोंसे भी मिलने लगता है। अत भाषा-शैलीके आधारपर हम उन्हें १०वीं के आसपासका मान सकते हैं।

१० लक्ष्मीचन्द या देवसेन (१०वीं सदी अनुमानित)

सावय धम्म दोहाका असली लेखक कौन है यह अबतक निर्णीत नहीं हो पाया। ग्रन्थके मूल अंशमें कहीं भी लेखकका नाम नहीं है, किन्तु हस्तलिखित प्रतियोंकी समाप्तिसूचक पंक्तियोंमें तीन भिन्न-भिन्न लेखकोंके नाम मिलते हैं। लक्ष्मीचन्द, जोइन्दु और देवसेन। डॉ० हीरालाल देवसेनको लेखक मानते हैं, जब कि डॉ० उपाध्ये लक्ष्मीचन्दको। इस सम्बन्धमें मूल अवतरण इस प्रकार है—

१ प, भ, म प्रति में लक्ष्मीचन्दको रचयिता कहा गया है। श्रुतसागरने षट् प्राभृतकी टीकामें सावय धम्म दोहा के दो दोहे लक्ष्मीचन्द-के नामसे उद्धृत किये हैं।

२ भ प्रतिके एक अन्तिम दोहेमें जोइन्दुको लेखक, लक्ष्मीचन्दको पंजिकाकार तथा प्रभाचन्दको वृत्तिकार माना गया है।

३ प प्रतिमें यह उल्लेख है कि यह प० लक्ष्मणके पठनार्थ बनाया गया।

इसपर डॉ० हीरालाल जैनके निम्न तर्क हैं—

१ लक्ष्मीचन्द दीक्षाके पहलेका नाम है, यह उनके स्वाध्यायके लिए लिखा गया है। टीकाकारोंने लक्ष्मीचन्दार्य विरचितकी जगह भूलसे लक्ष्मीचन्द विरचित लिख दिया।

२ क प्रतिके अन्तमें 'देवसेने उवदिष्ठ' लिखा मिलता है। यह एक प्रसिद्ध दिगम्बर जैन ग्रन्थलेखक हैं।

परन्तु डॉ० उपाध्ये अपने मतके समर्थनमें यह तर्क देते हैं—

१ प, भ और भ तीनो प्रतियाँ लक्ष्मीचन्दको लेखक बताती हैं।

२ लक्ष्मण और लक्ष्मीचन्द दो अलग व्यक्ति हैं। उसमें साफ लिखा है—'इति उपासकाचारे आचार्यश्रीलक्ष्मीचन्दविरचिते दोहकसूत्राणि समाप्तानि', अत. पाठ सुधारका सुझाव गलत है।

४. यह आवश्यक नहीं है कि किसी लेखकका दूसरा ग्रन्थ भी होना चाहिए इसलिए यही उसके लेखक हैं।

इसके विरुद्ध डॉ० उपाध्ये देवसेनको कर्ता नही मानते।

१. क प्रति विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि उसमें श्लोकसख्या अधिक है।

२ देवसेन अपने ग्रन्थके अन्तमें नाम देते हैं, इसमें नही है।

३ भावसंग्रह और सावय धम्म दोहाकी शैलीगत विशेषता अधिक महत्त्व नही रखती, क्योकि परम्परागत साहित्यमें ऐसा प्राय होता है।

अतः लक्ष्मीचन्दके विरुद्ध डॉ० हीरालाल जैनकी विप्रतिपत्ति उचित नहीं है। और सिद्ध नही हो सका कि 'देवसेन इसके कर्ता हैं, अत' प्राप्त प्रमाणोके आधारपर लक्ष्मीचन्द ही इसके कर्ता ठहरते हैं।

मेरे विचारसे टीका और प्रतियोकी बातोपर कुछ भी सिद्ध करना सदिग्ध ही रहेगा। यदि उक्त अवतरणोपर ही निर्णय करना हो तो लक्ष्मीचन्दको ही कर्ता मानना चाहिए। जोइन्दुको इस ग्रन्थका कर्ता न माननेमें दोनो विद्वानोने जो तर्क दिये हैं, उन्हें यहाँ देनेकी आवश्यकता नहीं, क्योकि दोनों इसमें एकमत हैं। लक्ष्मीचन्दके जीवन और साहित्यकी गति-विधिके विषयमें जाननेका कोई सूत्र हमें नही मिलता, पर यह निश्चित है कि यह रचना १०वी सदीके आस-पासकी है। शैलीगत विशेपताओकी चरचा अन्यत्र की है।

११. लुई या सिद्ध कवि

ये राढ देशके थे। इन्हें आदि सिद्धाचार्य भी कहा जाता है। म० म० हरप्रसाद इनको बंगाली मानते हैं। संस्कृतमें इनकी चार पुस्तकें हैं। उनके मतके अनुसार बुद्धि ज्ञान लाभ करनेके लिए है। तत्त्वस्वभाव दोहाकोष गीतिका दृष्टि इनकी अपभ्रंश रचना है। परन्तु यह *प्राप्त*

नही है। लुई पाद गीतिकामें इनके पदोका सग्रह है। पर इसके दो ही पद मिले हैं।

१२. किलपाद

यह लुईके एक वशधर थे। यह आचार्य और सिद्ध थे। इनकी रचना दोहाचर्या गीतिका दृष्टि है, पर अनुपलब्ध है।

१३. दीपंकर श्री ज्ञान

इनको म० म० हरप्रसाद वगाली मानते है। दो जगह इनका भूटिया नाम अतिण दिया हुआ है। कई जगह भारतवासी भी कहा गया है। अत म० म० हरप्रसाद, इस नामके दो व्यक्तियोकी कल्पना करते है। एक-वीर साधन और वलविधि ये दो पुस्तकें इनकी लिखी मानी जाती हैं।

१४. भुसुकु

तारानाथ इनका घर सौराष्ट्रमे मानते है। पर यह बहुत समय तक मगध और नालन्दामें रहे। मजुवज्रने इन्हें उपदेश दिया। बौद्ध चर्या-वतारके कर्त्ता और इनके जीवनलेखकने शान्तिदेवको ही भुसुक या राउत कहा है। हरप्रसादजी इन्हें पूर्वदेशका मानते है। शान्तिदेव एक और है। इन्होने तन्त्रपर दो पुस्तकें लिखी। उनमे सहजगीत उल्लेखनीय है।

१५. कृष्णाचार्य

ये कृष्णवज्र या कान्हपाद भी कहलाते है। इनके नामपर तिरपन पुस्तकें मिलती है। अपभ्र शमें दोहा कोष और कान्हपाद गीतिका है। स्थान और समयके वारेमें मतभेद है। यह भी सन्दिग्ध है कि इनकी कितनी कृतियाँ थी।

१६. धर्मपाद

धर्मपादका दूसरा नाम गुडरीपाद भी है। इनके गानोंके कुल दो पद मिलते है। अधिक शब्द उनमें तद्भव है।

१७. टेटया

भूटिया भाषामे इसका उच्चारण ढेंतन होता है। इनका एक ही गीत मिला है। म० म० हरप्रसादने उक्त पदमें २४ पुरानी और १३ नयी

बंगलाके शब्द माने है। प्राय. सभी सिद्ध कवियो और उनकी भाषाको ये बगाली कहते है।

१८. महीधर

महीधरका भी एक पद मिला है। सरहको सरोराह वज्र भी कहते हैं। इनके कई दोहाकोष और गीतिका है। जैसे दोहा कोष गीति, दोहाकोष चर्या गीति, दोहाकोष उपदेश गीति, तत्त्वोपदेश शिखर दोहा गीति।

१९. कम्बलाम्बर पाद

इनका दूसरा नाम शुद्धकम्बल भी मिलता है। अपनी प्रज्ञापारमिता उपदेश नामकी पुस्तकमें इन्होने हेरूक भगवान्‌की उपासनाका क्रम लिखा है, तथा इसी तरह कंकणकी चर्या दोहा कोण गीतिका और विरूवकी विरूपगीतिका, विरूप पद चतुरशीति, कर्मचण्डालिका दोहा कोण गीति, विरूप वज्र गीतिका प्रसिद्ध है। 'शान्ति'के नामके कुल दो पद उपलब्ध हैं। इस नामका उल्लेख, म० म० हरप्रसादको कई जगह मिला है। अत यह कहना कठिन है कि यह कहांके रहनेवाले थे। सब्बकपादने सस्कृतमें कई पुस्तकें लिखी हैं। यह वज्रयोगिनीकी उपासना करते थे। आर्यदेवका कुल एक गान मिलता है। प्रसिद्ध बौद्ध लेखक आर्यदेवसे यह भिन्न है। कानेरी या वैरागीनाथके नामसे इनके गीत कंकालिनी प्रभृति देव देवियोपर कई पुस्तकें लिखी हैं। जयनन्दीका भी एक गान मिलता है। डोम्बी, हैरूक नामके मगधके राजा थे। वह विरक्त हो गये। इनका एक गान मिलता है। भादेपाद और वीणापादका भी एक-एक ही गान मिलता है। मैत्रीपादकी गुरु मैत्रीगीतिका गुरु भट्टारक घ्रष्टिज्ञानकी वज्रगीतिका और गीतिका मिलती हैं। मातृचेटकी मात्रचेटिका उपलब्ध है। नाण्ड पण्डित भूटिया देशमें नारो कहलाते हैं। यह हेरूक या हेवज्रके उपासक थे। वज्रगीतिका और नागपण्डित गीतिका इनके दो ग्रन्थ है। कुक्करीपाद महामायाके उपासक थे। इनके दो गान मिलते हैं। अद्वयवज्र के मुख्य ग्रन्थ है—दोहाकोष, हृदय अर्थ गीता टीका, चतुरवज्रगीतिका, अद्वय वज्र बौद्ध संकीर्तन आदि, पर पद नहीं मिले। लीलापादने बौद्धकीर्तन पदावलि लिखी। स्थगणने दोहाकोष तत्त्व गीतिका लिखी है। महासुखता वज्रको महसुखता गीतिका प्रसिद्ध है। 'नागार्जुन गुहा' दार्शनिक नागार्जुनसे भिन्न हैं। इनकी नागार्जुन गीतिका मिलती है।

अपभ्रंश काव्य

अभीतक जो अपभ्रश साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमे गद्य और दृश्य-काव्योका अभाव है। समूचा साहित्य पाठ्य काव्यके अन्तर्गत है। उसके मुख्य भेद तीन हो सकते हैं—प्रबन्ध, खण्ड और मुक्तक काव्य। जो प्रबन्ध-काव्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे मुख्य रूपसे कथा-काव्य है। उनमें कथा और काव्यका अद्भुत मिश्रण है। इस काव्यधाराके भी दो भेद हैं—पुराण-काव्य और चरित-काव्य। चरित-काव्यके दो रूप है—एक शुद्ध या धार्मिक चरित-काव्य और दूसरा रोमाण्टिक। आगे इन सबकी विशेषताओ को परखनेका अवसर मिलेगा। खण्ड-काव्यकी रचनाएँ अधिक नही है, अतः उनके विभाजनका प्रश्न नही उठता। मुक्तक काव्यके दो भेद है—गीत-काव्य और दोहा-काव्य। विषय और शैलीकी दृष्टिसे इनके अवान्तर भेदोका विचार बादमें किया जायेगा।

प्रबन्ध-काव्य—प्रबन्ध-काव्यको कथा-काव्य कहना अधिक सगत है, क्योकि उसमें कथाकी ही मुख्यता है। कथा चाहे पौराणिक हो या काल्पनिक। डॉ० कोचडने अपने 'प्रबन्ध'मे इस काव्यका जो विभाजन दिया है, वह कई दृष्टियोसे समर्थनीय नही माना जा सकता। एक तो वे पुराण-काव्य और चरित-काव्यमें भेद नही करते, दूसरे कई चरित-काव्यो-को उन्होने खण्ड-काव्यमें गिना दिया है। तीसरे कीर्तिलता और पृथ्वीराज रासोको जो अवहट्टभाषाकी रचनाएँ है, अपभ्रशकी सीमामें ले लिया है। अपने प्रबन्धमे उन्होने १६वी सदी तक अपभ्रशाभास रचनाओपर भी विचार किया है। मेरे विचारमे १२वी सदीके बादकी अपभ्रश रचनाएँ, विशेष ऐतिहासिक महत्त्व नही रखती और न वे युगका प्रति-निधित्व करती हैं। अत उक्त विभाजन ही ठीक है। यह बात अवश्य है कि अपभ्रश कथा-काव्यके वस्तुतत्त्वके विकास और अलकरणकी कुछ अपनी विशेषताएँ है। ये सभी कथा-काव्योमें समान रूपसे उपलब्ध है। दूसरी बातोंके विचारसे, इन कथा काव्योमें भेद है। अपभ्रश कथा-काव्यके निर्माता एक विशेष युग और दृष्टिसे प्रभावित थे। कथा कहकर कुतूहल जगाना या मात्र मनोविनोद करना उनका लक्ष्य नही था। वे ऐसे कथा-साहित्यकी रचना करना चाहते थे, जिसमे काव्य-कलाके विधान और

उद्देश्यकी पूर्तिके साथ नैतिकता और धार्मिक उद्देश भी प्रतिफलित हो जाये। इन कवियोके लक्ष्यको सकीर्ण मानते हुए भी यह कहना पडता है कि कोरे साहित्यकारो या धर्मवादियोकी अपेक्षा इनका दृष्टिकोण कुछ उदार और लोक-कल्याणकारी था। इनमें अधिकाश रचनाएँ जैन ही हैं। कथा-साहित्यकी यह विरासत इन्हे परम्परासे तो प्राप्त थी। इसमें प्रयुक्त कथाओंके सूत्र भारतीय पुराणोंसे मिलते-जुलते हैं। परन्तु कई उपादान पूर्व वैदिक युगके भी हैं। डॉक्टर विण्टरनिट्ज़के शब्दोमें "जैन साहित्य-का पूर्व वैदिक साहित्यसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस साहित्यके कुछ अश महाभारत दसवें खण्डके २६९, ३६४ पर्वोंमे मिलते हैं।" उनकी धारणा है कि बौद्ध, जैन और वैदिक साहित्यमें कुछ संवाद और छन्द एक-से हैं। इससे सिद्ध होता है कि उनका सम्बन्ध पूर्व वैदिक धारासे होना चाहिए। (विण्टर० पृ० ७) प्रो० हर्टरने जैनकथा-साहित्यके रूप इस प्रकार निर्धारित किये हैं—१ धार्मिक आलोचनामे मिलनेवाली कहानियाँ, २. धार्मिक आख्यान, ३ चरित-काव्य, ४ पौराणिक कहानियाँ (राम-कृष्ण आदि), ५ प्रबन्ध कहानियाँ (साधु-साध्वियोका जीवनचरित), ६ कथाकाव्य (विण्टर० पृ० १०)। आलोच्य साहित्यमें सख्या ४ और ६ के ढंगका साहित्य है। जान पडता है कि हर्टर साहबका यह विभाजन प्राकृत और सस्कृत पुस्तकोपर अवलम्बित था।

प्रबन्ध-काव्यके भेद

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रबन्ध-काव्य दो प्रकारका है — पुराण और चरित-काव्य। जैसे कवि पुष्पदन्तका महापुराण पुराण है पर स्वयभूका पउम चरिउ पुराणकी अपेक्षा चरित-काव्य अधिक है। जसहर चरिउ, णायकुमार चरिउ, करकंड चरिउ, ये सब इसी परम्परामें है। यद्यपि भविसयत्त कहाका नाम कथा है, चरित नही, तो भी आगे चलकर हम देखेंगे कि वह चरित-काव्यके अधिक निकट है। हाँ उसमें कल्पना और प्रसगकी नवीन उद्भावना अवश्य हैं। प्रकीर्णकमें हमने इस बातका विचार किया है कि आख्यायिका चरित और कथामें विशेष अन्तर नही था। इन काव्योमें अपने युगके प्रभावके अतिरिक्त, नयी-नयी काव्य शैलियाँ और उद्भावनाओका समावेश भी है। परन्तु कथानककी विकास-शैली, कथारूढियो तथा अन्य विशेषताओंको हृदयगम करनेके लिए, वस्तु तत्त्वकी सक्षिप्त जानकारी बहुत आवश्यक है। इस बातको

ध्यानमें रखकर, नीचे हम मूल इतिवृत्तका स्थूल विवरण दे रहे हैं। उसके साथ केवल उन्ही अवान्तर कथाओका उल्लेख किया गया है, जो कथा विकासके नये मोडकी सूचक हैं। अलकृत वर्णन, पौराणिक तत्त्वो-का प्रतिपादन, लम्बे-चौडे उपदेश इत्यादि अगोका विवरण एक अन्य प्रसगमें दिया ही गया है।

महापुराण

कवि पुष्पदन्तकी यह रचना कुल मिलाकर १०२ परिच्छेदोमें समाप्त हुई है।[1] इसमें एक मुख्य कथा घटना या पात्र न होकर, अनेक कथाएँ, चरित्र और घटनाएँ हैं। यह कहना कठिन है कि इनका मुख्य आधार क्या है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राय इनमे कविने पुरानी अनुश्रुतियो और अतीतकी घटनाओको साम्प्रदायिक रग देकर, काव्यात्मक रूपमें ढाला है। इसमें यदि कविकी अनुभूति, कल्पना और साहित्यिक वर्णन न हो तो यह कोरे तथ्योका नीरस विवरण-भर रह जाये। कविने कथावस्तु अपने पूर्ववर्ती सस्कृत जैन पुराणोसे ली है। इसमें मुख्य रूपसे त्रेसठ श्रेष्ठ पुरुषो (शलाकापुरुषो) का वर्णन है। जैन परम्पराके अनुसार महापुराण उसे कहते हैं जिसमें सभी तीर्थंकर, बलभद्र, वासुदेव और प्रतिवासुदेवका वर्णन हो। सस्कृतमें आ० जिनसेनका महापुराण प्रसिद्ध है। यह पुष्पदन्तके पहले हुए। प्रारम्भके सैंतीस परिच्छेदोमें मुख्य रूपसे आदि तीर्थंकर रिसभका जीवन अकित है। शेप परिच्छेदोमें तेईस तीर्थकर और उनके तीर्थकालमें होनेवाले बलभद्र आदिका वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि आदिनाथका जितना विस्तृत वर्णन है उतना दूसरोका नही। वाकीको प्राय एक-एक ही परिच्छेदमें वर्णित कर दिया है। राम और कृष्ण इसके अपवाद हैं। इनके वर्णनमें एकसे अधिक परिच्छेद रचनेमें मुख्य कारण इनकी लोकप्रसिद्धि ही है। एक वाल्मीकि रामायणका मुख्य पात्र है, तो दूसरा महाभारतका। हिन्दुओके धार्मिक विश्वासमें वे विष्णुके अवतार भी हैं। अत उनके चरितके विस्तारकी आवश्यकता थी। जैन मान्यताके अनुसार ये दोनो महापुरुष क्रमश मुनिसुव्रत और नेमिनाथ तीर्थकरोके तीर्थकालमें हुए। सक्षेपमें महापुराणकी वस्तुकथा इस प्रकार है—

जम्बूद्वीपके भरत क्षेत्रमें मगध देश था। उसमें राजा श्रेणिक राज्य

---

[1] माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला द्वारा तीन भागोंमें प्रकाशित।

करता था। एक दिन वनपालने आकर विपुलाचलपर तीर्थंकर महावीरके समवशरणके आनेकी खबर दी। राजा सपरिवार वहाँ गया और वन्दना भक्तिके बाद उसने पुराण-पुरुषोंके विषयमें पूछा। गौतम गणधरने जो कुछ कहा उसका सार यह है—कई कुलकरोके हो चुकनेपर, विश्व सभ्यताके उस आदियुगमें नाभिराय नामका चौदहवाँ कुलकर उत्पन्न हुआ। उसका युग संक्रमणका युग था, क्योंकि भोगभूमिकी समाप्तिके बाद कर्मभूमिका प्रारम्भ हो रहा था। उसकी पत्नीका नाम मरुदेवी था। एक रात उसने सोलह सपने देखे। उसने इनका फल राजासे पूछा, उसने बताया कि तुम्हारे यशस्वी और प्रतापी पुत्र उत्पन्न होगा। रिसभ जिनके गर्भमें आनेसे छह माह पहले ही रत्नोकी वर्षा होने लगी। इन्द्रके आदेशसे कुबेरने अयोध्या नगरीकी नयी रचना प्रारम्भ कर दी। स्वर्गसे देवियाँ जिनदेवकी माताकी सेवा करने आयी। निश्चित समयपर रिसभ-का जन्म होते ही देवलोकमें खलबली मच गयी। सभी निकायोके देव अपने-अपने विमानोमे बैठकर अयोध्याकी ओर चल पडे। इन्द्र सदल-बल शिशु जिनको सुमेरु पर्वतपर ले गया। वहाँ पाण्डुकशिलापर उनका अभिषेक किया गया। देवोने भक्तिमें खूब नाच-गान किया। बादमें माताको बालक सौंपकर इन्द्र देवलोक चला गया। जिन दिन-दूने रात चौगुने बढने लगे। देवकुमारोके साथ क्रीडा करने लगे। चूडाकर्मके बाद उनकी शिक्षा-दीक्षा घरपर ही हुई। वैसे उन्हें इसकी आवश्यकता नही थी। सयाने होने पर पिताने विवाहका अनुरोध किया। पहले इन्होने बन्धनमें न पडनेकी इच्छा प्रकट की, पर पिताके विशेष अनुरोधपर उनके दो विवाह हुए। यशोवती और सुनन्दा दोनो रानियां सुन्दर थीं। समय बीतने पर यशोवतीके सौ पुत्र हुए। उनमें भरत सबसे बडा और प्रतापी था। एक लडकी ब्राह्मी भी हुई। सुनन्दाकी दो ही सन्तानें थी—बाहुबलि और सुन्दरी। सन्तानकी शिक्षा-दीक्षाका भार स्वय रिसभको सम्हालना पडा। कला और विद्याके अतिरिक्त राजनीतिका उपदेश भी उन्होने विस्तारसे किया। लडकियोको ललित कलाओ और विविध भाषा साहित्यकी विशेष शिक्षा उन्होने दी।

एक बार भयकर अकाल फैलने पर प्रजा पीडित हो उठी। कल्पयुग का यह अन्त था और कर्मयुगका प्रारम्भ। रिसभ जिनको युद्ध, शिल्प और खेती वगैरहमें स्वयं जनताको शिक्षित करना पडा। राज्याभिषेक होनेके

बाद उन्होंने जनतामे सुशासनकी स्थापनाके साथ अपने राज्यका विस्तार किया। इस तरह काफी समय बीतनेपर इन्द्रने सोचा कि अब आदि-जिनके वैराग्यका कोई कारण ढूँढना चाहिए, नही तो ससारका कल्याण कैसे होगा। उसने सिखा-पढाकर अप्सरा नीलाजनाको अयोध्या भेजा। वहाँ जाकर उसने रगशालामे अपना अभिनय प्रारम्भ किया। इस नाचसे भरे गीत-नृत्यकी बारीकियोसे पूर्ण उसके प्रदर्शनको देखकर दर्शक मुग्ध हो उठे। किन्तु अकस्मात् वह नर्तकी अचेत होकर धरतीपर गिर पडी। लोगोने देखा कि उसके प्राण जा चुके हैं। उत्सवका रग फीका पड गया। जनता उदास थी। यह सब घटना देखकर रिसभको ससारकी क्षणभगु-रताका भान हो आया। उन्होने दीक्षा लेनेका सकल्प कर लिया। इसका पता होते ही देवता दौडे आये। धूम-धामके बीच रिसभने दीक्षा ग्रहण की। उनके साथ दूसरे राजा और सामन्त भी दीक्षित हुए। वर्ष-भर वह एकासन तपमें लीन रहे, परन्तु उनके साथी डिग गये। उन्होने अण्टसण्ट बातें शुरू कर दी। जब वह तपमें रत थे तभी नमि और विनमि दो राजकुमार (कच्छ और महाकच्छके पुत्र) आकर उनसे धरती माँगने लगे। उनके हाथोमें नगी तलवारें थी। उत्तर न पाकर वे बडबडाने लगे। तब धरणेन्द्रने आकर उन्हें समझाया और विजयार्ध श्रेणीमें भूमि देकर सन्तुष्ट किया।

एक वर्ष बाद रिसभ आहारके लिए निकले। जनता आहारकी विधिसे अज्ञात थी, इसलिए तरह-तरहके उपहार लेकर दौडी। रिसभका इनसे कोई प्रयोजन नही था। अन्तमें हस्तिनापुरमें राजा श्रेणिकने विनय-पूर्वक ईखके रसका आहार उनको दिया। उस पुण्य वेलामें देवोने रत्न बरसाये। राजाने खूब दान किया। तबसे इस दिनका नाम अक्षयतृतीया पड गया। विहार करते हुए वे पुरिमताल नगर पहुँचे और एक उपवन-में ठहर गये। वही उन्हें केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई। अब वह पूर्ण मुक्त थे। इन्द्रके नेतृत्वमे देवता लोग आये। कुबेरने समवशरणकी रचना की। सबने भगवान्की भक्तिमें गीत गाये, नृत्य किये। सारे ससारमें आनन्दकी वर्षा हो रही थी। सृष्टि, कालचक्र आदिका स्वरूप विस्तारसे बतानेके बाद रिसभ-देवने जिनधर्मका उपदेश किया। लोगोने तरह-तरहके व्रत ग्रहण किये।

इधर शरद्के आनेपर भरतने अपनी दिग्विजय शुरू की। पहले वह गगा पार कर पूर्वकी ओर गया। वहाँ उसे जगली जातियाँ भी मिलीं।

उन सबको जीतकर वह दक्षिणकी ओर गया। वहाँके नरेशोने निर्विरोध इसकी अधीनता मान ली। तब वह पश्चिम दिशाकी ओर मुडा। सिन्धु नद लाँघकर वहाँके राज्य जीत लिये। रिसभ जिनकी वन्दनाके लिए उसने कैलास पर्वतकी ओर प्रस्थान किया। रास्तेमे हिमवान् पर्वतके राजाको उसे जीतना पडा। आगे बढनेपर उसे एक गुहाद्वार मिला। वहाँ एक स्थान-पर अनेक विश्वविजेता मृत राजाओके नाम अकित थे। उन नामोको पढ-कर भरतका अपनी भौतिक विजयका घमण्ड पानी-पानी हो गया। इतनेमें गगा नदीने मूर्त रूप धारण कर भरतकी स्तुति की। उपहार भी दिये। भगवान्‌की भक्ति और वन्दनाके बाद भरत अयोध्या लौट आया।

भरतके आनेकी खबरसे साकेतमें स्वागतकी तैयारी होने लगी। पहले उसने अपने स्कन्धावारमें विश्राम किया। फिर वह नगरमें प्रवेश करने लगा, परन्तु उसका चक्ररत्न वही अडकर रह गया। मन्त्रियोंसे उसने इसका कारण पूछा। उन्होने कहा कि जबतक आपका अनुज बाहुबलि अजेय है, यह चक्र भीतर नही जा सकता। भरतने बाहुबलिके पास दूत भेजे। परन्तु उस वीरने अधीनताका यह प्रस्ताव ठुकरा दिया। दोनो भाइयोमें युद्धकी तैयारी होने लगी। दूसरे दिन रणभेरी बजते ही सेनाएँ आपसमें टकरा गयी। योधा बढ-चढकर बातें करने लगे। वीर धराशायी होने लगे। रक्तकी धारा बह चली। यह व्यर्थ नरसहार और विनाश देखकर मन्त्रियोने दोनो भाइयोंसे द्वन्द्व-युद्धके द्वारा हार-जीतके निर्णयका अनुरोध किया। यह बात दोनोने मान ली। जल-युद्ध, दृष्टि-युद्ध और मल्ल-युद्धमें जब भरत अपने छोटे भाईसे हार गया तो उसने उसपर अपना चक्र चला दिया। वह चक्र बाहुबलिके दायें हाथमें जाकर थम गया। भरतका सिर मारे लज्जाके नत हो गया, पर बाहुबलिको इस घटनासे घोर वेदना हुई। वह अपने किये पर पछताने लगे। भाईसे क्षमा मांगकर उन्होंने दीक्षा लेनेका सकल्प कर लिया। वह तप साधने वनमें चले गये। भरत भी राज्य करने लगा। एक दिन वह रिसभकी वन्दनाके लिए कैलास पर्वतपर गया। वन्दनाके बाद उसने पूछा, 'भगवन्, अभीतक बाहुबलिको सिद्धि क्यो नहीं मिली।' रिसभने उत्तर दिया, 'क्योकि उसके मनमें अभी-तक अहकार है कि मैं भरतकी धरतीपर तप कर रहा हूँ।' यह सुनकर भरत भाईके पास दौडा गया और उसके चरणोपर गिरकर बोला, 'यह सारी धरती तुम्हारी है।' ठीक इसी समय बाहुबलिको केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। देवोने आकर इसका उत्सव मनाया।

भरत अयोध्या आकर अपना राज-काज देखने लगा। उसने ब्राह्मण नामके नये वर्णकी सृष्टि की। खूब दान-दक्षिणा भी दी। एक रात उसने कुछ बुरे सपने देखे। उनका फल पूछने वह रिसभ जिनके पास गया। रिसभने उसे बताया कि आगे तेईस तीर्थंकर, बलभद्र आदि होंगे। उन्होंने उसके तथा परिवारके दूसरे लोगोंके पूर्वभव भी विस्तारके साथ बताये। धार्मिक मतोकी आलोचना, धर्मकी परिभाषा वगैरह भी की। उन्होंने यह भी कहा, 'मेरा नाती मारीचि ही आगे चलकर चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा।' वहाँसे लौटकर भरतने अयोध्यामें शान्ति-कर्मविधान किया। एक आदर्श राजाकी जो दिनचर्या होनी चाहिए, वही भरतकी थी। उसने एक बार राजाओंकी सभा बुलायी और उसमें राज्यशास्त्र, नीति-शास्त्र एव धर्मशास्त्रपर प्रवचन किया। कुछ समयके अनन्तर रिसभ जिनका निर्वाण हो गया। उनके मोक्षकल्याणकमें इन्द्र, भरत आदि सम्मिलित हुए। भरतको अपने पिताके निधनपर दुःख होना स्वाभाविक था। उसने काफी समय राज्य किया। एक दिन अपने सिरके बाल सफेद देखकर वह विरक्त हो उठा। उसने भी सन्यास ले लिया। कपड़े उतारते ही उसे केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गयी।

रिसभके निर्वाण-लाभके पहले कविने कई प्रमुख चरित्रोंका वर्णन कई सन्धियो (२८–३६) मे किया है। उदाहरणके लिए—१ जयदत्त-सुलोचना, २ नागदत्त और सुकेतु, ३ सुलोचना-द्वारा श्रीपालका वर्णन, ४ श्रीपालकी रोमाण्टिक घटनाओंका वर्णन। इनका मुख्य कथासे यही सम्बन्ध है कि ये भी रिसभ जिनकी वन्दना करने जाते हैं या उनसे दीक्षा ग्रहण करते हैं।

आगेके तैंतालीस परिच्छेदोंमें बीस तीर्थंकरो और उनके समयमे हुए प्रमुख व्यक्तियोंकी जीवन-गाथा अंकित है। साधारणतया एक परिच्छेदमे एक ही जीवनी है। परन्तु महत्त्वपूर्ण चरित्र या अवान्तर कथा होनेपर एकसे अधिक परिच्छेद तक कथा बढ़ गयी है। यहाँपर उन सब घटनाओं-का वर्णन अनावश्यक है। क्योंकि उनके चित्रणमें प्राय एक-सी धार्मिक रूढ़ियोंका पालन है। इस खण्डमें उल्लेखनीय प्रसंग हैं राम-रावणयुद्ध, परशुराम, राजा सगर, त्रिविष्टप् और हयग्रीवका जीवन। आगे इनके जीवनकी जानकारीका अवसर हमें मिलेगा। फिर रामकथाका उल्लेख यहाँ कई दृष्टियोंसे आवश्यक है। एक तो कविने इसका बारह सन्धियोंमें वर्णन किया है, दूसरे रामकी कथा स्वयभूकी कथासे भिन्न है। आदि-

काव्यकी रामकथासे तो अन्तर है ही, महापुराणके अनुसार मुनिसुव्रतके समयमें राम-रावणयुद्ध हुआ। पहले कवि राम-लक्ष्मणके पूर्व भवोंका उल्लेख करता है। उसके बाद घटनाक्रम यह है—

काशी देशमें राजा दशरथ थे। उनके पहली पत्नी सुवेलासे राम उत्पन्न हुए और दूसरी रानी कैकेयीसे लक्ष्मण। इन दोनोंकी सहायतासे उन्होंने अयोध्यामें प्रवेश किया। भरत और शत्रुघ्न यहीं जन्मे। चारों पुत्रोंसे उनकी धाक चारों ओर फैल गयी। मिथिलाके राजा जनकने एक यज्ञ करना चाहा, परन्तु उन्हें डर था कि रावण कहीं विघ्न न डाले। इसलिए उसने दशरथके पास सहायताके लिए दूत भेजे। अनेक उपहार देकर दूतोंने कहा कि यदि राम-लक्ष्मण यज्ञकी रक्षा करेंगे तो उन्हें सुन्दर कन्याके साथ राज्य भी मिलेगा। यज्ञके समर्थनमें उसने राजा सगरका उदाहरण दिया। इसी प्रसंगमें नारद, पर्वतक और वसुकी कहानी आ गयी। नारद यज्ञके विरोधी थे। इन सब बातोंसे दशरथकी यज्ञपर-से आस्था उठ गयी। इसी समय पण्डितोंने राम-लक्ष्मणके अतुल वीर होनेकी घोषणा की। पिताकी आज्ञासे दोनों भाई नयी सेनासहित मिथिला गये। उन्होंने वहाँ जाकर जनकको हिंसा न करनेका अनुरोध किया। उन्होंने यह भी कहा कि ब्राह्मणोंकी खोटी बातोंमें विश्वास करना ठीक नहीं। जनक उनसे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने सीताका विवाह धूम-धामसे रामके साथ कर दिया। कुछ दिन वे वहीं रहे। फिर दशरथने दूत भेजकर उन्हें साकेत बुलवा लिया। रामको सात कन्याएँ और मिलीं। एक बार वसन्तमें वनक्रीडाके लिए वे चित्रकूट गये।

जिस समय अयोध्यामें दशरथका राज्य वृद्धिपर था उसी समय लंकामें रावणका। रावणकी वंश-परम्पराके सम्बन्धमें कहा जाता है कि सार-समुच्चय देशमें नागपुर नगर था। रावणके पुरखे वहींके रहनेवाले थे। एक बार सहस्रग्रीव अपने भाईसे लड़-झगड़कर त्रिकूट पर्वतपर आ बसा था। लंका उसी पर्वतपर बसी हुई है। उसका पोता पुलस्ति, रावणका पिता था। रावणकी पत्नी मन्दोदरी थी। एक बार वह विमान-में बैठकर कहीं जा रहा था। नीचे मणिवती विद्याधरी विद्या सिद्ध कर रही थी। रावणको देखकर वह विचलित हो गयी। उसने यह संकल्प किया कि मैं मरकर इसकी पुत्री होऊँ और इसके अन्तका कारण बनूँ। ऐसा हुआ भी। वह मरकर रावणकी लड़की हुई। सीता नाम थी। ज्योति-षियोंके कहनेपर उसने उसे नदीमें फिंकवा दिया। मन्दोदरीको इससे

बुरा लगा। बहती हुई सीता एक किसानके हाथ लगी। उसने वनपालको दे दी, वनपालने राजा जनकको। जनकने उसे पाला-पोसा। रावणको यह सब ज्ञात नही था। एक दिन कलहकारी नारद रावणके पास आये। उन्होने सीताके रूपकी प्रशंसा की। यह सुनकर वह सीतापर मुग्ध हो गया। राम और लक्ष्मणकी अजेय शक्तिको देखकर उसने सीताको उठानेका संकल्प किया। पहले उसने अपनी बहन चन्द्रनखाको दूती बनाकर भेजा। जिस समय वह साकेत आयी, उस समय चित्रकूटमे सीता क्रीडा कर रही थी। वह बूढी दासी बनकर पहुँची। उसने सीताको फुसलाना चाहा, पर सीताने फटकार दिया। तब रावण पुष्पक विमानमे बैठकर मारीचके साथ वहाँ पहुँचा। मारीच सोनेका मृग बनकर रामके सम्मुख दौडने लगा। रामने उसका पीछा किया। इधर रावण रामका रूप धारण कर सीताको उठा ले गया। शिकारसे लौटनेपर जब सीता अपनी जगह नहीं मिली तो राम विह्वल हो उठे। खोजके लिए उन्होने दूत भेजे। उन्हे एक पेडपर अटका हुआ सीताके उत्तरीयका टुकडा मिला। इससे उन्होने यह अनुमान कर लिया कि कोई सीताको आकाशमे उडा ले गया है। उधर राजा दशरथने सपनेमे यह सब देखा। उन्होने इसकी सूचना रामके निकट पहुँचा दी। रामने रावणके वधकी प्रतिज्ञा की। मार्गमे उनकी पहचान सुग्रीवसे हो गयी। सुग्रीवने हनुमान्‌से परिचय करवा दिया। वह रामकी अँगूठी लेकर सीताका वृत्त लेने लंका गया।

सीता जबसे लंका आयी थी, तभीसे उसने खाना-पीना छोड दिया था। रावण सीताके लिए विकल हो रहा था। मन्दोदरीको यह मालूम हो चुका था कि सीता उसीकी बेटी है। उसने रावणको बहुत समझाया, पर वह नही माना। इसी बीच हनुमान्‌ने अँगूठी देते हुए रामका वृत्त सीताको सुनाया। इससे उसे बहुत सान्त्वना मिली।

लौटकर हनुमान्‌ने सब बात रामको बतायी। बहुत सोच-विचार करनेके बाद यह तय हुआ कि एक बार हनुमान् रावणके पास दूत बनकर जाये। वह गया भी। पहले वह विभीषणसे मिला। आगत-स्वागतके बाद उसने कहा, 'रावणकी भलाई इसीमें है कि वह राम-लक्ष्मणके रूठनेके पहले सीताको वापस कर दे।' विभीषण भी भाईकी अनीतिसे असहमत था। उसने जाकर रावणको समझाना चाहा, पर उसने यह 'रण्ड कहानी' सुननेसे भी इनकार कर दिया। निदान, हनुमान्‌को वापस लौट आना पडा। इसी बीच, सुग्रीव और वालिके विवादमे बीच-बचाव करनेके

काव्यकी रामकथासे तो अन्तर है ही, महापुराणके अनुसार मुनिसुव्रतके समयमें राम-रावणयुद्ध हुआ। पहले कवि राम-लक्ष्मणके पूर्व भवोंका उल्लेख करता है। उसके बाद घटनाक्रम यह है—

काशी देशमें राजा दशरथ थे। उनके पहली पत्नी सुबेलासे राम उत्पन्न हुए और दूसरी रानी कैकेयीसे लक्ष्मण। इन दोनोंकी सहायतासे उन्होंने अयोध्यामें प्रवेश किया। भरत और शत्रुघ्न यहीं जन्मे। चारों पुत्रोंसे उनकी धाक चारों ओर फैल गयी। मिथिलाके राजा जनकने एक यज्ञ करना चाहा, परन्तु उन्हें डर था कि रावण कहीं विघ्न न डाले। इसलिए उसने दशरथके पास सहायताके लिए दूत भेजे। अनेक उपहार देकर दूतोंने कहा कि यदि राम-लक्ष्मण यज्ञकी रक्षा करेंगे तो उन्हें सुन्दर कन्याके साथ राज्य भी मिलेगा। यज्ञके समर्थनमें उसने राजा सगरका उदाहरण दिया। इसी प्रसंगमें नारद, पर्वतक और वसुकी कहानी आ गयी। नारद यज्ञके विरोधी थे। इन सब बातोंसे दशरथकी यज्ञपर-से आस्था उठ गयी। इसी समय पण्डितोंने राम-लक्ष्मणके अतुल वीर होनेकी घोषणा की। पिताकी आज्ञासे दोनों भाई नयी सेनासहित मिथिला गये। उन्होंने वहाँ जाकर जनकको हिंसा न करनेका अनुरोध किया। उन्होंने यह भी कहा कि ब्राह्मणोंकी खोटी बातोंमें विश्वास करना ठीक नहीं। जनक उनसे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने सीताका विवाह धूम-धामसे रामके साथ कर दिया। कुछ दिन वे वहीं रहे। फिर दशरथने दूत भेजकर उन्हें साकेत बुलवा लिया। रामको सात कन्याएँ और मिलीं। एक बार वसन्तमें वनक्रीडाके लिए वे चित्रकूट गये।

जिस समय अयोध्यामें दशरथका राज्य वृद्धिपर था उसी समय लंकामें रावणका। रावणकी वंश-परम्पराके सम्बन्धमें कहा जाता है कि सार-समुच्चय देशमें नागपुर नगर था। रावणके पुरखे वहींके रहनेवाले थे। एक बार सहस्रग्रीव अपने भाईसे लड़-झगड़कर त्रिकूट पर्वतपर आ बसा था। लंका उसी पर्वतपर बसी हुई है। उसका पोता पुलस्ति, रावणका पिता था। रावणकी पत्नी मन्दोदरी थी। एक बार वह विमान-में बैठकर कहीं जा रहा था। नीचे मणिवती विद्याधरी विद्या सिद्ध कर रही थी। रावणको देखकर वह विचलित हो गयी। उसने यह संकल्प किया कि मैं मरकर इसकी पुत्री होऊँ और इसके विनाशका कारण बनूँ। ऐसा हुआ भी। वह मरकर रावणकी लड़की हुई। सीता वही थी। ज्योति-षियोंके कहनेपर उसने उसे नदीमें फिंकवा दिया। मन्दोदरीने इसके

बुरा लगा। बहती हुई सीता एक किसानके हाथ लगी। उसने वनपालको दे दी, वनपालने राजा जनकको। जनकने उसे पाला-पोसा। रावणको यह सब ज्ञात नही था। एक दिन कलहकारी नारद रावणके पास आये। उन्होने सीताके रूपकी प्रशसा की। यह सुनकर वह सीतापर मुग्ध हो गया। राम और लक्ष्मणकी अजेय शक्तिको देखकर उसने सीताको उडानेका सकल्प किया। पहले उसने अपनी बहन चन्द्रनखाको दूती बनाकर भेजा। जिस समय यह साकेत आयी, उस समय चित्रकूटमे सीता क्रीडा कर रही थी। वह बूढी दासी बनकर पहुँची। उसने सीताको फुसलाना चाहा, पर सीताने फटकार दिया। तब रावण पुष्पक विमानमे बैठकर मारीचके साथ वहाँ पहुँचा। मारीच सोनेका मृग बनकर रामके सम्मुख दौडने लगा। रामने उसका पीछा किया। इधर रावण रामका रूप धारण कर सीताको उठा ले गया। शिकारसे लौटनेपर जब सीता अपनी जगह नहीं मिली तो राम विह्वल हो उठे। खोजके लिए उन्होने दूत भेजे। उन्हे एक पेडपर अटका हुआ सीताके उत्तरीयका टुकडा मिला। इससे उन्होने यह अनुमान कर लिया कि कोई सीताको आकाशमे उडा ले गया है। उधर राजा दशरथने सपनेमे यह सब देखा। उन्होने इसकी सूचना रामके निकट पहुँचा दी। रामने रावणके वधकी प्रतिज्ञा की। मार्गमे उनकी पहचान सुग्रीवसे हो गयी। सुग्रीवने हनुमान्से परिचय करवा दिया। वह रामकी अँगूठी लेकर सीताका वृत्त लेने लका गया।

सीता जबसे लका आयी थी, तभीसे उसने खाना-पीना छोड दिया था। रावण सीताके लिए विकल हो रहा था। मन्दोदरीको यह मालूम हो चुका था कि सीता उसीकी बेटी है। उसने रावणको बहुत समझाया, पर वह नही माना। इसी बीच हनुमान्ने अँगूठी देते हुए रामका वृत्त सीताको सुनाया। इसमे उसे बहुत सान्त्वना मिली।

लौटकर हनुमान्ने सब बात रामको बतायी। बहुत सोच-विचार करनेके बाद यह तय हुआ कि एक बार हनुमान् रावणके पास दूत बनकर जाये। वह गया भी। पहले वह विभीषणसे मिला। आगत-स्वागतके बाद उसने कहा, 'रावणकी भलाई इसीमे है कि वह राम-लक्ष्मणके रूठनेके पहले सीताको वापस कर दे।' विभीषण भी भाईकी अनीतिसे असहमत था। उसने जाकर रावणको समझाना चाहा, पर उसने यह 'रण्ड कहानी' सुननेसे भी इनकार कर दिया। निदान, हनुमान्को वापस लौट आना पडा। इसी बीच, सुग्रीव और बालिके विवादमें बीच-बचाव करनेके

लिए लक्ष्मणको किष्किन्धा जाना पडा। उन्होने राज्य सुग्रीवको दिलवा दिया। वहाँ उन्हें कुछ मन्त्र भी सिद्ध हुए।

सेना इकट्ठी कर राम-लक्ष्मणने लकापर चढाई कर दी। विभीषण रामसे आ मिला। विद्याके बलसे हनुमान्ने लकामें खूब उत्पात मचाया। रावणने लक्ष्मणपर अपना चक्र छोडा, पर वह लक्ष्मणके हाथमें आ गया। उसीसे लक्ष्मणने रावणका अन्त कर दिया। अपने भाईके वधसे विभीषणको बहुत दु ख हुआ। रानियाँ भी रोयी। मन्दोदरीने जिनदीक्षा ले ली। सबको समझा-बुझाकर विभीषणको राज्य देकर राम वहाँसे चले आये।

एक पर्वतपर विश्राम कर उन्होने अपनी विश्व-विजय शुरू की। अयोध्या आनेपर उनका अभिषेक हुआ। शीलगुप्त मुनिसे उन्होने कुछ ब्रह्म-नियम ग्रहण किये। बहुत समय बाद, लक्ष्मणकी मृत्यु हो गयी। राम उनका शव लेकर दर-दर भटकते फिरे। सीता भी खूब रोयी। अन्तमें आत्मबोध होनेपर रामने जिनदीक्षा ले ली और तप साधकर मोक्ष प्राप्त किया।

आगेके तेईस परिच्छेदोमे नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीरका जीवन-वृत्त है। परन्तु इसमें मुख्य वर्णन कृष्ण और कसका है। ये नेमिके समयमें हुए। सक्षेपमें इसका कथानक यह है शौरीपुरके राजा शूरसेनकी दो पत्नियाँ थी—धारिणी और सुकान्ता। पहलीका बेटा अन्धक था और दूसरीका नरपति। अन्धकवृष्णिका विवाह सुभद्रासे हुआ। उसके दो पुत्र हुए—समुद्रविजय और वसुदेव। नरपतिकी पत्नीसे उग्रसेन आदि कई पुत्र हुए। इसी समय हस्तिनापुरमें राजा हस्तीका पुत्र पाराशर हुआ। उसने सत्यवतीसे विवाह किया। व्यास उसीका बेटा था। व्यासकी पत्नी सुभद्रासे धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर उत्पन्न हुए। ये तीनो एक बार शौरीपुर गये। पाण्डुका प्रेम कुन्तीसे हो गया। विवाहके पहले जो सन्तान हुई, उसे उन्होने यमुनामें बहा दिया। वह बालक चम्पाके राजाको मिला। बादमें वह कर्ण कहलाया। पाण्डु और कुन्तीसे पाण्डव उत्पन्न हुए। धृतराष्ट्रका विवाह गान्धारीसे हुआ। दुर्योधन आदि उसीसे उत्पन्न हुए। वसुदेव एक बार घरसे चला गया और बहुत-सी रोमाचकारी घटनाओंके अनन्तर घर लौटा। जरासिन्ध उससे कुछ अप्रसन्न था। उग्रसेनकी पत्नीने कसको जन्म दिया, पर अमगल समझकर उसे बहा दिया। किसी तरह वह बच गया। बचपनसे वह साहसी और वीर था। कसने वसुदेवकी सहायतासे पोदनपुर-नरेशको जीत लिया। इसपर उसे जरासिन्धने अपनी

कन्या और मथुराका राज्य दे दिया। राजा बनते ही कंसने पिताको जेल-में डाल दिया। उसने अपनी बहन देवकी वसुदेवको व्याह दी। कंसने बचपनमें उससे विद्या सीखी थी। ज्योतिषियोंने यह घोषणा कर दी कि देवकीकी सन्तानसे कंसकी मृत्यु होगी। इसपर बहन दीक्षा लेनेपर उतारू हो गयी, पर भाईने समझा दिया। उसकी तीन जुड़वा सन्तानों-की कंसने हत्या करवा दी। अबकी बार जो बालक हुआ वह सात माहमें हो गया। वसुदेव चुपकेसे उसे ले गये। यमुनापर उन्होंने नन्दकी लड़की-से उसे बदल लिया। कंसने उस लड़कीको नटवा दिया। इधर कृष्ण गोकुलमें बढ़ने लगे। धीरे-धीरे उनकी लीलाओंकी चरचा सब ओर फैलने लगी। कंसने उसके मारनेके बहुतेरे प्रयत्न किये। पहले पूतनाको भेजा, फिर एक राक्षसीको। अरिष्ट राक्षस बैल बनकर आया, कृष्णने उसे हरा दिया। उनकी इस वीरतासे उनके नामपर धवलगीत चल पड़े। यशोदा कृष्णके असाधारण कार्योंसे हैरान थी। एक बार उन्होंने गोवर्धन उठाकर गोकुलकी वर्षासे रक्षा की। कंसने कृष्णको मारनेके विचारसे कुछ प्रति-योगिताएँ की। कृष्णने सबमें बाज़ी मार ली। अन्तमें दोनोंमें घोर द्वन्द्व-युद्ध हुआ। कृष्णने कंसको पछाड़ दिया। कंसके वधपर देवोंने फूल बर-साये। आनन्द-बधावा होने लगा। कृष्णने गोपियोंके बोल और तानें सुनते हुए मथुरामें प्रवेश किया।

कंसकी पत्नी जीवजसाने जब यह खबर अपने पिता जरासिन्धको दी तो वह आगबबूला हो गया। उसने फौरन बदला लेनेके लिए पुत्रोंको भेजा, पर वे भाग आये। अन्तमें काल यवनने यादवोंको खदेड़ दिया। कृष्णको पश्चिममें हटना पड़ा। इसी समय एक देव घोड़ा बनकर समुद्रमें घुसा, उससे समुद्र-में एक सूखा स्थल निकल आया। द्वारकाका निर्माण वहीं हुआ। कृष्ण उसीमें रहने लगे, जरासिन्धने दोबारा उनपर चढ़ाई की, परन्तु अबकी बार कृष्णने चक्रसे उसका सिर काट डाला। कुमार नेमि कृष्णके चचेरे भाई थे। एक बार उनकी भाभी सत्यभामाने जल-क्रीड़ाके समय, मज़ाकमें उनसे कुछ कह दिया। इसपर कुमारने कई असाधारण काम कर दिखाये। कृष्णने राजमतीसे उनके विवाहका प्रबन्ध किया। बरातके प्रस्थान समय मार्गमें एक बेड़ेमें कुछ पशु बँधे हुए थे, पूछनेपर नेमिनाथको बताया गया कि विवाहमें इन सबका वध किया जायेगा। यह सुनकर कुमार नेमि विरक्त हो गये। उन्होंने दीक्षा ले ली। तपस्याके बाद उन्हें केवलज्ञान हो गया। एक दिन जब आहारके प्रसंगमें वह द्वारका आये तो सब लोगोंने अपने

पूर्वभव पूछे। नेमिनाथने विस्तारपूर्वक सब कुछ बताया। उसके बाद कृष्णके पुत्र प्रद्युम्नकी जीवन-घटनाओका विस्तारसे वर्णन है। उसकी माता रुक्मिणी थी। किसीने प्रद्युम्नको उडा दिया था, पर बादमें वह मिल गया। एक मुनिने कृष्णकी मृत्युकी भविष्यवाणी की। उन्होने पाण्डवोकी कथा भी बहुत थोडेमें कह सुनायी। उसका सार इतना ही था कि जब पाण्डव कपट-जुएमें हारकर द्रौपदीके स्वयवरमें पहुँचे तो उसने अर्जुनके गलेमें वरमाला डाल दी। कुछ दिन विराट्के घर रहकर उन्होने बादमें कौरवो-को हरा दिया।

कहा जाता है कि एक बार कुछ यादवकुमार नशेमें चूर थे। उन्होंने द्वैपायन मुनिको सताना शुरू किया। उनके शापसे द्वारका नगरी भस्म हो गयी। दोनो भाई बलभद्र और कृष्ण वहाँसे चल पडे। एक बार वनमें कृष्णको प्यास लगी। बलभद्र पानी लेने गये। इतनेमें मृगके धोखेमें उन्हें एक भीलने तीर मार दिया। उनकी तत्काल मृत्यु हो गयी। लौटनेपर बडे भाईको भाईकी मृत्युसे बहुत दु ख हुआ। बादमें उन्होने दीक्षा ले ली। पाण्डव भी नेमिनाथकी शरणमे चले गये।

इसके अनन्तर महावीर तथा अन्य प्रसिद्ध पुरुषोके चरित्रके बाद राजा श्रेणिकके पूर्व और उत्तर जन्मोके उल्लेखके बाद कवि आवश्यक काव्य-रूढियोका पालन करके ग्रन्थ समाप्त कर देता है।

शैली

ध्यान देनेसे यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह पुराण-काव्य-कथासूत्र न तो सम्बद्ध है और न धारावाहिक। चरित्र या पात्रोके आधारपर इसके कई स्वतन्त्र खण्ड किये जा सकते हैं। चरित्रके विस्तारसे किसी कथाका कई सन्धियोमें वर्णन अवश्य है। सन्धिके सकोच-विस्तारका भी कोई नियम नही है, कोई सन्धि ११ कडवकमें पूरी होती है तो कोई ४० में। यथार्थमें पुराण-काव्यकी शैलीमें कथाके विकासका उतना महत्त्व नही होता जितना कि पुराण कहनेका। कविका काम काव्यका पुट देकर उसे सवेदनीय बनाना है। अतः कथा अधिक गतिशील नहीं हो पाती। काव्या-त्मक वर्णनोके सिवा कुछ ऐसी रूढियाँ भी इस काव्यमें हैं, जिनका निर्वाह आवश्यक होता है। वस्तुत पुराण-काव्य अनेक चरित्रोका एक संग्रह ग्रन्थ है। कवि इनको काव्यमें इसलिए निबद्ध करना चाहता है क्योंकि वे धर्म-के अनुशासनके आनन्दसे भरे हैं।

स्थूल रूपसे इन पौराणिक रूढियोके दो भेद है—१ काव्य-सम्बन्धी रूढियाँ, और २ पौराणिक या धार्मिक रूढियाँ। काव्यगत रूढियोमे १. मगलाचरण, २ ग्रन्थ-रचनाका लक्ष्य, ३ आत्मलघुता, ४ सज्जन-दुर्जनवर्णन, ५ स्तुति या प्रार्थना (कथाके मध्यमे), ६ आत्मपरिचय, और ७ श्रोता-वक्ता शैली।

इनमें रूढि २, ३, ४, ५, और ६ का विचार दूसरे स्तम्भोमें करेंगे। यहाँ केवल शेष रूढियोके विषयमें इतना कहना पर्याप्त है कि मगलाचरण भारतीय काव्योकी चिरकालीन विशेषता रही है। श्रोता-वक्ता शैलीका सम्बन्ध भी आध्यात्मिकता और पौराणिकतासे है। प्रत्येक कवि अपनी कथाका सूत्र प्राचीन साहित्यसे जोडना चाहता है। इसलिए वह श्रोता-वक्ताकी योजना करता है। श्रोता कथावस्तुके सम्बन्धमें प्रश्न करता है। तदनन्तर वक्ता अपना व्याख्यान शुरू कर देता है। कभी-कभी उसमें भी प्रश्नोत्तरके रूपमें भेद-प्रभेद होने लगते हैं, और विधान इतना उलझ जाता है कि मुख्य और अवान्तर कथा काफी दूर जा पडती है। बीच-बीचमें इसीलिए लेखक श्रोता-वक्ताका निर्देश कर देता है। एक दो अप-वादको छोडकर समूचे उपलब्ध अपभ्रश प्रबन्ध-काव्योमे यह विशेपता है। हिन्दीमे रामचरितमानस इसका सर्वोत्तम उदाहरण है। सस्कृत कथा-साहित्यमें कादम्बरी इसी तरहकी रचना है यद्यपि उसमे श्रोता-वक्ता पक्षियोनिके हैं। पृथ्वीराज रासो और कीर्तिलतामें भी यही बात है। ऐसा जान पडता है कि सस्कृतकी काल्पनिक कथाओमें श्रोता-वक्ताकी यह नयी परम्परा शुरू हुई होगी। कतिपय अपभ्रश मुक्तक-काव्यमें भी प्रश्नोत्तर-शैलीका विधान है।

पौराणिक रूढियाँ—इनसे हमारा तात्पर्य उन धार्मिक मान्यताओंसे है, जो धार्मिक कथाकी अपनी विशेपताएँ होती है, पर जो काव्यका अग बन बैठती हैं। उदाहरणके लिए तीर्थंकरके जन्मपर इन्द्रका अभिषेकके लिए आना एक जैन मान्यता है, लेकिन जब कोई ऐसी जैन कथा, काव्य-का विषय बनती है, तो यह, या इस प्रकारकी दूसरी मान्यताएँ भी साथ हो लेती है। कुछ विशेपताएँ तो सभी धर्मोमें समान है और कुछ असमान, लेकिन इनका प्रयोग सब करते हैं। आलोच्य साहित्यके प्रबन्ध काव्योमें मुख्य रूपसे ऐसी रूढियाँ ये है—१ सृष्टिका वर्णन, २ लोक-विभाजन, ३ धर्म-प्रतिपादन, ४ दार्शनिक खण्डन-मण्डन, ५ अलौकिक तथ्योकी

योजना, जैसे आकाशवाणी, देवो-द्वारा रत्नवृष्टि, पहाड उठा लेना, आकाशसे गिर पडना इत्यादि, ६. पूर्वभवस्मरण, और ७. स्वप्नदर्शन ।

इन तथ्योकी योजनाका मुख्य आधार पुराण ही है । कविको यह सब बातें इतनी प्रत्यक्ष होती हैं कि उसे वर्णन करने-भरकी देरी होती है। फिर भी इन तथ्योकी योजनाको हम एकदम निराधार नही कह सकते है । क्योकि इनमे भी युगके विश्वासकी झलक है । जहाँतक हमें मालूम है, सस्कृतके बाद कथा-साहित्य पालि और प्राकृतमे भी है । पर वे मुख्य रूपसे धर्म और प्रवचनोकी भाषाएँ हैं जब कि यह भाषा काव्य-भाषा ही रही । धर्म और सिद्धान्तका स्वतन्त्र विवेचन करनेवाली पोथियाँ इसमें अभीतक देखनेमें नही आयी, फिर भी धार्मिकता इसमे है । ये कवि धर्मकी बात कहनेका अवसर निकाल ही लेते है । दूसरे वस्तुतत्त्व पुराणसे लेनेके कारण अतिरजित बातोका आना स्वाभाविक था। तीसरे उस युगमें कुछ ऐसी लोक-प्रिय लोक-कथाएँ प्रचलित थी जिनकी उपेक्षा इन कवियोके लिए सम्भव नही थी । चौथा कारण यह है कि पौराणिक कथाओमें कुछ ऐसी मानवी जातियोका उल्लेख है जो कौतुक और चमत्कारकी जातियाँ समझी जाती थी, जैसे वानर जाति, राक्षस जाति, नाग जाति इत्यादि । इनमे कुछकी कहानियाँ पुराणोंमें निवद्ध हो चुकी थी और कुछकी गाथाएँ लोकमें प्रचलित थी । पुराण-काव्यलेखकोने उन्हे धर्म और काव्य-का सहारा लेकर एक जगह गूँथ दिया । इसीलिए आलोच्य साहित्यमें जहाँ एक ओर कथा-कहानियोंकी भरमार है, वहाँ दूसरी ओर काव्यात्मक वर्णन, प्रकृति चित्रण, अलकार आदि भी हैं। राजनीति, कामविज्ञान, सगीत, नृत्य, चित्रकला आदिका भी समावेश है। अत पुराण-काव्यकी कथा वस्तुके सघटनका महत्त्व घटनाओके क्रमिक विकास, सापेक्ष्यता या उनके मनो-वैज्ञानिक विश्लेषणमें न होकर इस बातमे है कि वे अपने विशेष लक्ष्य या धर्मको दृष्टिमें रखकर पुराण-कथाओ और लोक-कथाओको काव्यात्मक शैलीमें ढालनेमें कहाँतक सफल हो सके है । आगे चलकर हम देखेंगे कि किस प्रकार पुराण-काव्यपरम्परासे चरित-काव्योकी धारा प्रवाहित हुई ।

चरित-काव्य—आलोच्य अपभ्रंश चरित-काव्यके अन्तर्गत, १ पउम चरिउ, २ णायकुमार चरिउ, ३ जसहर चरिउ, ४ पउमसिरि चरिउ, ५ करकडु चरिउ, और ६ भविसयत्त कहा हैं। इनमे पउम चरिउ पुराण-काव्यके निकट होते हुए भी चरित-काव्य है। णायकुमार चरिउ तथा करकड

चरिउ रोमाण्टिक चरित-काव्य है, और जसहर चरिउ धार्मिक। बाकी चरित-काव्योंमें धर्मके साथ सामाजिक समस्याका भी अन्तर्भाव है। भविसयत्त कहा यद्यपि कथा है पर शैलीके विचारसे वह चरित-काव्यकी कोटिमें ही आता है।

पउम चरिउ

इसमें मुख्य रूपसे रामका जीवन-चरित अंकित है, फिर भी पौराणिकता उसमें है। अतः इसे दोनोंके बीचकी कड़ी समझना चाहिए। राजा श्रेणिकके पूछनेपर गौतम गणधरने जिनशासनके अनुसार रामकी कथाका जो वर्णन किया वह इस प्रकार है—

विद्याधर काण्ड—सबसे पहले कवि चौदह कुलकरोंका उल्लेख करता है, फिर संक्षेपमें रिसभ जिनकी मुख्य घटनाओंके अनन्तर ५वीं सन्धिमें राक्षस और वानर वंशोंका विकास बताता है। कहा जाता है कि अयोध्यामें महापुरुषोंकी परम्पराका अन्त होनेपर, बहुत समयके बाद, सगर चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ। उसके साठ हजार पुत्र थे। एक बार वे कैलास पर्वतपर रिसभ जिनकी वन्दना करने गये। वहाँपर स्थित जिन-मन्दिरकी सुरक्षाके लिए उसके चारों ओर उन्होंने खाई खोदना शुरू किया। इसपर धरणेन्द्र कुपित हो उठा और उसने सबको भस्म कर दिया। केवल भगीरथ और भीम शेष बचे। राजाको जब यह खबर लगी तो वह बहुत दुःखी हुआ। बादमें उसने भगीरथको राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर ली। इसी सगर राजाका समवी राजा सहस्राक्ष था। उसने अपने पिताकी हत्या करनेवाले पुण्यमेघपर चढाई करके उसे मार डाला। उसका पुत्र तोयदवाहन किसी तरह भागकर दूसरे तीर्थंकर अजित जिनके समवशरणमें पहुँच गया। सहस्राक्ष भी वहाँ आया, पर समवशरणमें प्रवेश करते ही उसका क्रोध जाता रहा। आगे चलकर इसी तोयदवाहनने लंका नगरीकी नींव डाली। यहींसे राक्षस वंश चला।

राजा सगरके बाद चौंसठवीं पीढ़ीमें कीर्तिधवल अयोध्याकी गद्दी-पर बैठा। एक बार उसका साला श्रीकण्ठ सपत्नीक वहाँ आया। काफी दिन रहनेके बाद जब वह जाने लगा तो बहनोईने रोक लिया। स्नेहवश उसने उसे वानरद्वीप दे दिया। उसकी पहाड़ीपर उसने किष्कु-पुर नगर बसाया। आगे चलकर उसकी सन्तानपरम्परामें अमरप्रभु

राजा हुआ। उसने लंकाकी राजकुमारीसे विवाह किया। नववधू जब ससुराल आयी तो आंगनमे बन्दरोके सजीव चित्र देखकर डर गयी। इसपर अमरप्रभु चित्र बनानेवालोपर अप्रसन्न हो उठा। तब मन्त्रियोने उसे बताया कि वानरोसे उसके परिवारका बहुत पुराना सम्बन्ध चला आ रहा है, उसे तोडना ठीक नही। उसने भी वानरको अपना राज-चिह्न मान लिया।

हम देख चुके है कि लंकाके राक्षस वंशका रथनूपुरके सहस्राक्षसे पुराना वैर चला आ रहा था। अब उसके पुत्र इन्द्रने अपनी प्रभुता और बढा ली यहांतक कि लंका-नरेश मालिको भी उसने हरा दिया। मालि-के भाई सुमालिके पुत्रका नाम रत्नाश्रव था। उसके तीन पुत्र थे—रावण, विभीषण और कुम्भकर्ण। एक लडकी थी चन्द्रनखा। रावणके शौर्यकी धाक शीघ्र ही चारो ओर फैल गयी। एक दिन खेलता हुआ वह भण्डारमे पहुँच गया। वहाँ उसने मणियोसे जडा हुआ हार गलेमे पहन लिया। विषैले सांप उस हारकी रक्षा कर रहे थे। उस हारमें रावणके दस मुख दिखते थे, इसलिए उसका नाम दशमुख पड गया। उसने अनेक विद्याएँ सिद्ध की। मन्दोदरीके सिवा उसकी छह हजार रानियां और थी। कुम्भकर्णने राजा वैश्रवणके क्षेत्रमें जाकर उत्पात मचाना शुरू कर दिया। उसके विरोध करनेपर रावणने उसका राज्य हडप लिया। उसने किष्कपुरके राजा वालिको हराना चाहा, पर उलटी उसे हार खानी पडी। वालि अपने अनुज सुग्रीवको राज्य देकर तप करने चला गया, परन्तु रावण असलमें रथनूपुरके राजवंशसे बदला लेनेकी सोच रहा था। उसने यमपर आक्रमण कर कितनी ही जनताका उद्धार किया। यमने इसकी शिकायत इन्द्रसे की। इन्द्रने विचारके लिए मन्त्रिमण्डलकी बैठक बुलायी। सर्व सम्मतिसे चित्रांगदको सन्धिका प्रस्ताव लेकर रावणके पास भेजा गया। रावणने सन्धिकी ऐसी कडी शर्ते रखी, जिन्हें स्वीकार करना दूतके लिए असम्भव था। वह युद्ध-का न्योता देकर चला गया। दोनोमें लडाई हुई, पर इन्द्र हार गया।

रावण बहुत बडा जिन-भक्त था। एक बार नर्मदाके किनारे वह बालूकी वेदीपर जिन-प्रतिमा रखकर पूजा कर रहा था। इतनेमें वेगसे पानी बढ आया। उसका सामान बह गया। पता लगानेपर उसे मालूम हुआ कि ऊपरकी ओर राजा सहस्रकिरणने जलक्रीडाके बाद यन्त्रोंसे

रुद्ध पानीको छोड दिया है, उसीसे यह बाढ आयी है। रावणने उसपर हमला कर दिया। सहस्रकिरण भी लडा, पर बन्दी बना लिया गया। बादमें उसके पिताके कहनेपर रावणने उसे छोड दिया। रावण अब अपना राज्य करने लगा। उसने अनन्तरथ मुनिके पास यह प्रतिज्ञा की कि जो स्त्री मुझे नही चाहेगी, मैं उससे जबरदस्ती नही करूँगा। एक बार वह विमानसे जा रहा था। नीचे वालि तप कर रहे थे। उनके ऊपर आते ही विमान रुक गया। रावणने उतरकर उन्हें देखा तो वह क्रुद्ध हो उठा। उसने पर्वत सहित उखाडकर उन्हें फेंकना चाहा, पर धरणेन्द्रने आकर पर्वत दवा लिया। वह भारसे चिल्ला पडा। अन्तमें क्षमा माँगकर उसने अपनी जान बचायी।

एक बार नन्दीश्वरकी पूजाके अवसरपर बहुत बडा मेला हुआ। उसमें प्रह्लादराज अपनी पत्नी केतुमतीके साथ वरकी तलाशमें गया। उसने वहाँ कुमार पवनजयको अपनी लडकी अंजना मँगनीमें दे दी। कुमार भावी पत्नीसे मिलनेके लिए बेचैन हो उठा। वह अपने मित्रके साथ चुप-चाप वहाँ आया, लेकिन उस समय अंजनाकी सहेली किसी और लडकेकी प्रशंसा कर रही थी। कुमारको यह बहुत बुरा लगा। पहले तो उसने विवाह न करनेका निश्चय किया, लेकिन बादमें लोगोंके समझानेपर मान गया। घर आकर उसने पत्नीसे कोई सम्बन्ध नही रखा। इधर रावणके बुलावेपर वरुणसे युद्ध करने चला गया। मानसरोवरपर चकवा-चकवीका वियोग देखकर उसे घरकी याद आ गयी। वह आकर रात-भर पत्नीके पास रहा, और पहचानके लिए कंगण देकर चुपचाप चला गया। इधर अंजना गर्भवती हुई तो सासने कलंक लगाकर घरसे निकाल दिया। वह मायके पहुँची, पर वहाँसे भी ठोकर ही मिली। अन्तमें उसने अपनी सहेलीके साथ एक गुफामें हनुमान्‌को जन्म दिया। बादमें उसका मामा उसे अपने घर ले गया। युद्धसे लौटनेपर जब पवनजयको पत्नीके निष्कासनका पता चला तो वह शोकातुर हो उठा। वह उसकी तलाशमें चल पडा। अन्तमें बडी कठिनाईसे दोनोंका मिलन सम्भव हुआ। रावणका वरुणसे दोबारा युद्ध छिडनेपर हनुमान् गया। वरुणको हरानेका श्रेय हनुमान्‌को मिला। रावणने भी उसका योग्य सत्कार किया।

अयोध्या काण्ड—सागरबुद्धि मुनिने विभीषणके पूछनेपर उसे

बताया कि रावणकी मृत्यु दशरथकी सन्तानके हाथ होगी। फलत विभीषणने अपने गुप्तचर जनक और दशरथका वध करने भेजे, पर नारदने उन्हें पहले ही इसकी सूचना दे दी। फलत वे बच गये। बादमे राजा दशरथ कौतुकमगलपुर कैकेयीके स्वयवरमें गये। उसने उन्हें ही माला पहनायी। दूसरे उम्मीदवार इसपर बिगड गये। उन्होने दशरथ-पर हमला कर दिया। कैकेयीकी सहायतासे दशरथ जीत गया और कैकेयीसे वर माँगनेको कहा। कैकेयीने यह बात भविष्यपर छोड दी। दशरथके चार पुत्र हुए—अपराजितासे राम, सुमित्रासे लक्ष्मण, कैकेयीसे भरत, और सुभद्रासे शत्रुघ्न। जनकके भी एक लडकी और एक लडका थे—सीता और भामण्डल। भामण्डलको एक विद्याधर उडा ले गया। उसका पालन-पोपण वही हुआ। एक बार जनककी मिथिलाको शबर, पुलिन्द और म्लेच्छोने घेर लिया। उन्होने सहायताके लिए अयोध्या पत्र भेजा। दशरथने राम-लक्ष्मणको भेजा। दोनोने जाकर वीरतापूर्वक उपद्रवियोको दूर खदेड दिया। इसपर प्रसन्न होकर जनकने अपनी कन्या रामको देनेका सकल्प कर लिया। एक दिन सीता अपने बाल सँवार रही थी। पीछेसे नारद आ गये। उनकी छाया देखकर वह डर गयी। इसपर अनुचरोने अपमानित करके नारदको निकाल दिया। वह भी गाँठ बाँध-कर चला गया। सीताका चित्रपट ले जाकर उसने भामण्डलको दिखाया। वह मोहित हो गया। उसके पिताने पुत्रकी बुरी हालत देखकर एक विद्याधर जनकको लेने भेजा। वह उसे उठा लाया। उसने जनकसे सीताकी माँग की तो जनकने कहा, 'मैं रामको दे चुका हूँ'। अन्तमे स्वयवरकी व्यवस्था की गयी। उसमे भी जब भामण्डलको सीता नही मिली तो वह उसे उडा लानेके लिए चला। रास्तेमें अचानक जातिस्मरण हो गया। तब उसे यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि उसकी प्रेमिका उसकी सगी बहन है। वह सीधा अयोध्या गया और सबसे क्षमा-याचना की। अपना बुढापा देखकर दशरथने रामको राज्य देकर जिनदीक्षा लेनेका निश्चय प्रकट किया। उत्सवकी तैयारी होने लगी। ठीक समयपर कैकेयीने दरबारमें जाकर दशरथसे अपने दोनो वर माँगे—रामको वनवास और भरतको राज्य। इससे उन्हें बहुत ठेस लगी। फिर भी उन्होने रामको बुलाकर सब बात बता दी। राम सहर्ष वन जानेके लिए तैयार हो गये। लक्ष्मणके क्रुद्ध होनेकी आशका थी, पर रामने उसे समझा-बुझा दिया। भरतको जब यह मालूम हुआ तो उसने पिताको खूब खरी-खोटी सुनायी। जब राम

अपने भवनमे नगे पैर निकले तो उनकी मांको बहुत दुःख हुआ। सीता और लक्ष्मण भी उनके साथ हो गये। उनके वनगमनने माताएं मूच्छित हो गयीं। सारे नगरमें शोककी लहर छा गयी। इधर दशरथने दीक्षाकी तैयारी की। भरत भी साधु बननेको उतारू हो गया, पर पिताने उसे किसी तरह समझा दिया। तब वह रामकी मांके पास गया। उन्हें होशमे लाकर उसने कहा, 'मां, तुम धीरज रखो, मैं रामको अभी वापस लाता हूं। मेरा इसमें जरा भी दोष नही है।' यह कहकर वह सीधा रामके पास नदीके तीरपर पहुँचा। उसके पीछे कैकेयी भी वहां गयी। रामने मांको प्रणाम कर कहा, 'मां, तुम यहां व्यर्थ आयी, क्योंकि तातने तुम्हें जो वचन एक बार दिया है मैं उसका सौ बार पालन करूंगा।' भरतको अयोध्या भेज राम आगे बढ गये। कुछ दूरपर उन्हें तापस वन मिला। वहांसे चित्रकूट होते हुए वे दशपुर पहुँचे। वहां वज्रकर्ण और सिंहोदरके युद्धमे उन्हें बीच-बचाव करना पडा। वज्रकर्णने केवल जिनको नमस्कार करनेकी प्रतिज्ञा की थी। इसीपर सिंहोदरने उसपर चढाई कर दी थी। लक्ष्मणने साधर्मी वज्रकर्णका पक्ष लेकर दोनोंमे सन्धि करवा दी। वहांसे आधी रातको चलकर वे लोग कुबेरपुर पहुँचे, यहांकी शासिका कल्याणमाला थी। वास्तवमें वह लडकी थी, परन्तु नररूप धारण कर राज्य करती थी। उसके पिता बालाखिल्यको भीलराज रुद्रभूतिने कैद कर लिया था। लडकेके अभावमें राज्य बचानेके लिए उसे ऐसा करना पडा। लक्ष्मणको देखकर वह मोहित हो गयी। उसने बुलवाकर उसे आधे आसनपर बैठाया। राम और सीताको भी वही बुला लिया। स्नानके बाद उन लोगोंने भोजन किया। लक्ष्मणने रुद्रभूतिको सजा देनेकी प्रतिज्ञा की। एक दिन बिना कुछ कहे, वे तीनो चल पडे। मार्गमें रुद्रभूति सीताको देखकर आसक्त हो गया। उसने आक्रमण किया। पर लक्ष्मणके धनुषकी टंकारमे वे सब भाग गये। बादमे रुद्रभूतिने आत्मसमर्पण कर दिया। बालखिल्य मुक्त हो गया। लक्ष्मण रुद्रभूतिको दण्डित करने जा रहा था, परन्तु रामने रोक लिया। वहांसे चलकर उन्होंने एक विशाल वटवृक्षके नीचे डेरा डाला। इतनेमें घनघोर वर्षा शुरू हो गयी। उस पेडपर एक यक्षका डेरा था। उसने इन्हें देखकर यक्षराजसे शिकायत की। उसने यह जान लिया कि ये महापुरुष हैं, और तत्काल विद्याके बलसे सुन्दर रामपुरी बना दी। वह स्वयं वीणा लेकर उनके सामने स्तुति करने लगा। जब रामकी आंख खुली तो सारा दृश्य ही बदल चुका था। यक्षने उन्हें सुघोष वीणा दी।

वहाँसे वे जीवन्तनगर पहुँचे। इस नगरका राजा महीधर था। उसकी लडकी वनमाला लक्ष्मणको दी जा चुकी थी। परन्तु भरतने उसे पत्र-द्वारा यह बता दिया था कि लक्ष्मण वनको चले गये हैं, इसलिए अपनी लडकी किसी औरको दे सकते हो। यह बात सुनकर वनमालापर जैसे वज्र टूट पडा। वह आत्महत्याके उद्देश्यसे अशोककी पूजा करनेके लिए अशोकवनमें गयी। काफी रात होनेपर, जब उसने देखा कि रक्षक सो गये हैं, तो पेडपर लटककर उसने मरना चाहा। लेकिन इसी समय लक्ष्मणने आकर उसे गोदमें भर लिया। रक्षक उसपर झपट पडे, पर लक्ष्मणने हटा दिया। असली परिचय मालूम होनेपर राजा अपने दामादको स्वागत-सत्कारके साथ नगरमें ले गया।

इसी बीच रामको पता चला कि नन्द्यावर्तका राजा अनन्तवीर्य भरतपर चढाई करनेका षड्यन्त्र कर रहा है। उन्होंने छलसे उसे पराजित करनेकी योजना बनायी। नटका वेश बनाकर वे नन्द्यावर्त पहुँचे। सीता देवीको एक जिन-मन्दिरमे छोडकर दोनो भाई दरबारमें पहुँचे। रामने अपना नाच-गाना शुरू किया। गीतमें उन्होने राजाको भरतकी अधीनता मान लेनेकी सलाह दी। इसपर राजा इनपर झपटा, पर रामने उसे पकड लिया। ये उसे जिन-मन्दिरमें ले आये। वहाँ उसे भरतका सामन्त बनाकर मुक्त कर दिया। उसके बाद वे लोग क्षेमजलि नगर गये। वहाँ राजा अरिदमनकी क्रूरशक्तियाँ झेलकर लक्ष्मणने जितपद्मासे विवाह किया। फिर उन्हें वशस्थल नगर मिला। यहाँ देशभूषण और कुलभूषण मुनिपर उपसर्ग हो रहा था। रामने उसे दूर किया। बादमें मुनिने उपसर्गका कारण बताते हुए पूर्वभवकी बातें सुनायी। धर्मोपदेश भी दिया।

एक बार रामने दो जैन साधुओको आहार दान दिया। उन्हें देखकर जटायु उनके चरणोपर गिर पडा। उसके पंख सोनेके हो गये। रामने मुनिसे इसका कारण पूछा। मुनिने बताया कि पिछले जन्ममें यह पक्षी बौद्ध था और उसने एक जैन साधुके गलेमें मरा हुआ साँप डाला था। और पाँच सौ साधुओको यन्त्रपीडा दी थी। बादमें उसे अपनी भूल मालूम हुई। सीताने उसे बेटेकी तरह अपने पास रख लिया।

रामने अब दण्डक वनमें प्रवेश किया। वहाँ रावणकी बहन, खरदूषणकी पत्नी चन्द्रनखाका बेटा शम्बूक वशजालमें बैठकर सूर्यहास खड्ग सिद्ध कर रहा था। उसकी सिद्धिका समय निकट ही था। माँ भोजन

लेकर जा रही थी। इतनेमें लक्ष्मण वहाँसे निकले। वह खड्ग उनके हाथमें आ गया। उसे आजमानेके लिए उन्होंने बाँसको काटा। उसमें शम्बूकका कटा हुआ सिर धरतीपर गिर पड़ा। यह देखकर उनके अचरजका ठिकाना नहीं रहा। उन्होंने आकर रामको सब हाल बताया। राम समझ गये कि यह अच्छा नही हुआ। उधर चन्द्रनखा भोजन लेकर पहुँची, तो अपने बेटेको मरा पाकर दहाड मारकर रोने लगी। लेकिन जब उसने राम-लक्ष्मणको देखा तो वह पुत्रशोकको भूलकर उनपर मुग्ध हो उठी। वह सुन्दरीका रूप धारण कर उनके पास गयी, लेकिन जब दोनो भाइयोंमें-से एकने भी उसे पत्नी बनाना पसन्द नही किया, तो वह क्रुद्ध हो उठी और विकराल रूप बनाकर उसने इन्हे धमकी दी। उसने जाकर अपने पतिसे कहा। खरदूषणने चढाई कर दी और रावणके पास सहायताके लिए पत्र भेजा। लक्ष्मण और खरदूषणमें जब घोर युद्ध हो रहा था, तब रावण भी आया, पर सीताको देखकर वह विह्वल हो उठा। उसने अवलोकिनी विद्याके परामर्शपर सिंहनाद किया। रामने समझा कि लक्ष्मणने यह सिंहनाद किया होगा। वे सीताको अकेली छोडकर भाईकी सहायताके लिए गये। इतनेमें रावण सीताको उडा ले गया। रास्तेमें भामण्डलके अनुचर एक विद्याधरने रावणका प्रतिरोध किया, पर उसे हारना पडा।

युद्धमें रामको देखकर लक्ष्मणका माथा ठनक गया। उन्होंने कहा, 'देव, यहाँ आकर आपने ठीक नहीं किया, आप फौरन सीतादेवीके पास जायें। सिंहनाद मैंने नही किया।' राम वापस आये, सब कुछ वैसा ही था, पर सीता नही थी। वह विलाप करने लगे। इतनेमें घायल जटायु उन्हें दिखा, वह रावणसे लडकर मरणासन्न था। रामने णमोकार मन्त्र सुनाकर उसकी मिट्टी ठिकाने लगायी। अब राम पेड-पौधों और पशु-पक्षियोंसे पूछते हुए पागलोकी भाँति भटकने लगे। अचानक दो चारण मुनियोंने यह सब देखा। उन्होंने रामको बहुत समझाया, पर रामने उनकी बात नही मानी। युद्धमें खरदूषणका काम तमाम करके लक्ष्मण वापस आये। भाईको सीताके वियोगमें दुःखी देखा। इसी समय विराधित उनकी शरणमें आया। सीताकी खोजका आश्वासन देकर वह उन्हे तमलंकार नगर ले गया।

लंका पहुँचकर सीताने नन्दनवनमें रहना ही ठीक समझा। चन्द्रनखा विधवा होकर रावणके पास सहायताके लिए आयी। किन्तु रावणने

सीताके ध्यानमे उसकी बात अनसुनी कर दी। उसके कहनेपर मन्दोदरी सीताको प्रसन्न करने गयी; पर सीताने उसे बुरी तरह डांट दिया। दोनोमे झपट हो गयी। रोनेकी आवाज़ सुनकर विभीषणको इस काण्डका पता चला। उसने सीताको ढाढस बँधाया। रावणको भी बुरा-भला कहा।

सुन्दर काण्ड—जिस समय राम सीताके वियोगमें व्याकुल थे, उसी समय् विराधितको लेकर सुग्रीव सहायताके लिए उनके पास आया। उसकी पत्नी ताराको सहस्रकिरणने सुग्रीवका रूप धारण कर हर लिया था। राम इस शर्तपर उसकी सहायताके लिए राज़ी हो गये कि बादमें वह सीताकी खोज करेगा। लक्ष्मणने अपने प्रसिद्ध धनुषकी टकारसे नकली सुग्रीवकी विद्या छीन ली, वह अपने असली रूपमें प्रकट हो गया। असली सुग्रीवको उसकी पत्नी मिल गयी, लेकिन घर जाकर सुग्रीव रामको भूल गया। रामने तब लक्ष्मणको उसके पास भेजा। सुग्रीवको अपनी भूलपर दु ख हुआ। उसने चारो ओर दूत भेजे। स्वयं भी गया। रास्तेमें उसकी रत्नकेशीसे भेंट हुई। वह सीताका पता जानता था। सुग्रीव विमानमें बैठाकर उसे रामके निकट ले आया। रामको उसने आँखो देखा सब हाल कह सुनाया। रामने लडकर सीताको वापस लेनेका संकल्प किया, परन्तु हनुमान्के सहयोगके बिना युद्धमें जीतना असम्भव था। इसलिए लक्ष्मी-भुक्तिको दूत बनाकर हनुमान्के पास भेजा। हनुमान्की दो पत्नियाँ थी—अनगकुसुम खरदूषणकी लडकी थी, और पकजरागा सुग्रीवकी। जब दूतने सुग्रीवकी जीत और खरदूषणके निधनकी खबर दी, तो एक प्रसन्नतासे नाच उठी जब कि दूसरी शोक-विह्वल हो गयी। हनुमान् पहले तो राम-पर बिगडा, लेकिन असली घटनाका पता लगनेपर बादमें वह रामके पक्षमें हो गया। वह दूतके साथ किष्किन्धपुरके लिए चल पडा। राम और सुग्रीवने धूम-धाममे हनुमान्का स्वागत किया। वह दूत बनकर विमानसे लका गया। मार्गमें उसे अपने नाना प्रह्लादराजका नगर मिला। उसने माँके अपमानका बदला लेनेके लिए लडाई छेड दी। घोर युद्धके अनन्तर उसने बाप-बेटेको हरा दिया। बादमें अपना परिचय देकर उनसे क्षमा भी माँग ली। वह लङ्काकी सीमापर पहुँचा। वहाँ कई राक्षसोसे निपटकर भीतर प्रविष्ट हुआ। यहाँ लकासुन्दरीसे उसकी मुठभेड हुई। बादमें दोनोका प्रेम हो गया। इस प्रेमिकाने आगे चलकर हनुमान्की बहुत सहायता की। वह विभीषणके घर ठहरा। जब वह सीताके निकट गया तब उसका

मन्दोदरीसे द्वन्द्व हो रहा था। हनुमान्ने उसे डाँटा, इसपर मन्दोदरी उसपर खूब बिगडी। हनुमान् सीताको अपने कन्धोपर बैठाकर ले जानेके लिए तैयार था, परन्तु उसने इस तरह जाना ठीक नही समझा। रामकी अँगूठी उसने सीतादेवीको दे दी और उनका चूडामणि ले लिया। लौटते हुए उसने रावणके उद्यानमे खूब ऊधम किया। पेड उखाडकर उनसे कितने ही योद्धाओको धरतीपर सुला दिया। वह स्वेच्छासे वन्दी होकर रावणके सम्मुख पहुँचा। उसने भी रावणको समझाया, पर वह नही माना। इसी बीच बन्धन तोडकर हनुमान् रामकी ओर चला।

हनुमान्के आते ही रामने अभियानका डका पिटवा दिया। योद्धा सजने लगे। पहले उन्होने वेलन्धर पर्वतपर डेरा डाला, फिर लकाके लिए चले। लकाको देखते ही सैनिकोमे वीर रसका सचार होने लगा। विभीषणने आकर रामसे भेट की। रामके सम्बन्धी भी सहायताके लिए आ गये। उन्हें विमानकी प्राप्ति हुई। घमासान लडाई शुरू हो गयी। रावणने लक्ष्मणपर शक्ति मारी। वह मूच्छित होकर गिर पडे। राम विलाप करने लगे। वादमे द्रोण गन्धराजाकी लड़कीके स्नान-जलसे लक्ष्मणको चेतना आयी। रावण शान्तिनाथमन्दिरमे विद्या सिद्ध करने गया। फिरसे लडाई शुरू हुई। अचानक रावणका चक्र लक्ष्मणके हाथ आ लगा। उन्होने उसीसे रावणका अन्त कर दिया। भाईकी मृत्युसे विभीषणको बुरा लगा। कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, मन्दोदरी आदिने दीक्षा ले ली। राम-सीताका मिलाप हुआ। लकाविजयके अनन्तर दोनो भाई अयोध्या लौट आये। भरत रामको राज्य सौप कर माँके साथ तप करने चला गया।

सीता गर्भवती हुई, परन्तु लोकापवादके कारण रामने उसे वनमे छुडवा दिया। सीताकी उस असहाय अवस्थामे वज्रजघने उसकी सहायता की। सीताने लव और कुशको जन्म दिया। जब दोनो बच्चे सयाने हुए तो दिग्विजयके लिए निकले। लक्ष्मण उनका सामना करने आया, घोर द्वन्द्वके बाद दोनोका परिचय हुआ। वे एक हो गये। अपनी पवित्रताको प्रमाणित करनेके लिए सीताने आगमें प्रवेश किया। रामने एक केवलीसे धर्मोपदेश सुना। लक्ष्मणकी मृत्यु होनेपर राम बहुत दु खी हुए और तप करने चले गये। हनुमान् आदि भी उनके साथ हो लिये। सीताने भी दीक्षा ग्रहण की। रामने मोक्ष प्राप्त किया और सीता-देवी घोर तप कर सोलहवें स्वर्ग गयी।

शैली—पउम चरिउमें कुल नब्बे सन्धियाँ और पाँच काण्ड हैं—विद्याधर काण्ड, अयोध्या काण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड और उत्तर काण्ड। विद्याधर काण्डमें रिसभ जिनके संक्षिप्ततम परिचयके बाद उन दो प्रमुख वंशोंका इतिहास दिया है जो आगे चलकर रामकी जीवन-कथासे निकटतम रूपमें सम्बद्ध हुए—एक है वानरवंश और दूसरा राक्षसवंश। ये दोनों विद्याधर जातियाँ कही जाती हैं। इनके इतिहाससे स्पष्ट है कि राक्षस और वानरवंशके सम्बन्ध हमेशा मैत्रीपूर्ण रहे। लंकाकी यदि किसीसे शत्रुता थी तो वह रथनूपुरवालेसे थी। उक्त वंशोंमें वैवाहिक सम्बन्ध भी होते थे और वे एक दूसरेकी सहायताके लिए तत्पर भी रहते थे। रामकी दक्षिण यात्रासे इनका बहुत निकट सम्बन्ध है। अतः इनका परिचय घटनाचक्रको समझनेके लिए अत्यन्त आवश्यक था। इस काण्डका नाम कविने विद्याधर काण्ड रखा। इसका एक लक्ष्य यह बताना भी है कि वानर और राक्षस विद्याधर थे, न कि फूहड़ और नृशंस अनार्य। कला और संस्कृतिमें ये किसी प्रकार हीन नहीं थे। राम और रावणका युद्ध आर्य और अनार्य अथवा दैवी और आसुरी शक्तियोंका युद्ध न होकर मनुष्य जाति और विद्याधर जातिका युद्ध था। रामके जन्मके पहले ही रावणके समय राक्षसवंश चरम उत्कर्षपर था।

अयोध्या काण्डमें रामकी कहानी प्रारम्भ होती है। राम-वनगमनका मुख्य कारण कैकेयीका वरदान माँगना था। भरत यह नहीं चाहते थे, लक्ष्मण भी इसके पक्षमें नहीं थे, पर राम पिताकी आज्ञाको ही सबसे बढ़कर समझते थे। वनयात्रामें घटित हुई मुख्य घटनाओंका उल्लेख कर चुकनेपर कवि शम्बुकवध और चन्द्रनखाके अपमानकी घटनाका भी वर्णन कर देता है। भावी राम-रावणयुद्धका बीज यहींसे विकसित होता है। अयोध्या काण्डमें जिन घटनाओंका उल्लेख है उनमें कुछ तो जैनधर्मका प्रभाव बढ़ानेके उद्देश्यसे ग्रन्थित की गयी हैं, कुछ लक्ष्मणके शौर्यको व्यक्त करनेके लिए हैं, और कुछ उसके युगकी सामाजिक अवस्था और संस्कृतिका चित्र उपस्थित करती हैं। आगे चलकर लक्ष्मण और खरदूषणके युद्ध-प्रसंगमें रावण सीताको उड़ा ले गया। युद्धकी सम्भावना अब अधिक बढ़ गयी। सीताके लिए दोनों विकल हैं – राम भी और रावण भी। राम सीताकी खोजके लिए आतुर हैं और रावण सीताको मनानेमें पागल हो रहा है।

सुन्दर काण्डमें रामके कुछ सहयोगी मिलने लगते है, विराधित आ चुका था। अब सुग्रीव आया। पत्नी-हरणका मामला उसका भी था। लक्ष्मणने उसकी मदद की। इस काण्डमें उसने पहले सीताकी खोज की, फिर हनुमान्का सहयोग प्राप्त किया। हनुमान्को लंका भेजा गया। वहाँ उसने दौत्य भी किया। ऊधम भी मचाया। सीतासे भेंट की और लंकासुन्दरीसे रोमांस भी। जो भी हो उसके लौटनेपर युद्धके लिए रामने प्रस्थान कर दिया।

युद्ध काण्ड—युद्ध काण्डका प्रारम्भ विभीषण और रावणकी बातचीत-से होता है। विभीषणके अनुरोधपर रावण सीताको वापस करनेके लिए प्रस्तुत होता है, पर इन्द्रजीत उसे भड़का देता है। फलस्वरूप विभीषणको अपमानित अवस्थामें रामको छोड़कर दूसरा चारा नहीं रहता। हनुमान्-की सलाहसे जिस समय वह रामके पास पहुँचता है, ठीक उसी समय भामण्डल भी आता है। राम युद्ध टालनेकी दृष्टिसे अंगदको रावणके पास भेजते है। लक्ष्मण युद्धके पक्षमें हैं। अंगदका दौत्य असफल होनेपर युद्धके नगाड़े बज उठते है। तीन दिनों तक हार-जीतकी आंखमिचौनीके बाद चौथे दिन लक्ष्मण शक्तिसे घायल हो गये। हनुमान् विशल्याको लानेके लिए जाते हैं। बीचमें वह अयोध्या रुकते है। लक्ष्मणके घायल होनेके समाचारसे कैकेयीको बहुत दुःख होता है। वह राजा द्रोणघनसे अनुरोध करती है कि वह विशल्याको भेज दे। हनुमान् एक हजार कन्याओंके साथ विशल्याको ले आते हैं। उसके प्रवेश करते ही लक्ष्मण ठीक हो जाते है। इससे रावण चिन्तित होकर बहुरूपिणी विद्या सिद्ध कर लेता है। विशल्या और लक्ष्मणका प्रणय-बन्धन। मन्दोदरीके अनुरोधपर रावण समझौतेके लिए अपना दूत भेजता है, पर वह अपना-सा मुँह लेकर वापस आ जाता है। रावण सीताको तरह तरहके प्रलोभन देता है। वह उन्हें ठुकरा देती है। रावणका हृदय बदल जाता है। वह निश्चय करता है कि युद्ध जीतकर वह सीताको लौटा देगा। युद्ध होता है और उसमें रावण लक्ष्मणके हाथों मारा जाता है। विभीषण और रावणके अन्तःपुरके करुण क्रन्दनके बीच रावणका दाह-संस्कार। राम अपने दलके साथ उसमें सहयोग देते है। विभीषणको वह आश्वस्त करते है।

उत्तर काण्ड—उत्तर काण्डका श्रीगणेश एक प्रश्नसे होता-

सस्कारसे होता है। रावणके कई सम्बन्धी मुनि अप्रमेय बलसे दीक्षा लेकर तप करने लगते हैं। विभीषणके अनुरोधसे राम सीताको स्वीकार कर लेते हैं। लकामें धूम धामसे प्रवेश होता है। राम और लक्ष्मण छह वर्ष वही रहते हैं। बादमे नारदके सन्देशपर वे अयोध्या वापस आते हैं। विभीषण अयोध्याको सोनेकी बना देते है। दोनो भाई अपनी माताओसे मिलते है। भरत ससारसे विरक्त हो उठते है। वह और उसकी माँ कुलभद्रभूषण नामके मुनिसे दीक्षा ग्रहण करते है। शत्रुघ्न मथुराके राजा मधुपर आक्रमण कर उसका राज्य छीन लेता है। राम अपनी गर्भवती पत्नीके दोहदकी पूर्तिमें लगे हैं, उधर प्रजाके प्रतिनिधि सीताको लेकर उनसे शिकायत करते है। राम उसे निर्वासित करते हैं। उस असहाय अवस्थामें वह रामके बहनोई वज्रजघकी शरणमें रहती है। वही लवण-अकुश-को जन्म देती है। वज्रजघ उनका विवाह राजा भृथुकी कन्याओसे करना चाहता है। जब वह राजी नही हुआ तो दोनोने उसपर चढाई कर दी। अन्तमें बात पक्की हो गयी। उन दोनो भाइयोने और भी ऐसे राजाओको मात दी कि जो रामके सम्मुख घुटने नहीं टेक रहे थे। नारद-से ज्ञात होनेपर अपनी माँका बदला लेनेके लिए दोनो राम-लक्ष्मणपर आक्रमण कर देते है। किसी तरह बीचमें पडकर नारद दोनोका परिचय कराते है। दोनो भाइयोका अयोध्यामें राजकीय स्वागतके साथ प्रवेश हुआ। अभो सीताको अपनानेकी समस्या ज्योकी त्यो थी। हनुमान् आदि-ने रामसे इस बारेमें विनती की। लकासे त्रिजटाको बुलवाया गया। उसके अनुसार सीताकी अग्निपरीक्षा होती है, जिसमे वह जलकुण्डके एक कमल-पर बैठी हुई दिखाई देती है। राम उसे स्वीकार करते हैं, पर सीता दुनियासे ऊब चुकी थी। उसने एक साधुसे दीक्षा ले ली। इसपर राम उस साधुको मारनेके लिए तैयार हो गये, पर उनका दिव्य रूप देखते ही उनका क्रोध पानी-पानी हो गया। अन्तमें विभीषणकी प्रार्थनापर मुनि सकलभूषण प्रमुख पात्रोंके पूर्व जन्मका विस्तारसे वर्णन करते हैं। वस्तुत गुणमालाको लेकर, पूर्व जन्मोकी यह श्रृखला चलती है, जो टूटते-जुडते राम-रावणयुद्धमें समाप्त होती है। रामने जब यह सब सुना तो उनका मन विरक्तिसे भर उठा। राम अयोध्या लौट आये। भामण्डलकी बिजली गिरनेसे मृत्यु हो गयी। हनुमान्ने भी दीक्षा ले ली। एक दिन स्वर्गमें दो देवताओमें राम-लक्ष्मणके प्रेमको लेकर बातचीत होने लगी। उनमें-से एकने आकर राजभवनमें जोरसे कहा, 'राम मर गये।' यह ध्वनि

सुनते ही लक्ष्मणके प्राण-पखेरू उड गये। भाईके दुखसे राम पागल हो गये। उन्हें विश्वास नही होता कि लक्ष्मण मर गये। वह उसे लिये-लिये घूमते फिरे। इसी बीच इन्द्रजीतके लडकेने अयोध्यापर हमला करना चाहा, पर देवोने उसे असफल बना दिया। बहुत समय बाद रामकी आँखें खुली और उन्होने दीक्षा लेकर तपस्याकी राह पकडी। साधनाकालमें भी उन्हें अनेक प्रलोभन दिये गये, पर वह डिगे नही। अन्तमें उन्हे केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। रामने अपने पिता दशरथ तथा दूसरे लोगोका भूत, भविष्यत् बताया। अन्तमे उन्होंने निर्वाण लाभ किया। इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण, मेघवाहन, तथा लवण और अकुश दोनो भाई भी मोक्ष जाते हैं। अन्तमे कविका पुत्र त्रिभुवन स्वयभू इस उल्लेखके साथ कथाकी समाप्ति घोषित करता है —

'सुणो सुन्दर, दूरे पयायहि राउ पुरन्दर,
जिवेहि पगासिड मोक्खु विरास हो, कम्म बधुदिढु होई सरावहो'

मुनीन्द्र कहते हैं, हे इन्द्र सुन, तू रागसे अपनेको दूर रख। जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है कि मोक्ष विरक्तको ही मिलता है। जो रागी है, उसका तो कर्मबन्ध ही मजबूत होता है।

इस प्रकार देखा जाये तो उत्तर काण्टकी कथावस्तु सीताके निर्वासन और मिलनके बाद समाप्त हो जाती है, पर उसके बाद भी जो मुनीन्द्रके माध्यमसे कवि पूर्व जन्मकी परम्पराओका उल्लेख करता है, वह राग-विरागकी दार्शनिक प्रक्रियाको सिद्ध करनेके लिए। पुष्पदन्त भी राम-कथाका नियोजन पूर्व जन्मकी कर्म परम्पराके सन्दर्भमें करते हैं, परन्तु दोनोकी कथामें अन्तर है। स्वयभू प्रचलित रामकथाकी प्रमुख घटनाओ और पात्रोके व्यक्तित्वको बनाये रखते हैं। इसके विपरीत पुष्पदन्त-में उनका एकदम त्याग है। इसमें सन्देह नही कि पुराण-काव्य शैलीकी सभी विशेषताएँ प्रस्तुत कृतिमें हैं। जहाँ तहाँ अवान्तर कथा एक स्वतन्त्र आख्यानका-सा रूप भी ग्रहण करने लगती है, फिर भी किसी-न-किसी रूपमें वह मुख्य कथामें आ मिलती है। इस बातमे तो दो मत होनेका प्रश्न ही नही उठता कि पउम चरिउकी मुख्य कथा रामकी ही है। प्रस्तावनामें कवि स्वय इस तथ्यको स्वीकार करता है कि वह रामकथाके माध्यमसे अपने-आपको प्रकट कर रहा है। दूसरे उसमें महापुराणकी नीति कथाओ-का जाल नहीं है। अपने काव्यकी कथाकी उपमा, जो नदि, नदीसे

देता है, वह साभिप्राय है। एक तरहसे वह अपने कथा-शिल्पकी विशेषता स्वय बता देता है। एक नदीकी धारामे जो गतिवक्रता और समाहारशीलता चाहिए, वह स्वयभूके पउम चरिउकी कथावस्तुमें है। उसमें पौराणिक रूढियाँ अपेक्षाकृत कम ही स्थान पाती हैं। इन तत्त्वोके आधारपर हम इस निष्कर्षपर पहुँचते है कि पुराण-काव्योकी तुलनामें चरित-काव्योमें अलौकिकताका विस्तार कम होता है। उनमें लौकिकता और सक्षिप्तताकी प्रवृत्ति सर्वाधिक होती है। यह कहा जा सकता है कि महापुराणमें अनेक कथाओका सगम होनेसे उसमें पौराणिकताका समावेश स्वभावत होगा ही, यह तर्क समीचीन नही। कारण यह है कि एक कथात्मक काव्यमें भी पौराणिकता हो सकती है। उदाहरणके लिए आचार्य रविषेण-द्वारा नियोजित सस्कृत पद्मपुराणको ले लीजिए। यह ग्रन्थ पद्म चरित-का उपजीव्य भी है। यह होते हुए भी उसकी तुलनामें पद्म चरितमें विस्तार, अलौकिकता और धार्मिक तत्त्वोकी प्रचुरता अधिक नही है। महापुराणमें यह बात नही। अत कथावस्तु और उद्देश्य समान होते हुए भी शिल्पकी दृष्टिसे पुराण-काव्यो एव चरित-काव्योमें निम्न विशेपताएँ लक्षित की जा सकती हैं—

पुराण-काव्य	चरित-काव्य
१ अलौकिकता	१. लौकिक तत्त्व
२ विस्तार	२ सक्षेप
३ अवान्तर आख्यानोकी भरमार	३ मुख्य कथा एव अवान्तर घटनाएँ भी यथासम्भव प्रयोजन-सहित
४ पौराणिक रूढियो और धार्मिक तत्त्वोका अधिक उल्लेख	४ अपेक्षाकृत कम
५ वस्तुतत्त्व असम्बद्ध	५. थोडा-बहुत सम्बन्ध और उद्देश्य-का निर्वाह

यह तुलना हमने उक्त दो ग्रन्थोको लेकर की है। पउम चरिउकी कथा पौराणिक है, परन्तु जहाँ चरित-काव्यकी कथावस्तु एकदम पौराणिक नही है, वहाँ कथावस्तुका विकास अधिक सुसम्बद्ध और सवेदनीय है। पुराण-काव्यकी अपेक्षा चरित-काव्यकी सन्धि-योजनामें लाघव है। किसी भी सन्धिमें बीससे अधिक कडवक नहीं है। कमसे कम दस हैं। कडवककी रचनामें भी महापुराणमें निश्चित परिमाण नहीं है। परिमाण तो पउम-

चरितमें भी नहीं है, पर अन्तर उतना नहीं है। साधारणतया दोनोंमें एक विशेषता यह है कि सन्धिके प्रारम्भमें ध्रुवक-द्वारा मुख्य वर्णित घटनाकी सूचना कवि दे देता है। जहाँ एक ही कथा कई सन्धियोंमें रहती है। वहाँ भी मुख्य कथांशकी सूचना दे दी जाती है। इससे आगेकी घटना समझनेमें सुगमता होती है।

रिट्ठणेमि चरिउ या हरिवंशपुराण

इसके लेखक स्वयम्भूदेव हैं। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ क्रमश ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, बम्बई, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना और डॉ० हीरालाल जैन, जबलपुरके पास है। इसमें सब ११२ सन्धियाँ और १९३७ कडवक हैं। ९२ सन्धियाँ स्वय स्वयम्भू-रचित हैं, शेषमें कुछ उनका और उनके पुत्र त्रिभुवन एव जसकीतिका हाथ है। ग्रन्थमें चार काण्ड हैं – यादव, कुरु, युद्ध और उत्तर काण्ड। जैसा कि पौराणिक काव्योंकी परम्परा होती है वस्तुत पहले और दूसरे काण्डोंमें यादव और कुरु वंशोंके उद्भव और विकासका ऐतिहासिक विवरण है, शेषमें उन परिस्थितियों और कारणोंका चित्रण है, जिनमें महाभारत सम्भव हुआ। कृष्णकी कथा यादव काण्डमें आती है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उक्त वंशके केन्द्रीय व्यक्ति वही हो सकते थे। उत्तर काण्डमें हार-जीतके विश्लेषणके सन्दर्भमें आध्यात्मिक निष्कर्षोंके अंकनके साथ कथाका उपसंहार है। कथाके विन्यास और चरित्रोंके चित्रणमें कवि अपनी परम्पराके पूर्व कवियोंसे अनुप्राणित है। पउमचरितकी भाँति प्रस्तुत काव्यमें भी वह, साहित्यकी पूर्व परम्पराका प्रसन्न होकर उल्लेख करता है –

इंदेण समप्पिउ वायरणु रसु भरहें वासें वित्थरणु
पिंगलेण छंद पय पत्थारु भम्मह दंडियाहि अलंकारु
बाणेण समप्पिउ घणघणउ, त अक्खरडंबरु अप्पणउ
छउमुहेण समप्पिय पद्धडिय
पा॰मिय सुणु हरिवंस कहा, सममय परसमय वियारसहा
– रि० णे० च० १.२

अपभ्रंश कवियोंका यह स्वभाव है कि पूर्व परम्पराके निर्देश और आत्मविनयके सन्दर्भमें वे अपनी काव्य-प्रेरणाओंके आदर्शोंका संकेत कर

देते हैं। दूसरे शब्दोंमें इसका अभिप्राय है कि कविने अपनी कृतिमें भरतके रस-सिद्धान्त, भामह और दण्डीके अलंकारवाद, पिंगलके छन्दशिल्प और बाणकी शब्द-विन्यास शैलीका समन्वय किया है। एक भाषा-काव्यमें इनका समाहार अपने-आप महान् कौशल है। चतुर्मुखका पद्धडिया-बन्धकारके रूपमें उल्लेख भी साभिप्राय है। यह बताता है कि पद्धडियबन्ध-का प्रारम्भ अपभ्रंशमें स्वयभूके पहले हो चुका था। चतुर्मुखने हरिवंश-पुराण अर्थात् पाण्डव और कृष्ण-कथापर पद्धडियाबन्धमें अपभ्रंशमें काव्य-रचना की थी इसलिए स्वयंभूने हरिवंशपुराणके सन्दर्भमें उसका पुण्य स्मरण करना उचित समझा। धाहिल कविने भी चतुर्मुखको हरिवंश-पुराणका लेखक माना है। चतुर्मुखने हिन्दी दृष्टिकोणसे हरिवंशपुराणकी रचना की थी। तभी इन कवियोंने जैन दृष्टिकोणसे उसे काव्य निबद्ध करनेका प्रयास किया। धाहिलने यह स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है। स्वयभूने भी इस सम्बन्धमें एक हलका-सा संकेत दिया है जैसा कि ऊपरके अवतरणसे साफ झलकता है। स्वयभू कहते हैं,

पारंभिय पुणु हरिवंस कहा, ससमय परसमय वियारसहा।

यह महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। यह उनके उदार दृष्टिकोणको बताता है। वह कहता है कि मैं भी हरिवंशकथा प्रारम्भ करता हूँ जो स्वशास्त्र और परशास्त्रको सहन करनेमें समर्थ है। इस प्रकार कवि अपने काव्यमें कृष्ण-कथाके नियोजनमें एक प्रकारसे मध्यम मार्ग अपनाता है। वस्तुतः आलोच्य कृतिके सम्पूर्ण सम्पादन और समकालीन एवं पूर्ण परवर्ती कृष्ण कथाओंके तुलनात्मक अध्ययनके आधारपर ही उनके उक्त कथनको कसा जा सकता है।

करकंड चरिउ

यह मुख्यत रोमाण्टिक चरित-काव्य है। समूची कृति १० सन्धियोंमें पूरी होती है। मुख्य कथा यह है — अंग-नरेशकी चम्पा नगरीमें राजा धाडीवाहन रहता था। कुसुमपुरकी पद्मावतीसे उसका प्रेम हो गया। वह कौशाम्बीके राजा वसुपालकी लड़की थी, पर अनिष्ट समझकर माँ-बापने उसे नदीमें बहा दिया था और कुसुमपुरके मालीने उसे पाल लिया था। राजकन्या समझकर राजाने उससे विवाह कर लिया। रानीने कुछ सपने देखे। उनसे राजाने जान लिया कि उनके यशस्वी पुत्र उत्पन्न होगा।

गर्भवती होनेपर रानीको वर्षामें राजाके साथ हाथीपर बैठकर नगर घूमनेकी इच्छा हुई। राजाने विद्याके बलसे सब व्यवस्था कर दी। हाथी उन दोनोको लेकर भागा। दोनोके प्राण सकटमे देखकर रानीने राजासे पेडकी डाल पकड लेनेको कहा। उसने वैसा ही किया। हाथी भागता हुआ तालाबमें घुसा। रानी उसमे कूद पडी। वहांसे निकलकर वह वनमें गयी। उसके आनेसे वन हरा-भरा हो गया। इसपर वनपाल उसे अपने घर ले गया, किन्तु उसकी पत्नीने इसका विरोध किया। पद्मावतीको वहांसे हटना पडा। उसने श्मशानमे पुत्रको जन्म दिया।

वहाँ एक विद्याधर चण्डाल बनकर रहता था। उसने बच्चेको अपने पास रखनेकी अनुमति मांगी। उसने जब यह बताया कि इस बालकके बडे होने और राजा बननेपर वह भी शापसे छूट जायेगा, तो रानीने उसे अनुमति दे दी। बचपनमे बालकके हाथमे खुजली हो गयी थी अत उसका नाम ही करकण्डु हो गया। विद्याधरने कला और विद्यामें उसे खूब निपुण बना दिया। पद्मावती वैसे साध्वी हो गयी थी, फिर भी कभी-कभी ममतावश बच्चेको शक्करके लड्डू देने जाती। एक बार दो जैन यति वहाँ आये। पूछनेपर उन्होंने बताया कि जो इस झुरमुटके तीन बांसोको काटेगा, वह धरतीका स्वामी बनेगा। एक ब्राह्मणने यह सुन लिया, वह बांस काटकर ला रहा था, परन्तु करकण्डुने उससे वे बांस ले लिये। उसे यह विश्वास दिया कि वह राजा बननेपर उसे मन्त्री अवश्य बनायेगा। इसी समय दन्तीपुरका राजा मर गया। उसके सन्तान न थी। अत मन्त्रियोने यह निर्णय दिया कि हाथी जिसके ऊपर मङ्गलकलशका जल डाल देगा वही गद्दीपर बैठेगा। सयोगकी बात, उसने मरघटमे जाकर करकण्डुपर मगलकलश उँडेल दिया, प्रजाजन यह देखकर दग रह गये। उनके सम्मुख प्रश्न था कि चण्डालपुत्रको राजा कैसे बनाया जाये? जब विद्याधरने सब रहस्य प्रकट किया, तो करकण्डु राजा घोषित कर दिया गया। उसने धूम धामसे नगर-वनिताओंके कटाक्षोंके बीच नगरमें प्रवेश किया। करकण्डुने उक्त ब्राह्मणको अपना मन्त्री बनाया।

एक दिन सौराष्ट्रका कोई व्यक्ति राजा अजयवर्माकी लड़की मदनावली-का चित्र लेकर आया। कुमार उसे देखकर मुग्ध हो उठा। लड़की गीतामें इसका नाम सुनकर इसे चाहने लगी थी। यह चित्र उसीने भेजा था। करकण्डुने अपना आदमी भेजकर लड़कीको बुलवाकर उससे विवाह क-

लिया। इतनेमे चम्पानरेशने दूत भेजकर कुमारसे अधीनता माननेको कहा। इसपर वह बौखला उठा। उसने दूतको बिदा कर चम्पाके लिए कूच कर दिया। गंगापार दोनोमे संघर्ष छिड गया। इसी बीच करकण्डुकी माँने आकर पिता-पुत्रका परिचय कराया। इससे युद्धका दृश्य मिलनके दृश्यमें बदल गया। पिताने भी चम्पाका राज्य पुत्रको देकर दीक्षा ग्रहण कर ली।

अब करकण्डु दक्षिणकी विजययात्राके लिए प्रस्थान किया। पहले उसने दूत-द्वारा अधीनताका प्रस्ताव भेजा। परन्तु चोलराजने यह उत्तर दिया कि मैं जिनेन्द्रको छोडकर किसी औरको नमस्कार नहीं करता। कुमारने तेरापुरमें डेरा डाला। वहाँके राजा शिवने उससे भेंट की। वह उसके साथ वहाँके आश्चर्यजनक स्थान देखने गया। पर्वतपर एक बामी थी जिसपर प्रतिदिन एक हाथी फूल चढाता था। कुमारने उसे खुदवाया। उसमें-से एक जिनप्रतिमा निकली। कुमार उसे देखकर ध्यानमे लीन हो गया। देवोंने उसपर फूल बरसाये। उस मूर्तिपर एक गाँठ थी, कुमारने शिल्पीसे उसे तरासनेके लिए कहा। गाँठके टूटते ही उससे पानीकी धारा बह निकली, इसपर राजा बहुत पछताया। तब एक देवने आकर उसकी सहायता की। उसने इसका इतिहास भी बताया। असलमें दो विद्याधर यहाँ आकर बस गये थे। उन्होने इस लयणका निर्माण कराया था, बादमें दो विद्याधर पोदनपर्वतसे एक जिनप्रतिमा लेकर आ रहे थे। विश्रामके लिए यहाँ ठहरे। जब वे जाने लगे तो प्रतिमा नही उठी। उन्होंने दीक्षा ले ली। उनमें एक विद्याधर यह देव था जो इस प्रतिमाकी रक्षा कर रहा था। इसने करकण्डुको भी लयण बनवानेकी सलाह दी। कुमारने उसके ऊपर एक और लयण बनवा दी। इतनेमें एक मतवाला हाथी आया। सेनामे भगदड मच गयी। कुमारने उसका पीछा किया। कुछ दूर जाकर वह हाथी गायब हो गया। लौटकर उसे पता चला कि उसकी पत्नी लापता है। वह बहुत ही दुःखी हुआ। एक विद्याधरने (जिसे कुमारने णमोकार मन्त्र सुनाया था) आकर उसे राजा नरवाहनदत्तकी कहानी बताते हुए समझाया।

उसने अच्छा शकुन देखकर कुमारको दक्षिण जानेका परामर्श दिया। उसने दो कथाएँ भी सुनायी। वह वहाँसे सिंहलद्वीप गया, उसे एक बड़ा वटका पेड मिला। उसने उसे तीरोंसे छेद दिया। किसीने राजाको इसकी खबर कर दी। वह स्वयं कुमारको लेने आया। उसने अपनी लड़कीसे

उसका विवाह कर दिया। कुछ दिन उपरान्त भारी दहेज देकर उसने कुमारको विदा कर दिया। वे लोग नावमें समुद्र-यात्रा कर रहे थे। इतनेमें एक बडा मच्छ आ गया। कुमार कूद पडा और उसके पेटमें घुसकर उसे फाड दिया। उसे एक विद्याधरी उठा ले गयी। उसके पीछे योद्धा भी कूद पडे, रतिवेगा घबरा गयी। उसने पद्मावतीकी स्तुति शुरू की, देवीने प्रकट होकर शीघ्र पति मिलनेका वरदान दिया। विद्याधरीने पिताने पूछकर कुमारसे शादी कर ली। देवीने अरिदमनकी कथा उसे सुनायी। रतिवेगा धर्माचरण करने लगी। एक दिन कनकप्रभा विद्याधरी रतिवेगाको करकण्डुके पास ले गयी। पतिको देखकर वह फूली नहीं समायी।

अब करकण्डुने दक्षिणपर आक्रमण किया। चोलराज और पाण्ड्य-नरेश लडने आये। वे हार गये। करकण्डुने उनके मस्तकपर पैर रखना चाहा, परन्तु उनके मुकुटोंमें जिनप्रतिमा देखकर वह बहुत पछताया। उसने क्षमा माँगी। वे दोनों राजा तप करने चले गये। उसी समय एक विद्याधर मदनावलीको उसे सौंप गया। उसने यह भी बता दिया कि पूर्व भवके वैरके कारण उसने ऐसा किया था। करकण्डु सकुशल अपनी राज-धानी लौट आया।

एक दिन उद्यानपालने जैन साधुके आनेकी सूचना दी, कुमार उनकी वन्दना करने गया। धर्मोपदेशके अनन्तर उसने तीन प्रश्न पूछे—

१ मुझे हाथमें खुजली क्यों हुई थी ?

२ माँका पति-विछोह क्यों हुआ ?

३ मेरी पत्नीके हरे जानेका क्या कारण था ?

मुनिके उत्तर इस प्रकार थे —

१ पिछले भवमें तुमने कीचड-भरे हाथों जिनदेवको कमल चढाया था।

२ पूर्व जन्ममें माने दुराचार किया था, पर बादमें उपवास किया।

३ पिछले भवमें तुमने साँपके मुखसे चूहेको छुटाया था। वह साँप मरकर विद्याधर हुआ। उसने बदला लेनेके लिए मदनावलीका अपहरण किया।

बादमें मुनिने उपवासका महत्त्व बतलाया। घर आकर कुमारने पंच-कल्याणविधान किया। अन्तमें उसने जिनदीक्षा ग्रहण की, उसके सभी

साथियोंने भी उसका अनुकरण किया। मरकर वह सर्वार्थसिद्धिमे उत्पन्न हुआ।

आलोचना—जैसा कि डॉ० हीरालालने लिखा है (करकण्डु चरिउकी भूमिका) कि करकण्डुको बौद्ध साहित्यमें प्रत्येकबुद्ध माना गया है। श्वेताम्बर साहित्य भी उन्हे यही मानते हैं। अत यह पूर्वबुद्ध युगके ऐतिहासिक पुरुष सिद्ध होते हैं। काव्यकी दृष्टिसे मैं करकण्डु चरिउको पौराणिक रोमाण्टिक काव्य मानता हूँ। यहाँ कथाकारका लक्ष्य नायकके ऐतिहासिक जीवनपर प्रकाश डालना नही है। उसका प्रयत्न यह है कि पौराणिक और लोक-कथाओके मिश्रणसे कथावस्तुको रोचक कैसे बनाया जाये। अवान्तर घटनाओका विचार अलग शीर्षकमें किया गया है। यहाँ विचारणीय नायककी कथा है। उसकी जीवन-कहानीके तीन भाग हैं—

१. जन्मसे लेकर दन्तीपुरका राजा बनना, २ पितासे युद्ध और दिग्विजय, ३. श्रेष्ठ जीवन और धर्मानुष्ठान।

उसकी दिग्विजयमें धर्म और रोमास साथ-साथ चलता है। युद्ध तो उसे नाम मात्रको करना पडा। युद्धका कुछ फल भी नही है, क्योंकि वह उनमे क्षमा माँग लेता है।

इसमे वर्णनकी अपेक्षा कथाओकी योजना अधिक है। इस कथाके माध्यमसे कवि तीन लक्ष्योंपर जोर देना चाहता है—१. करकण्डु जैन था, २. जिन-भक्ति और उपवासका महत्त्व, ३ जैन लक्षणका इतिहास। श्रोता-वक्ता शैलीको छोडकर पौराणिक काव्यकी शेप रूढियोका निर्वाह इसमे भी है, अवान्तर कथाओमें-से कुछ तो उदाहरण स्वरूप है, और कुछ स्वतन्त्र रूपमें। कथाके विकासमें उनका स्पष्ट और प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। कभी-कभी कोई अवान्तर कथा इतनी बढ जाती है कि मूल कथाकी गतिमें अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इतिवृत्तात्मकताकी अपेक्षा इसमे संग्रहात्मकता अधिक है।

णायकुमार चरिउ

यह भी एक रोमाण्टिक कथा काव्य है। कविने श्रुतपचमीके व्रतका महत्त्व बतानेके लिए यह कहानी कही है। मगधके कनकपुरका राजा जयन्धर था। उसकी रानी विशालनेत्रासे श्रीधर नामका पुत्र हुआ। एक

कोई व्यापारी सौराष्ट्रके गिरिनगरकी राजकुमारीका चित्र लेकर आया। राजा उसपर मुग्ध हो गया। मन्त्रीको भेजकर उसने लड़की बुलवाकर विवाह कर लिया। नयी रानीका नाम पृथ्वीदेवी था। राजा अन्तःपुरके साथ जलक्रीडाके लिए गया। रास्तेमें सौतका ठाठ बाट देखकर नयी रानीको बुरा लगा। वह चुपचाप जिनमन्दिर चली आयी। स्तुतिके बाद मुनिका उपदेश सुनने लगी। मुनिने उसके यशस्वी पुत्र होनेकी भी बात कही। इतनेमें राजा खोज करता हुआ वहाँ आया। उसने पुत्रकी बात उसे भी बता दी। दोनों वन्दना भक्ति करके घर चले गये। कुछ समय बाद उसने सपने देखे। उससे आशा और बढ़ गयी। राजाने पुत्रजन्म धूम धामसे मनाया। एक बार वह कुमारको लेकर मन्दिर गया, पर किवाड़ नहीं खुले, परन्तु बालकके अँगूठेसे छूते ही खुल गये। एक बार बच्चा वापीमें गिर गया। उसकी माँ भी उसमें कूद पड़ी। नीचे एक नागने उन्हें बचा लिया। बादमें उस नागने बच्चेको गोदमें ले लिया। इससे उसका नाम नागकुमार पड़ गया। पढ़ाई-लिखाई उसकी वहीं हुई।

कुमार अब पूर्ण युवक था। उसने दो गन्धर्व-कुमारियोंकी वीणा-वादनमें परीक्षा ली। वे कुमारियाँ उसपर मोहित हो गयीं। उसे उनसे विवाह करना पड़ा। कुमार जलक्रीडा करने गया था। माँ उसे कपड़े देने गयी थी, परन्तु उसकी सौतने उसे कलंक लगा दिया। राजा चुप रहा। फिर भी राजाने कुमारको अधिक घूमने-फिरनेसे मना कर दिया। इसपर नयी रानी चिढ़ गयी। उसने बेटेको घूमनेके लिए उकसाया। एक दिन वह हाथीपर बैठकर नगरमें निकला। उसे देखकर कितनी ही कुमारियाँ उसपर रीझ गयीं। उनके अभिभावकोंने राजासे उसकी शिकायत की। राजा इसपर बहुत बिगड़ा। उसने कुमारके सारे गहने-कपड़े छीनकर अधिकारसे वंचित कर दिया। कुमारको यह बुरा लगा। वह द्यूतघरमें गया। जुएमें बहुत-सा माल जीतकर माँको दे दिया। कुमारसे जुएमें हारनेवाले कई राजपुत्र भी थे। राजा कुमारकी कला देखकर दंग रह गया। उसने एक दुष्ट घोड़ेको वशमें कर लिया। उसकी प्रगतिसे सौतेला भाई श्रीधर उससे जलने लगा। एक दिन जब एक दुष्ट हाथीको श्रीधर न पकड़ सका तो कुमारने उसे वशमें किया।

राजाने कुछ समयके लिए नागकुमारसे बाहर घूम आनेके लिए कहा। मथुरामें व्याल और महाव्याल दो राजकुमार थे। वे उसके साथी

राज्य देकर पाटलिपुत्रके राजा श्रीवर्माकी लडकियोके स्वयवरमें गये। दोनोके विवाह हो गये। उन्होने मिलकर अपने ससुरके शत्रुको मार भगाया। छोटा भाई वही रहा, पर बडा भाई कनकपुर नागकुमारसे भेंट करने आया। नागकुमारको देखते ही उसकी आँख ठीक हो गयी। तब वह कुमारका रक्षक हो गया। जब श्रीधरके आदमी नागकुमारको मारने आये, तो इसने उसे बचा लिया। वे दोनो मथुरा चले गये।

कुमारने मथुरामें एक वेश्याका आतिथ्य स्वीकार किया। उसके कहने-पर शीलवतीको राजाकी कैदसे मुक्त किया। महाव्यालने भी इस मन्त्री राजासे अपना राज्य वापस ले लिया। वहांसे कुमार कश्मीर गया। व्याल उसके साथ था। उसने कश्मीर-नरेश नन्दकी लडकीको वीणामें हरा दिया। नन्दवती इसपर मोहित हो गयी। दोनोका विवाह हो गया। कुछ दिन रहकर उसने हिमालयके भीतरी भागोकी सैर की। वहाँ जिन-मन्दिर और गुहामन्दिरोके दर्शन किये। एक भीलराजकी पत्नीका गुहराज भामासुरसे उद्धार किया।

आगे बढनेपर कचनगुहामें उसे सुदर्शना देवी मिली। उसने बहुत-सी विद्याएँ कुमारको दी। पहले ये विद्याएँ जितशत्रुने सिद्ध की थी, पर वह बादमें विरक्त हो गया। देवी योग्य अधिकारीको ये विद्याएँ देकर प्रसन्न हुई। और भी कई महत्त्वपूर्ण कार्य कर वह वहांसे लौटा।

अपने साथियोके साथ वह विषवनमें पहुँचा। उसने विषैले आम खा लिये, पर उसे कुछ भी असर नही हुआ। इसपर दुर्मुख भीलने पांच सौ भीलोके साथ उसकी अधीनता मान ली। उसके बाद कुमारने राजा अरिवर्माकी सहायता की। जीतनेपर उसने नागकुमारको अपनी लडकी जयावती ब्याह दी। इतनेमें कुमारको एक लेखपत्र मिला। उसमें एक विद्याधरसे सात कन्याओके उद्धारकी अभ्यर्थना थी। उसने विमानसे जाकर उन लडकियोका उद्धार किया। बादमें कुमारसे उनका विवाह हो गया।

एक बार महाव्याल मदुरा गया। वह बाजारमें घूम रहा था कि राजकुमारी मलयसुन्दरी उसे देखकर मोहित हो गयी, पर वह झूठ-मूठ चिल्लाकर बोली—इसने मुझे रोक लिया है। अनुचर दौडे, पर महाव्याल-ने उन्हें हरा दिया। मलयसुन्दरी उसे ही मिल गयी। नागकुमारने उज्जयिनीकी कुमारी मेनकासे विवाह किया। वहांसे महाव्यालके साथ दक्षिण भारतकी यात्रा करने गया। उसने तिलकसुन्दरीको मृदगमें

हराया। तोयद्वीप पहुँचकर उसने वृक्षपर टँगी हुई कितनी लड़कियोंका उद्धार किया। ये सब भी कुमारको ही मिलीं। वहाँसे वह पाण्ड्य देश गया। अन्तमें उसने त्रिभुवनतिलकद्वीपके मण्डलीक राजाकी सुकन्या लक्ष्मीमतीसे विवाह किया। इसपर उसका विशेष अनुराग था।

वह पृथ्वीश्वर नामके मुनिके दर्शन करने गया। विविध दार्शनिक और धार्मिक विचार सुननेके बाद उसने नयी पत्नीके प्रति विशेष आसक्तिका कारण पूछा। मुनिने कहा, 'तुम दोनोंने पिछले भवमें श्रुत-पंचमीका व्रतानुष्ठान किया था। उसीका यह पुण्यफल है। तदनन्तर उन्होंने श्रुतपंचमीके विधानका स्वरूप और महत्त्व समझाया। कुमार पिताके घर आ गया। कुमारको अभिषिक्त कर जयन्धर तप करने चले गये। चिरकाल तक योग्यतापूर्वक राज्य करनेके बाद उसने भी जिनदीक्षा ले ली। उसने मोक्ष लाभ किया।

आलोचना—णायकुमारका जीवनचरित जैन लेखकोंमें प्रिय रहा है। इसमें वर्णित घटनाएँ अतिरंजित और रोमाण्टिक हैं। यद्यपि कथा-का प्रारम्भ स्वाभाविक ढंगसे होता है। जयन्धरकी नयी पत्नीकी सौतसे ईर्ष्या, दोनों पुत्रोंमें अनबन इत्यादि स्वाभाविक घटनाएँ हैं। पर इन बातोंका कुमारकी भावी असाधारण लीलाओंसे कोई खास सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। कुमारकी पारिवारिक स्थितिका यथार्थ चित्रण भी यहाँ कविको अभिप्रेत नहीं। असलमें इस कथा-काव्यकी सृष्टि विशेष लक्ष्यको लेकर हुई है। यह है कुमारका वह लोकोत्तर रूप वर्णित करना जो कि उसे श्रुतपंचमी व्रतके असीम पुण्यसे प्राप्त हुआ है। अपने श्रोता पाठकों-का ध्यान आकृष्ट करनेके लिए इससे लुभावना जीवनचरित दूसरा नहीं हो सकता। कुमारका सौन्दर्य तो देखिए, दुनिया-भरकी स्त्रियाँ उसे ही पसन्द करती हैं और उसकी शक्ति भी ऐसी कि सब उससे हार मानते जाते हैं। उस युगमें ऐसी कथाकी माँग थी। कुमार पुण्यकी महिमासे इतनी असाधारण लीलाओंका नायक बन सका। इस कथा-काव्यकी कुछ घटनाएँ और प्रसंग ऐसे भी हैं जो तत्कालीन समाजका यथार्थ चित्रण करते हैं। आगे इसका विचार किया जायेगा। पौराणिक काव्य-रूढ़ियोंका इसमें भी प्रयोग है। खण्डन-मण्डन भी है ही। यह सब विदित है कि जैनधर्म निवृत्तिमूलक है, पर इन रोमाण्टिक कथा-काव्योंमें धर्मके अनुष्ठानका फल ऐहिक भोगोंकी प्रचुर उपलब्धि दिखाया

गया है। यह बात अवश्य है कि अन्तमें नायक सब कुछ भोगकर दीक्षा ग्रहण कर लेता है। और इसी तरह उसका मोक्ष सध जाता है।

जसहर चरिउ

जसहरका जीवन भी जैन साहित्यमें अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। सक्षेपमें कहानी इस प्रकार है—

"औधेय देशका राजा मारिदत्त था। वह यौवनके अवगुणोसे सम्पन्न था। उसके नगरमें एक भैरवाचार्य आये। राजाने उन्हें बुलवाया। आचार्यने राजासे अपनी डीग हांकते हुए कहा, 'तुम जो चाहते हो माँग लो, मुझे अनेक विद्याएँ सिद्ध है।' राजाने आकाशमें चलनेकी विद्या सीखनेकी इच्छा व्यक्त की। भैरवाचार्यने बलिके लिए सभी जीवोके जोडे मँगवाये। राजकर्मचारी इसकी व्यवस्था करने लगे। योगिराज ठाट-वाटसे ठहरा दिये गये।

सब व्यवस्था हो चुकनेपर बलि प्रारम्भ हुई, पर सबसे पहले मनुष्य जोडेकी आवश्यकता हुई। भैरवाचार्यने राजासे कहा। राजाका सकेत पाते ही कर्मचारी नर जोडेकी खोजमें निकले। उसी समय वहाँ एक श्रमण सघ आया। वह पास ही ठहरा था। उसमें अभयरुचि और उसकी बहन भी थी। वे दोनो नगरमें भिक्षाके लिए आ रहे थे, मार्गमें राजकर्मचारी उन्हे पकडकर वधस्थानपर ले आये। राजा उनके भोले और सुन्दर चेहरे देखकर चकित रह गया। उसने उनमे परिचय पूछा। कोलाहल शान्त होनेपर बालक अभयने इस तरह कहना शुरू किया—

उज्जैनमें राजा जसबन्धु था। उसकी रानीका नाम चन्द्रमती था। मैं उसका बेटा यशोधर हूँ। पढ-लिखकर जब मैं सयाना हुआ तो पिताने अमृतमतीसे मेरा विवाह कर दिया। वह राज्य देकर तप करने चले गये। पत्नीपर मैं बहुत आसक्त था। शामको मैं सात भूमियाँ पार करके आठवें कक्षमें पहुँचा। रातको मैं लेटे-लेटे अपनी पत्नीकी सुन्दरताके बारेमें सोचता रहा। अमृतमती मुझे सोया जान चुपचाप उठी और कहीं जाने लगी। मैं भी धीरे-धीरे उसके पीछे हो लिया। मैंने देखा कि वह अपने कुबडे प्रेमीके पैरोंपर गिडगिडा रही है पर वह उसे लातकी ठोकरसे हटा रहा है। थोडी देर बाद वे आलिंगनमें बद्ध हो गये। मैं यह देखकर आपेमें नहीं रहा। मैंने पहले तलवारसे दोनोंका काम तमाम करनेका

विचार किया, पर शीघ्र ही मैंने विचार बदल दिया। मैंने इस बारेमें किसीसे कुछ नही कहा। दूसरे दिन खोटे सपनेकी बात कहकर दीक्षा लेनेका अपना सकल्प व्यक्त किया। मेरी मां इसपर राजी नही हुई। वह सपनेकी शान्तिके लिए जीव-बलिका आग्रह करने लगी। मैंने बहुत समझाया, पर वह मानी नही। अन्तमे आटेके मुर्गा-मुर्गीकी बलि देकर ही वह सन्तुष्ट हुई। मै तो सकल्प कर ही चुका था। किसी तरह अमृतमतीने यह जान लिया कि मै उसके पापको जानता हूँ। उसने एक चाल खेली, उसने मेरी बिदाईके लिए प्रीतिभोजका आयोजन किया। इसके बाद वह भी दीक्षा लेनेको कह रही थी। मैंने हां कह दिया। उसने मां-बेटेको भोजनमें विष देकर दोनोके जीवनका अन्त कर दिया। यह सब देखकर मेरा बेटा बेहोश हो गया। पर मन्त्रियोने समझा-बुझाकर उसे गद्दीपर बैठा दिया। उसने धूम-धामसे मेरा श्राद्ध किया। मरकर मैं मुर्गा बना और मां मुर्गी। एक शिकारीने हमे पकडकर कोतवालके हवाले किया, और उसने राजाको। अब हम अपने बेटे जसवईके घर थे। एक दिन अमृतमती अपने जारसे प्रेम-केलि कर रही थी। मै उसपर झपटा, पर उसने मेरी टांग तोड दी। फिर कुत्तेने साफ कर दिया। हम दोनो मरकर सांप और नेवले हुए। उसके बाद नदीमें मच्छ हुए। सयोगसे मेरे बेटेने श्राद्धमे ब्राह्मणोको खिलाया। उसमे पकडकर, कडाहीमें तलकर, हमारे शरीर उदर पगस गये। इस तरह हमारा ही मास खाकर वे लोग स्वर्गमे हमारे सुखका साधन जुटा रहे थे। इस प्रकार नाना योनियोमे भटककर हम लोग तरह-तरहके दुःख उठाते रहे। उधर अमृतमतीको कोढ हो गया। पापके कारण उसका रोम-रोम गल गया। अन्तमे हम दोनो मुर्गा हुए। कोतवाल हमे पकडकर ले जा रहा था। मार्गमे उसका एक मुनिसे विवाद हो गया। अन्तमे उसने व्रत ग्रहण कर लिये। हम लोग यह सब सुन रहे थे। राजा जसवईके शब्दभेदी तीरसे आहत होकर हम दोनोका जीवन-दीपक अन्त हो गया। हम दोनो उसीकी रानी कुसुमावलीके गर्भमे आ गये। मै लडका हुआ, और मां लडकी। हमारा नाम था अभयरुचि और उसका नाम अभयमती। एक दिन राजा जसवई शिकारी कुत्तोको लेकर शिकार खेलने गया। उसकी भेंट मुनि सुदत्तसे हुई। उन्होने उसे सुदत्तने उसके पूर्व भव बताये। राजाने दीक्षा ले ली। उसने राज्य मुझे सौंपा था। मै भी अपने सौतेले भाईको राज्य देकर मुनिके सघमे शामिल हो गया। वही मै अभयरुचि हूँ और यह अभयमती।

यह सुनाकर वह मारिदत्तको अपने गुरुजीके पास ले गया। उन्होंने सबके पूर्व भव बताये। राजाने दीक्षा ग्रहण कर ली। बालक-बालिकाने अनगार धर्म अगीकार कर लिया। यहाँतक कि चण्डमारी देवीने भी पाँच अणुव्रत ग्रहण किये। इस प्रकार वह दृश्य ही बदल गया।"

आलोचना—प्रस्तुत कथाका मुख्य लक्ष्य जीव-बलिका विरोध है। कथानकका विकास कुछ नाटकीय ढगसे होता है। चण्डमारीके मन्दिरमें खूब भीड है। नर-बलिके लिए बालक और बालिका लाये जाते हैं। राजा उनसे परिचय पूछता है। इसके बाद अभयरुचि अपने मुँह आपबीती सुनाने लगता है। दूसरी विशेषता यह है कि इसका समूचा कथानक धार्मिक और दार्शनिक उद्देश्योसे भरा हुआ है। कही-कही आध्यात्मिक सकेत भी है। बहुत-सी पूर्व भवकी घटनाओसे उस समयकी स्थितिका अच्छा चित्र आ जाता है। जीवहिंसाके सिवा श्राद्ध आदि प्रथाओका भी विरोध है, लेकिन कवि अपनी ओरसे कुछ न कहकर घटनाओके माध्यमसे कहता है। एक ही कविकी रचना होनेपर भी णायकुमार चरिउकी भाँति इसमे अतिरजित घटनाएँ नही है। उसमें रोमाण्टिक प्रवृत्ति अधिक थी, तो इसमें जीवदया। इसमें कविका आदर्श ऊँचा है और शैली उत्तम-पुरुषमें होनेसे आत्मीय है। पौराणिक काव्यकी सभी रूढियाँ इसमें है। कविने अपनी रचनाको धर्म-कथानिबद्ध कहा है।

पउमसिरि चरिउ

इसकी कथावस्तु छोटी है। इस धर्म-कहानीमे यह बताया गया है कि कपटका फल दूसरे जन्ममें भी भुगतना पडता है। कहानी थोडेमें यह है—

"मध्यदेशके वसन्तनगरमें जितशत्रु राजा था। उसी नगरमे धनसेन नगरसेठ था। धनदत्त और धनवइ उसके दो पुत्र थे। धनश्री नामकी एक लडकी थी। वह वैश्रवणके पुत्र शकरसे व्याही थी, परन्तु किसी रोगसे उसकी अकाल मृत्यु हो गयी। तब दोनो भाई अपनी दुखी विधवा बहनको घर ले आये। वह पूजापाठमें अपने दिन बिताने लगी। एक मुनि अभय-घोष वहाँ आये। इसने भी उनसे कुछ व्रत ग्रहण किये। अब वह दूने उत्साहसे धार्मिक कार्योमें खर्च करने लगी। लेकिन उसकी दोनो भाभियों-को इस तरह धन खर्चना ठीक नही लगा। उन्होने इधर-उधर उसकी चरचा की। किसी तरह यह धनश्रीको मालूम हो गया। उसने सोचा कि

यदि भाभियाँ मेरे भाईके कान भर देंगी, तो फिर मुझपर नियन्त्रण हो जायेगा। इससे छल करके दोनोका बिगाड करा देना ठीक है। एक समय यशोमती सज-बनकर अपने पतिके कमरेमे जा रही थी। धनश्रीने शीलपर भाषण देना शुरू कर दिया। उधर यह सब सुनकर भाईने समझा कि अवश्य ही मेरी पत्नी कुलटा होगी। उसके आते ही उसने लात मारकर पलगसे गिरा दिया। वह रात-भर रोती रही। दूसरे दिन उसने सब बात धनश्रीसे कही। उसने समझा बुझाकर भाईसे मेल करा दिया। इसी तरह उसने दूसरी भाभीको चोरीकी बुराई बताना शुरू किया। उसके पतिने भी रातमें उससे बुरा बरताव किया। बादमें ननदने मेल करा दिया। अब कोई उसकी आलोचना करनेवाला नही रहा और वह मनमाना खर्च करने लगी। मरकर वह स्वर्गमें उत्पन्न हुई।

दूसरे जन्ममे, धनदत्त और धनदेव, साकेतपुरमे अशोकके यहाँ समुद्रदत्त और उदधिदत्त नामके पुत्र हुए। धनश्री हस्तिनापुरमे सेठके घर पद्मश्री नामकी लडकी हुई। यशोमती और जशोदा कोशलपुरमे जन्मी। धीरे-धीरे पद्मश्री सयानी हुई। वह एक दिन अपर्वश्री उद्यानमे वसन्तोत्सव मनाने गयी। वहाँ एक लताकुंजमें उसकी भेंट समुद्रदत्तसे हो गयी। दोनोकी प्रणयलीला शुरू हो गयी। पद्मश्रीने अपने हाथसे गूँथकर उसे बकौलीकी माला पहनायी। इतनेमे वे लोग अपने-अपने घर चले गये। पद्मश्रीको घरपर कुछ भी अच्छा नही लगता था। वह वियोग-मे विकल थी। इधर समुद्रदत्तका भी बुरा हाल था। पद्मश्री गुपचुप अपने प्रेमीसे मिलना चाहती थी, परन्तु वसन्तसेना सहेलीने कुलीनताके नामपर उसे समझा दिया। समुद्रगुप्तका पिता शरणक घर अपने पुत्रके लिए उसकी लडकी माँगने आया। उसने स्वीकृति दे दी। धूम-धामसे दोनोका विवाह हो गया। कुछ दिन समुद्रगुप्त ससुरालमें ही रहा, पर अचानक ही माँकी बीमारीकी चिट्ठी आनेपर उसे जाना पडा। वहाँ जाकर वह पद्मश्रीको भूल गया, एक दिन चकवा चकवीका वियोग देखकर उसे याद आयी, और वह ससुरालको चल पडा। पद्मश्री प्रिय-वियोगमे सूखकर काँटा हो गयी थी। उसे आया देखकर उसकी खुशीका ठिकाना नही रहा। रातको वे दोनो बातचीत कर रहे थे कि एक दासीने बगलके कमरेमे यह कहना शुरू किया — 'कल तो तूने मुझे संकेत-स्थान आनेको कहा था, और अब किसी दूसरेके साथ है।' यह सुनकर समुद्रगुप्तको उसपर सन्देह हो गया। वह सवेरे घर चला आया। उस

दोनो भाइयोने कान्तिमती और कीर्तिमतीसे विवाह किया। (ये उनकी पूर्व भवकी पत्नियाँ थी) पद्मश्रीके पिताको बहुत दु:ख हुआ। एक दिन मुनिसे पद्मश्रीको अपने छोडे जानेका कारण मालूम हो गया। उसने जिन-दीक्षा ले ली। वह विहार करती हुई साकेतपुरमे पहुँची। कान्तिमती और कीर्तिमतीने उसका स्वागत किया। आहार भी दिया। एक दिन कान्तिमती हार गूँथ रही थी कि पद्मश्री आयी। वह हार छोडकर भोजन लाने चली गयी। इतनेमें वह यक्ष मोर बनकर हार निगल गया। अपना हार न पाकर उसने साध्वी पद्मश्रीको हारकी चोरी लगा दी। उसे अपनी बद-नामीसे दु:ख हुआ। वह सब विकल्प छोडकर तपमे लीन हो गयी। उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। अब यक्ष अपनी भूलपर खूब पछताया। उसने उसी तरह मोर बनकर हार उगल दिया। सब लोग आश्चर्यचकित थे, पद्मश्रीने उन्हे धर्मोपदेश दिया और अपने पूर्व भव बताये।"

आलोचना—वस्तुत पउमसिरि चरिउकी कथावस्तुका आधार पारिवारिक घटना है। यदि उसमें-से एक दो अलौकिक घटनाएँ निकाल दी जायें, तो वह एक शुद्ध पारिवारिक कहानी बन जाती है। इसमें अवा-न्तर कथाएँ कम है। दैवी घटनाएँ भी नहीके बराबर है। यद्यपि इसकी कथावस्तु पौराणिक है, फिर भी वह सामाजिक चरित-काव्यके अधिक निकट है। उमका लक्ष्य भी पारिवारिक है, वह यह कि पारिवारिक जीवनमे कपट एक बहुत बडी बुराई है। कपटपूर्ण धर्माचरणसे, कपट न करना, लाखगुना अच्छा है।

इसमे पद्मश्रीके दो जन्मोकी कथा है। पात्र भी वही हैं। पिछले जन्ममे उसने जो बोया, दूसरेमें वही काटा। हम चाहे तो दोनो जन्मोकी घटनाओको अलग-अलग देख सकते है। दोनोमे पारिवारिक जीवनके दो रूप है। पहले जन्मकी घटनामें यह बताया गया है कि विधवा बहन भाईके घर रहकर धर्ममे धन फूँकती है। भाभियोको वह पसन्द नही है। तब ननद छलसे भाई-भाभियोमें मनमुटाव उत्पन्न कर अपनी स्थिति सुदृढ कर लेती है। सम्मिलित कुटुम्बमें ऐसा होता है, कविने उसे केवल धार्मिक पुट दे दिया है। दूसरे जीवनकी घटनाओमें पिछले जन्मके कर्म-फलके साथ गन्धर्व विवाहकी बुराईका भी परिणाम दिखाया गया है। पहले दोनोका प्रेमपूर्वक विवाह होता है, पर बादमे पतिको विरक्ति हो जाती है। पत्नी साध्वी बन गयी। इसके पहले दोनोंके वैवाहिक जीवनके वर्णनमे हम युगके धनी दम्पतिके विलासपूर्ण जीवनका स्पष्ट

चित्रण किया है। युवक-युवतीमें प्रेम होना, फिर स्त्रीके चरित्रपर सन्देह करना, हार चोरी जाना, कान्तिमतीका पद्मश्रीपर सन्देह करना आदि बातें स्वाभाविक हैं, पर कविने उन्हें सामाजिक या स्वभावगत बुराई न मानकर पुण्य-पापके फल माना है और यथासम्भव उसका धार्मिक उपचार खोजा है। इसीलिए उसे यक्षके मोर बनकर ही निगलनेकी कल्पना करनी पड़ी। जो भी हो, इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि पउमसिरि चरिउकी कथावस्तु अधिक स्वाभाविक है और इसपर अपने युगकी सामाजिक स्थितिकी पूरी छाप है।

भविसयत्तकहा

इस कथा-काव्यमें भी णायकुमार चरिउकी तरह, श्रुतपंचमीके व्रतानुष्ठानका फल वर्णित है। पर दोनोंकी शैलीमें अन्तर है। थोड़ेमें कथा यह है—

"कुरुजागल जनपदके गजपुर नगरमें धनवइ नामका सेठ रहता था। उसकी पत्नी कमलश्रीसे बहुत समय तक कोई सन्तान नहीं हुई। उन्होंने मुनिसे इसका कारण पूछा। मुनिने कहा कि शीघ्र ही तुम्हारा प्रतापी पुत्र उत्पन्न होगा। कुछ समय बाद कुमार भविसका जन्म हुआ। घरवालो-ने खूब आनन्द-बधावा किया। लाड़-प्यारमें पलकर लड़का सयाना हो गया। वह सब विद्याओंमें खूब दक्ष था। इधर अकारण ही धनवइ कमलश्रीसे उदासीन रहने लगा। वह जितने निकट आती वह उतना ही दूर रहता। इसका कारण पूछे जानेपर धनवइने केवल यह कह दिया, 'मैं नहीं जानता ऐसा क्यों हो रहा है। तुम चाहो तो अपने पीहर जा सकती हो।' वह पीहर चली गयी। जब कुमार खेलकर लौटा तो माको न पाकर वह भी मामाके घर चला गया। कुमारने अपनी दुखिया मांको समझा-बुझाकर ठीक कर लिया। उसने भी रामसे पतिके दुर्गुणोंको भूलनेका अपना स्वभाव बना लिया। कुमारके शील और विनयसे सभी प्रभावित थे।

धनवइने धूमधामसे दूसरा विवाह कर लिया। नयी पत्नी [illegible] बन-ठनकर मन्दिर जाती। इधर-उधर सामाजिक कार्योंमें उपस्थित होती। उसके भी एक लड़का हुआ। उसका नाम बन्धुदत्त था। उसकी प्रकृति अच्छी नहीं थी। नगरके प्रत्येक उत्सवमें उसका नाम आता। एक दिन उसने [illegible]

उसने मना किया, पर बादमें अनुमति देनी पडी। उसने नगरमें यह मुनादी करवा दी कि जो वणिक्पुत्र उसके दलके साथ चलेगा, उसकी वह सहायता करेगा। जब भविसको इसका पता चला, तो उसने भी माँसे आज्ञा माँगी, परन्तु माँने कहा, 'बेटा, एक तो परदेश जाना ठीक नही, दूसरे वह सौतका लडका है, न जाने क्या अमगल कर दे, और फिर तुम्हारे बिना मै कैसे यहाँ रहूँगी ?' भविस नही माना, वह अपने भाईसे जाकर मिला। वह उसे ले चलनेको राजी हो गया, परन्तु बन्धुदत्तकी माँने उसके कान भर दिये। कमलाने भी शकुन मनाकर बेटेको बिदा कर दिया।

कई देश और द्वीप पार करके वे लोग मदनागगिरि पहुँचे। सब लोग उतरकर पहाडपर घूमने लगे। बन्धुदत्त चालाकीसे भविसको वही छोडकर चलता बना। दलके लोग इस घटनासे कुढकर रह गये। भविसको अपने भाईकी करनीपर घोर ग्लानि हुई। निराश भटकते हुए उसे एक गुफा मिली। उसे पार कर वह उजडी बस्तीमें पहुँचा। उसने देखा कि राजभवन सुनसान पडे हैं और पास ही जिनमन्दिर है। मन्दिरमें जाकर उसने स्तुति की, कमलका फूल तोडकर चढाया, फिर वही एक पत्थरपर लेट गया।

इसी समय भविसके पूर्व जन्मके मित्र अच्युत स्वर्गके देवको मुनि यशोधरने बताया कि उसका मित्र सकटमें है। देव भविसकी मददके लिए दौडा आया। इसका नाम मणिभद्र यक्ष था। वह कुमारको जगाकर पासके ही एक मकानमें ले गया। वहाँ एक राजकुमारीसे उसकी भेंट हुई। वे दोनो वही रहने लगे। बादमें यक्षने उन दोनोंका विवाह करा दिया। जिस देवके उत्पातसे उस बस्तीकी यह दुर्दशा हो रही थी, कुमारने उक्त देवकी सहायतासे उसे हरा दिया। अब वह भी कुमारका सहायक हो गया। बात-बातमें उसके वहाँ १२ वर्ष बीत गये।

इधर गजपुरमें पुत्रके न लौटनेसे कमलश्री बहुत व्याकुल थी। वह तरह-तरहके शकुन मनाती और व्रत-उपवास करती। उधर बन्धुदत्तकी माँ भी अपने बेटेके लिए चिन्तित थी।

एक दिन भविसकी पत्नीने उसका घर और देश देखनेकी इच्छा प्रकट की। वे दोनो सामान बाँधकर समुद्र-तटपर आकर जलयानकी प्रतीक्षा करने लगे। इसी समय बन्धुदत्त अपने दलके साथ वहाँ आया। वह सब धन गँवा चुका था। भविसको पहचान कर उसने क्षमा माँगी और अपना दुखडा सुनाया। कुमार पसीज गया। उसने पूरे दलको

भोजन कराया और आवश्यक वस्तुएँ भी दी। बन्धुदत्तने बड़े भाईको फुसला लिया। कुमार उसके साथ चलनेको राज़ी हो गया पर उसने फिर धोखा दिया। जब भविस किसी कामसे बाहर गया था तभी बन्धुदत्तने यान बजाकर प्रस्थान कर दिया। भविसकी पत्नी भी उसी यानमें थी। सब लोग अपनी जन्मभूमिकी याद करके प्रसन्न थे, पर बन्धुदत्तके कपटपूर्ण व्यवहारसे उन्हें भीतर-ही-भीतर बुरा लग रहा था। भविसने लौट-कर देखा तो यान वहाँ नही था। वह सन्न रह गया। बार-बार वह सोचता कि उसकी पत्नीपर क्या बीत रही होगी, उसकी माँकी क्या हालत होगी, कही पत्नी शकित या प्रलोभनमें आकर अपना शील न गँवा बैठे।

मार्गमें बन्धुदत्तने नववधूको बहुत फुसलाया। वह बातोंमें नही आयी। बन्धुदत्त बलप्रयोग करनेपर उतारू हो उठा। इसी समय समुद्रमें तूफान आया और लहरोंने यानको उछाल दिया। वह कहींका कही जा लगा। यह सब जलदेवीने किया था। एक अजनबी द्वीपमें पहुँचकर उन्होने रत्न बेंचकर आवश्यक चीजें खरीदी और फिर घरकी ओर चले। वे लोग यमुना तटपर पहुँचे। गजपुरमें इसकी खबर पहुँचने-पर उत्सव मनाया जाने लगा। इधर कमलश्रीकी बुरी दशा थी। वह आत्मघातपर उतारू थी, परन्तु शासन देवीने सपना देकर उसे रोक दिया। अपने लोगोंको फिरसे पाकर सबके सब प्रसन्न थे, परन्तु कमलश्री-को भविसका पता कही भी नही चला। नववधू और खूब धन देखकर स्वरूपवती बन्धुदत्तपर फूली नही समायी। चारों ओरसे धनवइको बधाई आने लगी। जब भविसका पता न लगा तो कमलश्री पागलोंकी तरह सडकपर बकने लगी। उसकी इस दशापर लोग तरह तरहके अनुमान करने लगे। उधर भविष्यानुरूपाको देखने स्त्रियां पहुँची, पर वह किसी-से नही बोलती। इसपर बन्धुने यह बहाना बना दिया कि यह नया देश होनेसे सकुचाती होगी। स्वरूपवतीने बन्धुसे सच बात पूछी, पर उसने बात बना दी। स्वरूपवती बहूरानीसे बोलती, पर उसे किसी भी बातका सन्तोष-जनक उत्तर नहीं मिलता। कमलश्रीने यह प्रतिज्ञा कर ली कि यदि एक माहके भीतर मेरा बेटा नहीं मिला तो मैं आत्मघात कर लूँगी। एक मुनिने उसे बताया कि शीघ्र ही उसका बेटा उसे मिल जायेगा।

उधर कुमार हताश होकर तिलकद्वीप पहुँचा। उसने मणिभद्रको याद किया। उसकी सहायताने विमानमें बैठ शीघ्र ही वह अपनी माँसे मिला। माँने उसे गोदमें भर लिया, दधि अक्षत आदिसे उसका स्वागत किया।

फिर एकान्तमे माँ-बेटेमें बातचीत हुई। दूसरे दिन कुमार भविसने अनेक उपहार ले जाकर राजासे भेंट की। अपने बचपनके साथीको पाकर राजाने भी उसका खूब सम्मान किया, राजाने उसे बेरोक-टोक दरबारमें आनेकी छूट दे दी।

बन्धुदत्त और भविष्यानुरूपाके विवाहकी तैयारी होने लगी। कमलश्रीको भी निमन्त्रण गया। पुत्रसे पूछकर वह नये कपडे और गहने पहनकर वहाँ गयी, पर उसने भविसके आनेका पता किसीको नही दिया। धनवइ उसे देखकर बहुत शरमाया, उसके नये कपडे और गहने देखकर स्वरूपवती ताड गयी। कमलश्री भी नववधूसे मिलने गयी, दोनोकी खूब बातें हुईं। उसने भविसकी नागमुद्रा उसे दे दी। स्त्रियोने इसकी खबर स्वरूपवतीको दे दी।

विवाहके दिन भविस सीधा राजदरबार गया। उसने राजासे अनुरोध किया कि धनवइ और उसके पुत्रको यहाँ बुलाया जाये। राजाने ऐसा ही किया पर धनवइने पुत्रका विवाह होनेसे आनेमें आनाकानी की। इसपर भविसने कहा, 'मुझे इस विवाहपर आपत्ति है। अत· अभियुक्तोको इससे पहले यहाँ बुलाया जाये।' राजाने तत्काल दोनोको दरबारमें उपस्थित होनेकी कडी आज्ञा दी। धनवइ पुत्रको लेकर दरबारके लिए चल पडा। रास्तेमें उसने बेटेसे असली बात पूछनी चाही, पर उसने कहा कि किसीने शत्रुतावश ऐसा किया है। चलते हुए उसने दूसरे वणिक्-पुत्रोको भी अपने साथ ले लिया। दरबारमें जाकर बन्धुदत्तने गरजकर कहा, 'जो हमारे वैभवको देखकर जलता है वह सामने आये।' यह सुनकर भविस सामने आ गया। उसे देखकर उसका चेहरा उतर गया। वणिक्-पुत्र भी सुन्न हो रहे थे। राजा उन्हें डाँटने लगा, परन्तु भविसने बीचमें टोककर उन्हें क्षमा करवा दी। इसपर वणिक्पुत्रोने यह हाल राजाको बता दिया। उसने बाप-बेटेको हथकडी डलवाकर जेलमें बन्द करा दिया। दूसरे दिन नगर-प्रमुखोकी सभामें यह मामला रखा गया। काफ़ी विचार परामर्शके बाद सभ्योने यह निर्णय दिया, 'भविसको धन और पत्नी दिलवाकर दोनोको मुक्त कर दिया जाये।' धनवइ नगर-सेठ भी था। राजाने भी यह फैसला मान लिया। परन्तु जब वणिक्पुत्रोने वधू उडाने और उसे अपमानित करनेकी बात राजाको सुनायी तो राजा आगबबूला हो गया। उसने पचोका निर्णय रद्द करके पिता-पुत्रको कारावास दे दिया। इसपर जनतामें रोष फैल गया। राजाने भविसको

बुलाकर उसकी राय जाननी चाही, उसने भी कह दिया, 'जनताकी रायका सम्मान होना चाहिए।'

चरोंने आकर राजाको जन-प्रतिक्रियाका पूरा विवरण दिया। राजाने नगर-प्रमुखोंको बुलाकर उनकी राय पूछी। उन्होंने एकमत होकर यही कहा कि 'बन्धुदत्तको चाहे आप कड़ा दण्ड दें या निकाल दें, परन्तु धनवइको छोड दिया जाये।' राजाने धनवइको मुक्त कर दिया।

इसके अनन्तर ही भविसने राजासे विनय की कि उसकी पत्नीकी भी परीक्षा ले ली जाये क्योंकि बन्धुके पास रहनेसे लोग उसके चरित्रमे आशंका कर सकते हैं। राजाने दो सयानी चतुर स्त्रियाँ भविष्यानुरूपाके पास भेजी। उन्होंने जाकर कहा, 'राजाने बन्धुदत्तका सम्मान किया है, और भविसको देश-निकाला दिया है, इसलिए तुम उसका खयाल छोड दो या फिर उसके लिए दरबारमे जाकर प्रार्थना करो'—यह सुनकर वह दरबार चल पड़ी, तब दूतियोंने जाकर राजा और सभाको बताया कि वह पूर्ण पवित्र है। भविष्यानुरूपाका जनताने जय-जयकार कर स्वागत किया। राजा आसनसे उठ गया। धनवइ नवदम्पतिको लेकर घर आया। उनके गृह-प्रवेशका उत्सव धूम-धामसे हुआ। रातको दोनो शयनकक्षमे काफी देर तक सुख दु खकी बातें करते रहे। बन्धुदत्तको देशसे निकाल दिया गया।

कमलाने अपने व्रतका उद्यापन किया। पूरे जैन सघको दावत दी। कुछ दिन रहकर वह अपने पिताके घर चली आयी। क्योंकि उसके पतिने अभीतक अपनी भूल स्वीकार नही की थी। राजाकी आज्ञासे उसे यहाँ रहना पडा था। उसके साथ उसकी बहू भी हो ली। उसके जानेपर धनवइने व्यग्यमें कहा कि वह राजाकी आज्ञाको भी कुछ नही समझती। इसपर कमलाकी सहेली कचनमालाने उसका पक्ष लेते हुए कहा, 'तुम्हींने तो सौतके सकेतपर उस बेचारीका हृदय दुखाया, अब भी तुम्हारे दिमाग़में स्वरूपवती है। तुम जान-बूझकर उसका अपमान कर रहे हो।' यह बात धनवइको लग गयी, जाकर उसने कमलासे क्षमा मांगी। वह उसे आदरपूर्वक अपने घर ले आया।

भविसके दिन चैनसे कट रहे थे। एक रात उसकी पत्नी कुछ उदास थी क्योंकि भविस राजाकी लडकीसे विवाह करने जा रहा था। कुमारने उसे विश्वास दिलाया, उसकी ऐसी इच्छा नही है। परन्तु उसने कहा, 'कौन कह सकता है कि तुम दूसरा विवाह नही करोगे।' तब भविस बोला,

मैं सुमित्राको हृदयसे नहीं चाहता, फिर सम्पत्तिकी देख-रेख करनेके लिए एक पत्नी और चाहिए। इसमें तुम्हें क्या आपत्ति है?

कुछ समय बाद पोदनपुरके सिन्धुनरेशका दूत यह प्रस्ताव लेकर आया कि गजपुरनरेशको उसकी अधीनता मान लेनी चाहिए। अधीनता-की दो शर्तें थीं—१. कर दो, और २. अपनी लड़की ब्याह दो। राजाने सभ्योंकी रायसे दूतको कोरा जवाब देकर बिदा कर दिया। युद्धकी तैयारी शुरू हो गयी। भविस भी युद्धमें लड़ा। उसने सिन्धुनरेशको बन्दी बना लिया। विजयके उपरान्त राजाने कुमारको राज्यश्री और कन्या दोनों अर्पित कर दी, उसका अभिषेक हुआ और दूसरा विवाह भी। अब प्रश्न बन्दी शत्रुओंका था। उसकी माँने कहा कि या तो शत्रुको मुक्त कर दो या समाप्त। उसने मन्त्रियोंको बुला परामर्श करके शत्रुओंको मुक्त कर दिया।

भविष्यानुरूपाके गर्भ रह गया, उसे तिलकद्वीप घूमने और चन्द्रप्रभुके मन्दिरमें वन्दना-भक्ति करनेकी इच्छा हुई। मुनियों-द्वारा भेजे गये विमानमें बैठकर वे दोनों वहाँ गये। उन्होंने दो मुनियोंके भी दर्शन किये। उन्होंने इन दोनोंके भवान्तरोंका हाल सुनाया, जिनधर्मका उपदेश तो हुआ ही। यह सब सुनकर कुमारका हृदय विरक्त हो उठा। घर आकर उसने पुत्रको गद्दी सौंप दी। प्रजाको उपहार बाँटे। उसने और उसकी पत्नी दोनोंने दीक्षा ग्रहण की और मरकर वे स्वर्ग गये। वहाँसे वे अपने पूर्व भवोंके स्थान देखने गये।

लम्बे समय बाद भविसका पुत्र भी शिकार खेलने गया, वहाँ उसने मृगके एक जोड़ेको मरा हुआ देखा, वह भी विरक्त हो गया, उसने दीक्षा ले ली।

आलोचना—उपलब्ध अपभ्रंश कथा-काव्योंमें सचमुच ही भविसकी कहानी करुण और यथार्थ है। कथाकारने घटनाओंका वर्णन और पात्रोंका चित्रण बहुत ही सहृदयतासे किया है। मनुष्य-हृदयको छूनेवाली प्रत्येक घटनाका वह सूक्ष्म विश्लेषण करता है। कथाके विकासमें दो प्रकारकी घटनाएँ स्पष्ट रूपसे हैं—अतिरंजित और स्वाभाविक। यद्यपि णायकुमार चरिउकी तरह यह कथा भी श्रुतपंचमी व्रतका फल बतानेके लिए लिखी गयी है, और दोनों कथाओंका प्रारम्भ सापत्न्य द्वेषसे होता है, फिर भी भविसयत्त कथामें घटनाओंका विकास सम्बद्ध, स्वाभाविक और संवेदनीय है। नागकुमारकी बहुत-सी बातें अपनी ही माँकी विचित्र

प्रकृतिके कारण झेलनी पडी। पिताकी सहानुभूति उसे प्राप्त थी। वह जो बाहर घूमता फिरा वह बहुत कुछ अपने रोमाण्टिक स्वभावके कारण। लेखकने मार-कूटकर उन सारी घटनाओको एक सूत्रमें पिरोया है, परन्तु भविसयत्तकहामें यह बात नही। यहाँ तो घटना मनुष्यकी दुर्बलता लेकर विकसित होती है। भविसकी मांको उसके पिताने केवल इसलिए पीहर जानेके लिए कह दिया कि वह उसे अब अच्छी नही लगती। वह भी मांके पास चला गया। उसके बाद धनवइके दूसरे विवाह, और नयी पत्नीके ठाठ बाटको देखकर, कमला और उसके आत्मीय जनोमे ईर्ष्याका होना स्वाभाविक ही था। तदनन्तर पुत्रका लालन-पालन, विदेश यात्राका प्रस्ताव, मांका मना करना, बन्धुदत्तसे भेंट, बिदाई आदि घटनाओका स्वाभाविक ढगसे विकास होता है। तिलकद्वीप और उससे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाएँ अवश्य ही अतिरजित है, लेकिन वहांसे स्वदेश लौटनेके बादसे लेकर भविसके राज्याभिषेक तककी घटनाएँ स्वाभाविक हैं। उनका विकास भी मानवीय और मनोवैज्ञानिक ढगसे होता है। यह प्रश्न हो सकता है कि शुद्ध मानवीय घटनाओके भीतर इन अतिरजित घटनाओको रखनेकी क्या आवश्यकता थी। मेरी समझसे इसके तीन कारण हो सकते है—१ धार्मिक प्रभाव, २ प्रचलित परम्परा, और ३ लोकरुचिका अनुकरण। पउमसिरि चरिउके कथानकमे भी स्वाभाविकता और सामाजिकता है, पर उसमे दो भवोकी घटनाओका वर्णन होनेसे कुछ अस्वाभाविकता ही है। कथाकार धनपालकी सबसे बडी विशेषता यह है कि वह घटनाओके विन्यासमें पात्रोके व्यक्तित्वके विकासका पूरा ध्यान रखते है। अतिरजित स्थलको छोडकर उनकी घटनाएँ व्यर्थ नियोजित नही जान पडती। यदि भविस राजासे कहकर अपनी पत्नीके चरित्रकी परीक्षा लेता है तो उसकी पत्नी भी, उसके दूसरे विवाहके प्रसग आनेपर आश्वासन ले लेती है। अपमानिता कमला तबतक धनवइके घर नही जाती जबतक वह क्षमा माँग उसे लेने नही जाता। विवाहमे घर जाती है, पर काम होनेपर चली आती है, सौतके न रहनेपर भी वह नही रहती। परन्तु धनवइके व्यक्तित्वको बचानेके लिए कविने बीचमे सखी कचनमालाकी सृष्टि कर दी। भविसमे जो सद्गुण और सफलता हम देखते है उसका श्रेय उसकी मांको है। राजा होनेपर भी वह उसे परामर्श देनेसे नही चूकती। एक बातमे और इसके कथानकका महत्त्व बढ जाता है। पउमसिरि चरिउमें पद्मश्री

पतिपरित्यक्ता होकर आध्यात्मिक जीवनमें प्रवेश कर लेती है। परन्तु कमला अपने लौकिक दायित्वसे मुक्त नही होती, वह धर्मका सहारा लेती है, और वात्सल्यसे प्रेरित होकर वह अन्यायको चुपचाप सह लेती है, पर अपने कर्त्तव्यको ईमानदारी, सचाई और पूरी ममतासे निभाना चाहती है। यहाँ धर्म, भावका अंग है न कि भाव धर्मका। धार्मिकताके अनुरोधसे यदि धनपालने इसमें पूर्व भव और तिलकद्वीपका दैवी अंश न बढाया होता तो यह कथा आधुनिक कथा-साहित्यके बहुत निकट होती। वैसे भी अधिक दूर नही है। उद्देश्य, चरित्र-चित्रण, कथा-विकासकी दृष्टिसे मैं ऐसे अबतकके उपलब्ध अपभ्रंश चरित-काव्योमें इसे पहला स्थान देनेके पक्षमे हूँ।

हरिवंश पुराण

हरिवंश पुराणके लेखक कवि धाहिल १० और ११वी के बीच हुए। उनकी माताका नाम केसल्ल और पिताका सूर था। कविने अपने गुरुका नाम अम्बसेन बताया है। उसने प्रस्तावनामें कवि-परम्पराका विस्तृत ब्यौरा दिया है। चतुर्मुखके बारेमें उसकी यह उक्ति महत्त्व रखती है—

'हरिपंडु सुआण कहा चउमुह वासेहिं भासिया जह या
तेह विरयमि लोय पिया जणो ण णासेइ दसणं पउरे।'

इससे जान पडता है कि चतुर्मुखने पाण्डव और कृष्णपर प्रबन्ध-काव्य लिखा था। धाहिलकी रचनाका उद्देश्य हरि और पाण्डवोकी कथा-को जैन दृष्टि और परम्पराके अनुसार काव्यात्मक रूप देना था। चतुर्मुख स्वयभूसे प्राचीन कवि है। स्वयभूने चतुर्मुखके कई अवतरण स्वयंभू छन्दमें दिये है। सन्देशरासककार अब्दुल रहमानने भी चतुर्मुखका उल्लेख किया है। इस प्रकार चतुर्मुख अपभ्रंशके सबसे प्राचीन, ज्ञात, पर अनुपलब्ध कवि सिद्ध होते है। खोज करनेपर, सम्भव है, उनकी रचनाएँ उपलब्ध हो जायें? उनकी रचनाएँ अपभ्रंश काव्यधाराकी एक महत्त्वपूर्ण खोयी कडी जोड देंगी, इनमें सन्देह नही।

११२ सन्धियोंके प्रस्तुत हरिवंश पुराणमें सन्धिके नियमोंका विधिवत् पालन नही है। इसमें अपभ्रंश काव्यकी सभी रूढियोंका निर्वाह है। शैली अलंकृत है, और कथा रसवन्ती। समूची रचना जैन स्वभावसे आपन्न है। यह अभी अप्रकाशित है, इसकी पहली सूचना डॉ० हीरालालने

सन् १९२५ में दी थी। इसकी एक प्रति, बडा तेरह पन्थियोके जैन मन्दिर, जयपुरमें है।

जम्बूसामि चरिउ

जम्बूसामि चरिउ एक अप्रकाशित रचना है। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेरशास्त्र भण्डारमें है। इसके रचयिता वीर कवि ग्यारहवी सदीके प्रथम चरणमें हुए। इनके पिताका नाम देवदत्त और माताका सन्तुआ था। वीरकी कई पत्नियाँ थी। इनके पिता देवदत्त भी कवि थे, उन्होने पद्धडियाबन्धमें 'वराग चरित' की रचना की थी। वह अपने पिताकी गिनती स्वयभू और पुष्पदन्तके समकक्ष करते है—

सते सयंभुए एवे एक्को कइत्ति विन्नि पुणु भाणिया
जायम्मि पुप्फयन्ते तिण्णितहा देवयत्तमि ॥ ५ १ ॥

बीच-बीचमें सस्कृतमें आत्मप्रशसा भी है। परन्तु कथाके प्रवाहमें वह सभी काव्य-रूढियोका निर्वाह करता है। इसमें जन्म-जन्मान्तरोके सन्दर्भमें जम्बूस्वामीका जीवन वर्णित है। वह कथाका नायक है। उसके वर्तमान यश, प्रताप और वैभवके मूलमें उसके पूर्व भवोका घटनाक्रम सम्बद्ध है। वह इस बातका प्रतीक है कि 'मनुष्य' जो कुछ होता है वह अपनी अतीत घटनाओका फल होता है। नये धार्मिक अनुष्ठानसे वह अपने भविष्यको सुधार सकता है और वर्तमानको सन्तुलित रख सकता है। चरित-काव्योंके अन्य कथा-नायकोकी भाँति उसके जीवनकी समाप्ति भी विरक्तिमें होती है। श्रोता-वक्ता शैली, कथाकी आर्षपरम्परा वही जानी-मानी राजा श्रेणिक और गौतम गणधरसे प्रारम्भ होती है। उसीका चरित्र, इसमें केन्द्रीय चरित्र है, शेष पात्र और घटनाएँ उसीके परिप्रेक्ष्यमें नियोजित है। नाना साहित्यिक शैलियो और वर्णनोके अनुसरणके मोहसे कथानक अस्वाभाविक हो उठा है। शेष बातें अपभ्रंश चरित-काव्योके अनुरूप हैं। नाना रसोसे उद्वेलित कथा अन्तमें शान्तिमें प्रशमित होती है।

जम्बूस्वामीके जिस जीवनकी घटनाएँ प्रस्तुत काव्यमें वर्णित है, उसकी परम्परा कई जन्म पहले प्रारम्भ होती है। मगध देशके वर्धमान गाँवमे एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी थे। उनके दो पुत्र थे, एक १८ वर्षका, दूसरा १२ वर्षका। पिताकी मृत्यु और मॉके सती हो जानेपर एक भाई भवदत्त दिगम्बर मुनि हो गया। दूसरा अपने विवाहकी तैयारीमें लगा

हुआ था। आखिर अपने भाईके कहनेपर वह भी दीक्षित हो गया, पर उसका मन बार-बार संसारकी ओर जाता। दोनो भाई अनेक जन्म-परम्पराओमें घूमते रहे, अन्तमे भवदत्त ही जम्बूस्वामीके नामसे उत्पन्न हुआ। उसके पिताका नाम अरहदास था। जम्बूस्वामीमें वे सब गुण एक साथ थे, जो किसी युवकमें दुर्लभ होते हैं। अनेक घटनाओके केन्द्रमें होकर भी जम्बूस्वामीका मन संसारमे नही लगता था। निदान, एक नही चार-चार कन्याओसे उनका विवाह कर दिया गया। स्वामीके मनमे भोग और योगमे जब कभी द्वन्द्व उठ खडा होता, पत्नियाँ उसके वैराग्यका मज़ाक उडाती, इसी बीच विद्युच्चोरसे उसका विवाद होता है। अन्तमें जम्बूस्वामी विरक्त हो जाते हैं। इस प्रकार समूची कथा प्रतीक रूपमे ग्रहीत है। राग और विरागका द्वन्द्व दिखानेके लिए सारी घटनाएँ और जन्मपरम्पराएँ वर्णित की गयी हैं। मनुष्य रागसे ऊपर उठना चाहता है, पर सासारिक परिस्थितियाँ उसे ऊपर नहीं उठने देती। जम्बूस्वामीका चरित्र इसी बातका निदर्शन है। लगातार साधना-के बाद ही व्यक्ति उनपर विजय प्राप्त कर सकता है।

सुदंसण चरिउ

आमेर शास्त्र भण्डारमें इसकी तीन हस्तलिखित प्रतियाँ हैं, एक डॉ० हीरालाल जैनके पास है। कवि नयनन्दीने १२ सन्धियोके प्रस्तुत काव्यमें सुदर्शनके चरित्रका वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त उनकी 'सकल विधि-विधान' रचना भी मिलती है। इनका समय ११वी सदी है। सुदर्शन चरित्रकी रचना, अवन्तीनरेश भोजराजके समय हुई। सम्भवत. रचना धारा नगरीमें हुई। जैसा कि निम्न पुष्पिकासे ज्ञात होता है—

"आरामगाम पुरवरणिवेसे सुपसिद्ध अवंती नाम देसे
तहि अत्थि धार नयरी गरिट्ठ।
तिहुयण नारायण सिरि णिकेउ तहिं णरवर पुंगमु भोय देउ
णिव विक्कम कालहो नव गएंसु एयारह संवच्छरसएसु
तहि केवल चरिउ अमच्छरेण णयणंदे विरइउ वित्थरेण।"

यह माणिक्यनन्दीके शिष्य थे। पहली सन्धिमें कथाकी परम्परा है। दूसरीमें गौतम गणधर बताते हैं कि भरत क्षेत्रके अंगरयमें चम्पापुरी नगर था। उसमें धाडीवाहन राजा रहता था। उसकी रानी अभया थी। उसी नगरमें ऋषभदास सेठ था। उसकी पत्नीका नाम अर्हदासी था। उसके

यहाँ, पूर्व जन्मका एक गोपाल, णमोकार मन्त्रके प्रभावसे सुदर्शन नामसे पुत्र हुआ। वह अनिन्द्य सुन्दर और मेधावी था। युवनियोको आकृष्ट करनेमें उसे कामदेव समझिए। सुदर्शन सागरदत्तकी लडकी मनोरमापर रीझ गया। वह उसे पानेके लिए व्याकुल हो उठा। दोनोका विवाह हुआ। धाडीवाहन राजाकी पत्नी अभया और कपिला नामकी एक अन्य स्त्री भी उसपर आसक्त हो गयी। रानीने पण्डिता नामक धायके माध्यमसे सुदर्शनसे मिलनेका उपाय किया। किसी तरह सुदर्शन रानीके पास पहुँचा, पर रानी उसे फुसलानेमें असमर्थ रही। तब उसने सुदर्शनपर उलटा आरोप लगाकर पकडवा दिया। उस समय व्यन्तर देवताने उसकी रक्षा की। व्यन्तरसे युद्धमें धाडीवाहन हार गया। अन्तमे राजा और सुदर्शन सन्यासी बन गये। अभया और कपिला नरक गयी। जन्म-जन्मान्तरोके वर्णनके साथ कथा परिसमाप्त होती है। यह भी धार्मिक उद्देश्यसे लिखित प्रबन्ध-काव्य है, जिसमें घटनाएँ और कथाएँ कतिपय धार्मिक मान्यताओको सिद्ध करनेके लिए कथानकमें चिपकायी गयी है। जैसा कि कहा जा चुका है, अपभ्रंश प्रबन्धोंके इतिवृत्तके बन्धको, अपभ्रंश कवियोके धार्मिक कोणसे देखना चाहिए। सुदर्शनचरितमें रानी अभयाका सेठपुत्र सुदर्शनके प्रति अपने पतिकी उपस्थितिमें आकृष्ट होना एक सामाजिक विसगति है, यह स्वीकार्य है। पर यह सामन्तवादपर वणिक्वादकी विजय है? उसके मूलमें धार्मिक पुण्य काम कर रहा है। बहुत बार, ये कवि नही बताते कि आखिर, रानी अभया या कपिलाके इन सामाजिक आकर्षणका मनोवैज्ञानिक या पारिवारिक कारण क्या था? तो भी इससे इनकार नही किया जा सकता, इसमे सबसे बडा कारण मानव स्वभाव ही है। सुदर्शन भी भावुक और प्रेमी है, वह मनोरमाके प्रति आकृष्ट होता है, पर अपनी नयी असामाजिक प्रेमिकाओके प्रति नही। उसके चरित्रकी यह गतिशीलता और स्थिरता ही ऊँचा उठाती है? यह बात भी अनुसन्धानकी अपेक्षा रखती है। सुदर्शनको पूर्व भवके गोपका अवतार क्यो बताया गया?

अन्य अपभ्रंश चरित-कवियोकी भांति नयनन्दीके भी काव्यादर्श थे। उसके अनुसार तरुणियोंके विद्रुमजडित अधरो, नग्न इक्षुदण्ड, अमृत चन्दन और चन्द्रमामें वह रस नही, जो अलंकार युक्त काव्यके कहनेसे रस होता है—'सालंकारे सुकइभणिदे ज होदि कव्वे।'

इसी प्रकार प्रकृतिवर्णन और छन्दोयोजना परम्पराके अनुरूप है। प्रकृति

प्रायः संयोग-वियोगके सन्दर्भमे वर्णित हैं। शृगारकी अन्तिम परिसमाप्ति शान्तमे है। वियोगके चार भेदोकी कल्पना है। यह भी तत्कालीन प्रबन्ध-काव्योंकी एक प्रवृत्ति थी। पर इसका सम्बन्ध नायिका-भेदसे जोडना उचित नही। जहाँ अलकृत भाषा नही है, वहाँ लोकोक्ति और मुहावरोसे भाषा अपने स्वाभाविक निखारपर है। युद्ध वर्णनमे कामशास्त्रीय उपमानोकी योजना है। यह अपभ्रंश प्रबन्ध-कवियोकी सामान्य प्रवृत्ति है। उक्ति-छलसे कविने अपनी रचनाको निर्दोष स्वीकार किया है। यह निर्दोषता चरित्रगत है, प्रबन्धगत नही। उसका कहना है कि रामायणमें राम और सीताका वियोग है। महाभारतमें यादव, पाण्डव और धृतराष्ट्रके वंशोका भयकर क्षय हुआ, परन्तु सुदर्शनके चरितमे कलककी एक रेखा भी नही ? यह कथन ही कविके आध्यात्मिक दृष्टिकोणको स्पष्ट कर देता है। सकलविधिविधान एक कर्मकाण्डात्मक रचना है, शुद्ध काव्य नही।

पास चरिउ

प्रस्तुत काव्यकी दो प्रतियाँ—हस्तलिखित—आमेर शास्त्र भण्डारमें हैं। कवि पद्मकीर्तिने २३वें तीर्थंकरका चित्रण किया है। कुल १८ सन्धियोके इस काव्यमें कवि अपनेको जिनसेनका शिष्य बताता है। यह दसवी सदीके आस-पासकी रचना है। डॉ० हीरालाल इसे शक सवत् ९९९ की मानते हैं।

पासणाह चरिउ

इसके लेखक श्रीधर आयरवाल १२वी और १३वीके सन्धिकालमें हुए। आयरवालका तत्सम अग्रवाल है। पासणाह चरिउके अतिरिक्त इन्होने दो चरित-काव्य सुकुमाल चरिउ और भविसयत्त चरिउ भी लिखे। इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ आमेर शास्त्र भण्डारमें हैं। कविकी माँका नाम बील्हा और पिताका गोल्ह था। श्री नट्टलसाहुकी प्रेरणासे इस काव्यकी रचना हुई। बीचमें संस्कृत छन्दोमें कवि अपने प्रेरणादाताकी प्रशसा भी करता है। पार्श्वनाथकी कथा ज्योकी त्यो है। वर्णन परम्परागत है। उसमें दिल्लीका सुन्दर वर्णन है। सुकुमाल चरिउकी कथावस्तु भी जैन प्रबन्ध-काव्य-परम्परामें काफी लोकप्रिय रही है।

सुकुमाल चरिउ

सुकुमाल चरिउ एक दूसरा चरित-काव्य है। इसके रचयिता भी कवि

श्रीधर गुजराती थे। प्रस्तुत कृति अहमदावादमे राजा गोविन्दचन्द्रके समय लिखी गयी। कविने प्रत्येक सन्धिकी पुष्पिकामे अपने आश्रयदाताका उल्लेख किया है। इसी प्रकार श्रुतपचमीका माहात्म्य वतानेके लिए उसने भविसयत्त कहाकी रचना की। भविसयत्तका आख्यान भी जैन-परम्परामे काफी लोकप्रिय रहा है।

सुलोचना चरिउ

सुलोचना चरिउ कवि देवसेनगणीकी रचना है। राक्षस सवत्सरमें यह ग्रन्थ समाप्त हुआ। ज्योतिष गणनाके अनुसार यह मवत्सर पडता है जुलाई १०७५ या जुलाई १३१५। कविने पूर्वकवियोकी लम्बी सूची दी है। वाल्मीकि, व्यास, श्रीहर्ष, कालिदास, वाण और मयूर यह तो हुई सस्कृत कवियोकी परम्परा। अपभ्रश कवियोंमे हलिय, गोविन्द, चतुर्मुख, स्वयभू, पुष्पदन्त आदि है। इनका जन्म १३०५ के पूर्वमें कभी हुआ। सुलोचनाकी कथा पुष्पदन्तके महापुराणमे भी है। जैन कथाओंमें यह कथा भी काफी लोकप्रिय रही है। धवल पुराणकारने भी इसके चरित-पर एक काव्य लिखा। मुख्य रूपसे इसमें सुलोचनाका चरित्र अकित है। इसी प्रकार प्रद्युम्न चरितपर सिह कविने रचना की है। उसके पिताका नाम रल्हण है और माताका जिनमती। यह गुर्जर कुलका था। पण्डितोका अनुमान है कि सिद्ध कविने पहले इसका निर्माण किया था। उसके वाद सिहने उसे समाप्त घोषित किया। काव्यमें सौराष्ट्रके प्राकृतिक सौन्दर्यकी झलक है।

सनत्कुमार चरिउ

सनत्कुमार चरिउके रचयिता श्रीहरिभद्रसूरि श्रीजिनचन्द्र सूरिके प्रशिष्य थे। इसकी रचना अणहिल पाटनमें १२वी सदीके अन्तिम चरणमे हुई। चालुक्यवशी सिद्धराज और कुमारपालके अमात्य पृथ्वीपालके आश्रयमें रहकर उन्होने इसकी रचना की। इसके अतिरिक्त उन्होने मल्लिनाथ चरितकी प्राकृतमें रचना की। सनतकुमार चरिउ १९२१ मे डॉ० हरमन जैकोवी-द्वारा सम्पादित हो चुका है। वैसे यह नेमिनाथ चरितका ही एक अग है, परन्तु कथानककी दृष्टिसे इसका स्वतत्र अस्तित्व है। सनत्कुमार गजपुरके राजा अश्वसेन और रानी सुदेवीका पुत्र था। राजसी परम्पराओंमें पलकर कुमार वडा होता है। वसन्तके एक सुप्रातमे

दिन वह एक सुन्दरीको देखता है। दोनो एक दूसरेपर मुग्ध। मदनायतनमे उनका मिलन। इसी बीच भोजराज पुत्र कुमारको जलधिकल्लोल नामक एक प्रसिद्ध घोडा देता है। वह कुमारको लेकर उड जाता है। राजधानीमें हाहाकार। कुमारकी खोजका शासकीय आदेश। सनत्कुमारका मित्र अश्वसेन भी उसे खोजते-खोजते मानसरोवर जा पहुँचता है। वहाँ एक किन्नरी अपनी गीतलहरीमे कुमारका वर्णन कर रही थी। उससे कुमारका वृत्तान्त ज्ञात होता है। इस बीच कुमार अनेक रमणियोको अपना बना चुके थे। जिस युवतीसे प्रारम्भमें प्रेम था, उसे यक्ष हर ले गया था। बादमे उससे विवाह। इसके बाद उसके वीर कार्यों और साहसी घटनाओका उल्लेख है। अन्तमें चक्रवर्ती पद पाकर रूपकी क्षीणतम विरक्ति उन्हें सन्यासी बना देती है। दीर्घकालीन साधनाके बाद वह मुक्त होते हैं। अन्य रोमाण्टिक चरित-काव्योकी भाँति ही आलोच्य कृतिका शिल्प, शैली और चरित्र-चित्रण है।

अन्य कथा-साहित्य

अपभ्रशमें कुछ कथा साहित्य भी उपलब्ध है। कथाके प्रति मानव जातिका आकर्षण सभ्यताके आदि युगसे रहा है। इसीलिए कथाओके माध्यमसे मनुष्य अपने आदर्शों, विचारो और मतोको अभिव्यक्त करता रहा है। अपभ्रशमें भी धार्मिक उपदेशो और स्वमतके समर्थन अथवा सैद्धान्तिक बातोके प्रतिपादनके लिए कथाओका सहारा लिया गया है। तीन कारणोसे हम उनका विचार ठीक नही समझते—एक तो उनका स्वर एक दम साम्प्रदायिक और उपदेशात्मक है, दूसरे वहुत-सी परम्परा मुक्त हैं, उसमे कहानीकारकी कल्पनाकी थोडी भी झलक नही, तीसरे काव्यात्मक दृष्टिकोणसे इन कथाओका कोई मूल्य नही। उनमें कुछको कथा कहना भी कठिन है। डॉ० कोछडने इस प्रकारकी कुछ कथाओका परिचय दिया है। धर्म-परिक्खा, हरिषेण वि० स० १०४४। कथा कोष-रचयिता कवि १२वी सदी। इसमें सभी प्रकारकी कथाओका सग्रह है। रत्नकरण्ड शास्त्र-रचयिता श्रीचन्द कवि। वस्तुत इसमें आचार्य समन्तभद्रके रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी कथात्मक व्याख्या है। स्थूलभद्र कथा—इसमें स्थूलभद्र और कोशाका आख्यान है। ब्रह्मचर्यकी महिमा बतानेके लिए इसकी रचना की गयी है। छकम्मोवएस अमरकीर्ति-द्वारा रचित वि० स० १२४७ की कृति है। उसने इसके अतिरिक्त दूसरे चरित-काव्योकी

रचना की। अनुवयरयण पईउ—वि० स० १३१३ में १२५६ ईसवीमें लिखित। कवि लक्खण इसके लेखक हैं। इसमें प्रत्येक अणुव्रतका माहात्म्य कथाके माध्यमसे समझाया गया है। डॉ० जैनने इलाहाबाद यूनिवर्सिटी जर्नल भाग १, पृ० १८१ मे दस अपभ्रश कथाओके नाम दिये हैं। प० परमानन्द जैनने भी कोई एक दर्जन अपभ्रश कथाकृतियोका उल्लेख किया है। यहाँ इनका विश्लेपण अप्रासगिक है।

सम्बन्ध-निर्वाह और भावुकता—आचार्य शुक्लने ये दोनो प्रबन्ध-काव्यके आवश्यक गुण माने हैं। सम्बन्ध-निर्वाहमे मुख्यतया इन बातोका विचार होता है—

१ आधारिक और अवान्तर कथामें सन्तुलन हो,
२. घटनाओमे कार्य-कारणयोजना, और
३ अवान्तर कथा मुख्य कथाको गतिशील बनानेमे सहायक हो।

(जा० ग्र० पृ० ७३)

किन्तु मेरी सम्मतिमे इस प्रकारके कथामूलक चरित-काव्योमे ऐसे कथानककी आशा करना व्यर्थ है। इसीलिए सस्कृत महाकाव्योमे यह आवश्यक नही माना गया। शुक्लजीने काव्यके दो भेद किये हैं—चरितप्रधान और घटनाप्रधान, पर जिन काव्योको लक्ष्यमें रखकर उन्होने यह विभाजन किया है, उन्हे देखते हुए ऐसा करना युक्तिसगत नही जँचता। बात यह है कि ऐसे काव्यमे चरित और घटनाको विन्यासकी दृष्टिमे अलग-अलग दिखाना कठिन ही नही असम्भव है। नाटकमें यह सम्भव हो, पर काव्यमे नही, विशेषत उन काव्योमे जिनमे कि शुक्लजीने यह भेद लक्षित किया है। घटनाप्रधानमे अवान्तर कथाएँ एक मुख्य सूत्रमे अन्वित रहती है। जब कि चरित-काव्यमे नायकके साहसपूर्ण कार्योका उल्लेख रहता है। जहाँतक आलोच्य साहित्यका सम्बन्ध है यह स्पष्ट है कि उसमें ऐसा भेद करना ठीक नही। फिर भी जहाँ सम्बन्ध-निर्वाह या वैज्ञानिक विश्लेपणके स्थल दिखे, मैंने यथाक्रम उल्लेख कर दिया है। शुक्लजीने रामचरितमानस और पद्मावतको घटनाप्रधान माना है, मेरी स्पष्ट सम्मतिमें वे भी वस्तुत चरित-काव्य हैं, एक पौराणिक और दूसरा रोमैण्टिक। शुक्लजीने इनमे क्रमश मुख्य कार्य माने है—'रावणवध' और 'पद्मावतीका सती होना' (जा० ग्र० पृ० ७३)। ये दोनो राम और पद्मावतीके मुख्य जीवन-कार्य हो सकते है, परन्तु देखना चाहिए कि कविका अपना उद्द

गया है ? स्पष्ट ही उनका लक्ष्य है, क्रमशः रामकी भक्ति और प्रेमकी पीरका महत्त्व दिखाना। यही कारण है कि रावणवध और पद्मावतीके सती हो चुकनेपर काव्यकी समाप्ति नही होती, प्रत्युत कवि अपनी धार्मिक आस्थाका तल्लीनतासे वर्णन करते रहते हैं। अतः इनमे नायकका कार्य मुख्य न होकर कविका लक्ष्य ही मुख्य है। यह बात हमे भाषा चरित-काव्योमें भी दिखाई देती है। घटनाप्रधान काव्योमे नायकका चरित आदिसे इति तक अंकित करना आवश्यक नही, चरित-काव्यमे आवश्यक है। रामचरितमानस और पद्मावतमे पूरा ही जीवन है। शुक्लजीने कार्य-कारणयोजना दिखानेके लिए समुद्रसे प्राप्त पाँच रत्नोका उल्लेख विशेष रूपसे किया है क्योकि अलाउद्दीन सन्धिके समय उन्ही रत्नोको माँगता है। जहाँतक मै समझता हूँ, पाँच रत्नोका उल्लेख, सम्बन्ध-निर्वाहको सूचित करनेके लिए नही, अपितु योगमतके प्रभावके कारण है। जायसी इससे प्रभावित थे, और इस मतमें ५ की सख्याका महत्त्व है। [शैवमत ५ मन्त्र मानता है और योगमत ५ उपाय। ये है वास, जप, ध्यान, स्मृति और प्रसाद] कार्यकी तीन अवस्थाओ—प्रारम्भ, विकास और नियतिकी योजनाके विपयमें यही समझना चाहिए। क्योकि कुशल लेखक अपनी कथाके विकासका थोडा-बहुत ध्यान रखता ही है।

किसी कविकी भावुकताको पहचाननेके लिए शुक्लजीने तीन लक्षण माने है—मार्मिक स्थलोकी पहचान, भावोका विस्तार और भावोकी गहराई। मैं यह मानता हूँ कि ये भावुकताके गुण हो सकते हैं, परन्तु यथार्थमें भावुकताका सम्बन्ध कविके दृष्टिकोणसे होता है। मान लीजिए कोई प्रबन्ध-कवि भक्त है, तो निश्चय ही वह कथामे ऐसे प्रसग खोज-खोजकर लायेगा जिसमें उसकी भक्ति-भावना रम सके। उक्त तीन बातोके सिवा, प्रकृति-चित्रण, अलकार-योजना या अन्य काव्यात्मक विचरणोमें कविके इस भावुक दृष्टिकोणका प्रभाव पडता है। प्रबन्ध-कविकी भावुकता जिस रूपमें होगी, उसी रूपमें मुक्तक-कविकी हो, यह नियम नही बनाया जा सकता। इन तथ्योके आधारपर अपभ्रंश कवियोकी भावुकताको परखनेका प्रयत्न या निर्देश प्राय सभी प्रकरणोमें किया गया है। कथाके कौशल-पूर्ण विन्यासको देखते हुए इसे कथा कहनेकी तबीयत होती है, परन्तु कविने चरित-काव्यके तथोक्त उपादानोको भी मिला दिया है। अत यह भी चरित-काव्योकी सीमामें ही आता है। वास्तवमें देखा जाये तो अपभ्रंश कवि चरित-काव्य और कथा-काव्यमे भेद नहीं करते। आचार्य

हेमचन्द्रके काव्यानुशासनसे भी इस मतका समर्थन होता है[1]।

आत्मपरिचय और मंगलाचरण – अपना परिचय और मगलाचरणकी प्रवृत्ति अपभ्रश प्रवन्ध-काव्योकी एक अनिवार्य विशेषता है। परिचय सक्षिप्त और सकेतात्मक होता है। इससे, कविका समय, जन्म-स्थान और वश-परम्पराके निर्णयमें वहुत सहायता मिलती है। इसे काव्यात्मक परिचय कहना अधिक ठीक होगा। स्वयभू कवि अपने परिचयमें कहते हैं कि 'पद्मिनीसे जन्मा मैं, पिता मारुतदेवके अनुरागमे भरा हूँ (पउमिणि गब्भसभूए मारुयदेव अणुराए)। आत्मपरिचयकी तुलनामे, अपने काव्यका परिचय देनेमे, अपभ्रश कवि विशेष सजग दिखाई देता है। उदाहरणके लिए, स्वयभूका कवि दृढ़ताके स्वरमे अपना यह विश्वास प्रकट करता है कि बुधजनरूपी भ्रमरोसे परिचुम्बित उसका काव्यकमल अमर होकर रहेगा। कभी-कभी, आत्मपरिचयके प्रसगमे ये कवि अपनी काव्य-रचनाकी प्रेरणाओका भी उल्लेख कर देते हैं। पुष्पदन्तमें यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है। यह प्रसग या तो काव्यके प्रारम्भमे आता है, जिसे उत्थानिका कहते है या फिर प्रशस्तिमें जो ग्रन्थके अन्तमे होती है। जीवनके प्रसगमें इसका विचार किया गया है। मगलाचरणमें प्राय इष्टदेवकी वन्दना होती है या फिर सरस्वतोकी। कभी-कभी वह अपने काव्यके प्रयोजनोका भी सकेत दे देता है।

आत्मलघुता व्यक्त करना अपभ्र श कवियोका विशेष गुण है। कवि कालिदासने भी रघुवशके प्रारम्भमें विनय प्रकट करते हुए कहा है कि मेरा रघुवशका वर्णन करना वैसा ही है जैसा बौने आदमीका समुद्र तैरना। लेकिन उत्तरकालीन सस्कृत साहित्यमें आत्मगर्वोचितका भाव अधिक बढा। इसके दो कारण है—एक तो राज्याश्रय और दूसरे दार्शनिक और तार्किक विद्वानोका काव्य-रचनामे प्रवृत्त होना। अपभ्र श कवि प्राय इससे दूर ही हैं। कवि स्वयभू अपनी नम्रता प्रकट करते हुए कहते हैं –

> बुहयण सयभु पइ विण्णवइ मइ सरिसउ अण्णु णाहि कुकइ।
> वायरणउ कयावि ण जाणियउ णउ वित्ति सुत्तु वक्खाणियउ।
> णउ पच्चाहरहो तत्ति किय णउ सधि हे उप्परि बुद्धि किय।
> णउ सुअउ सत्त विहत्तियउ छव्विहउ समास पउत्तियउ।
> छक्कारउ दस लकार ण सुय वीसोवसग्ग पच्चय वहुय।

[1] देखिए प्रकीर्णकमें 'आचार्य हेमचन्द्र और उनका काव्य।'

ण वलावल धाउ णिपाय गणु ण उ लिंग उणाइ वक्कु वयणु ।
णउ णिसुणिउ पंच महायकव्वु णउ भरहु गेउ लक्खणु विसव्वु ।
णउ बुज्झिउ पिंगल पित्थारु णउ भम्मह दंडि अलंकारु ।
ववसाउ तो वि णउ परिहरमि वरि रड्डा बद्ध कव्वु करमि ।
सामण्ण भास छुडु सावडउ छुडु आगम जुत्ति कावि घडउ ।
छुडु होंतु सुहासिय वचपाइं गामिल्लभास परिहरणायाइं ।

इसका अर्थ है कवि इन सब बातोका जानकार है। तभी वह निषेध कर रहा है। उनके काव्यको देखनेसे यही जान पडता है कि उन्हें काव्य और शास्त्रका अच्छा अभ्यास था। एक तरहसे उन्होने यह भी बता दिया कि उनके काव्यके स्रोत ये है – भरत, भामह, दण्डी, जैन आगम और पाँच महाकाव्य। अर्थात् उनकी रचना व्याकरण, साहित्य, छन्द और धर्म सभी शास्त्रोसे सम्मत है। कवि पुष्पदन्त अपने बारेमें यह कहते हैं –

णउ हउं होमि वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छंदु देसि ण वियाणमि ।
जइ विरइय जय वंदेहिं आसि मुणिंदहि सा कह केम समाणमि ।
(म० पु० १, ९)

इसके बाद वह कहते है कि मैं अकलंक, कपिल, वैशेषिक, वैदिक, बौद्ध और चार्वाक (दर्शनो) को नही जानता। न मै दत्तिल और विसाहिल-को जानता हूँ। भरत मुनि और पतजलिको रचनाओका मैंने अभ्यास नही किया। इतिहास और पुराणोका भी ज्ञान मुझे नही है। भावाधिप, भारवि, भरत, व्यास, कोहल, कालिदास, चतुर्मुख, स्वयभू, श्रीहर्ष, द्रोण, ईशान और बाणको भी नही जानता। इसके अनन्तर उसने व्याकरण, जैनागम, अलकार, शास्त्र, पिंगल विस्तारके प्रति अपना अज्ञान प्रकट किया है। (म० पु० सधि १, कड० ९ पूरा) अन्तमें वह कहता है –

हउं वप्प णिरक्खर कुक्खिमुक्खु वेसें णर हिडम्मि चम्मरुक्खु ।
अइ दुग्गमु होइ महा पुराणु कुडएण मवई को जल णिहाणु ।
(वही पृ० १०)

अपने प्रयत्नके औचित्यके विषयमें उनका कहना है –

त हउ विकहमि भत्ति भरेण कि णहि ण भमिज्जइ महुहरेण ।

इसके अतिरिक्त, पुष्पदन्तने सस्कृत पद्योमें आत्म गौरवकी भी व्यजना की है। स्वाभिमान और विनयका उनके स्वभावमें विचित्र मेल था। कवि

अपनेको निरक्षर कहता है परन्तु ज्ञात अपभ्रंश कवियोमे शायद वही सबसे अधिक साक्षर थे।

कनकामर भी प्राय अपनी अल्पज्ञता उक्त कवियोके स्वरमें स्वर मिलाकर ही व्यक्त करते हैं —

वायरणु ण जाणमि जइवि छंदु

(कर० च० पृ० १)

धनपाल अपनी अकिंचनताकी घोषणा इस तरह करते हैं —

मैं गुणहीन और अर्थहीन हूँ, प्रतिभा और वैभव दोनोमे क्षीण होनेसे मैं विद्वानोकी सभामें शोभा पाने योग्य नहीं हूँ। निर्धन व्यक्तिकी कोई शोभा नही होती और धन बिना पुण्यके नही मिलता। फिर भी मैं थोडा-बहुत प्रयत्न करता हूँ। जिसकी जितनी बुद्धि होती है वह उतनी ही अभिव्यक्ति कर सकता है। महाकवियोकी कथामे क्या, चन्द्रमाके उदय होनेपर क्या जुगनू अपना चमकना बन्द कर देता है।

(भवि० क० पृ० १)

कवि रहमान पहले अपनेसे पूर्वके कवियोका वर्णन करते है, फिर कहते हैं कि मुझ-जैसे कवियोकी प्रशंसा कौन करेगा। तब भी वह इस कामसे विरत नही हो सकता। क्योकि चन्द्रोदय होनेपर भी घरमें दिया जलाया ही जाता है।

(स० रा० पृ० ३, ४, ५)

जोइन्दु ग्रन्थके अन्तमें इतना कहते है —

ज मइ किं पि विजपियउ जुत्ताजुत्तु वि इत्थु।
त वरणाणि खमंतु महु, जे बुज्झहि परमत्थु।

मैंने जो कुछ कहा वह उचित-अनुचित रहा होगा, परन्तु जो परमार्थके यथार्थ वेत्ता हैं वे मुझे क्षमा कर ही देंगे। उनका अर्थ यह है कि जो ज्ञानी परमार्थको जानते हैं वे भाषाके माध्यमकी त्रुटियोको नही देखेंगे और मूर्खसे क्षमा-याचनाका कोई महत्त्व ही नही है। डॉ० अग्रवाल लिखते हैं कि अपने पूर्ववर्ती कवियों और लेखकोंको नमस्कार करनेकी यह पद्धति गद्य-कथाओंमें आवश्यक अंग समझी जाती थी। बाणके पहले सुबन्धुमें भी यह हम पाते हैं। बाणके बादके लेखकोंमें यह प्रवृत्ति और अधिक बढ़ी हुई मिलती है, जैसे धनपालकी तिलक-मञ्जरीमें। प्राकृत और अपभ्रंशके प्राय सभी कवियोंने इस परिपाटीका अनुसरण किया है।

(ह० सा० आ० पृ० ७) हमारा अनुमान है कि यह प्राकृत-कवियोकी देन है और इसके निम्न-लिखित कारण हो सकते हैं –

१ धार्मिक परम्परामें गुरु-परम्पराका निर्देश आवश्यक था, इसका अनुकरण साहित्यमें भी हुआ ।

२ लोक-भाषामें काव्य-रचनाके कारण वे आत्म-लघुतासे अपने प्रयत्नको कटु आलोचनासे बचाना चाहते थे ।

३ सस्कृत-साहित्यके कठोर उपहाससे बचनेके लिए ।

सज्जन-दुर्जन वर्णन – सज्जन-दुर्जनका वर्णन भी अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यका आवश्यक अग है । मुक्तकमें भी यह है । परवर्ती संस्कृत-साहित्यमें यह विशेषता थी । पउम चरिउमें स्वयम्भू सज्जनके साथ दुर्जनके प्रति भी हाथ जोडते हैं –

एहु सज्जण लोय हो किउ विणउ जें अबहु पद्दरिसिउ अप्पणउ ।
जइं एम विरूसइ कोवि खलु तहो हत्थुत्थल्लिउ लेउ छलु ।
पिसुणें किं अब्भत्थिएं ण जसु कोवि ण रुच्चइ ।
किं छणयंदु महागहेण कम्पंतु विमुच्चइ ।
(प० च० १ पृ० ५)

दूसरे भागमें सज्जनसे कविका तात्पर्य कलामर्मज्ञ विद्वान्से जान पडता है –

जगे लोयहुं पंडियहुं सहत्थ सत्थ परिचड्डियहुं ।
किं चित्तइं गेण्हेवि सविकयइं वासेण विजाइं ण रजियइं ।
(भाग २, १४)

पुष्पदन्त सज्जन-दुर्जनका श्लेषमें इस प्रकार स्मरण करते हैं—
गो वज्जिएहिं णं पण इणेहिं सुरवर चवेहिं व णिग्गुणेहिं ।
महलिय चित्तहिं ण जरधरेहिं छिद्दण्वेसिहिं णं विसहरेहिं ।
जड वाइए हिं ण गय रसेहिं दोसायरेहिं णं रक्खसेहिं ।
आचक्खिय परपुट्ठी पलेहिं चरवइ णिंदिज्जइ हय खलेहिं ।
जो बाल वुड्ड संतोस हेउ रामाहिरामु लक्खण समेउ ।
जो सुगाइ कइचई विहियसेउ तासुवि दुज्जणु किं परिम होउ ।

यहाँ दुर्जनसे कविका अभिप्राय काव्यके दुष्ट आलोचकसे है । भरतके दोबारा अनुरोध करनेपर कवि कहता है–

वव गय विवेड ममि कमण काउ सुंदर पयेमि कि रमइ काउ ।
णिक्कारणु दारणु बद्धरोसु दुज्जणु ससहावे लेइ दोसु ।
(म० पु० १ पृ० ९)

अन्तमें कवि इन शब्दोंके साथ ग्रन्थ प्रारम्भ करता है—
लइ णिंदउ दुज्जणु मच्छरेण लइ कहमि कव्वु कि वित्थरेण ।
णायकुमार चरिउमे भी कविने चलते ढगसे यह उल्लेख कर दिया है (पृ० ५) ।

कनकामरका कथन है—
जइ दुज्जण वक्कुड मणि णिरुत्तु जइ जणवउ णीरसु मलिण चित्तु ।
(कर० च० पृ० ३)

कविका तात्पर्य उनसे है जो दिलमें खोटे हैं या उसके काव्यमें रुचि नहीं रखते । धनपाल इस प्रकार छींटाकसी करते हैं—

परिछिद्द सएहि वावारु जासु गुणवंतु कहिंमि वि कोवि तासु ।
अवरइ गवेसइ वर कईहि दोसह अब्भासइ महसईहि ।
एक्कोवि रयण सजण समत्थु एक्कु वि करइ वत्थु जि अनत्थु ।
अणु विणु वासइ दुव्वार वासु अप्पणउ ण कोहवि कहि वि तासु ।
णउ सक्कइ दिक्खिवि परहो रिद्धि णउ सहइ सउ रिसह गुण पसिद्धि ।
जगडतु ममइ सज्जणहविंदु विवरीउ निरंकुसु जिह गइंदु ।
दुव्वयण वियड्ढु एक्कुवि दुम्मइ सुयण सय
जो भक्खइ ससु तासु कहि मि किं होइ दय ।
(भवि० क० २)

यहाँ कविका अभिप्राय उन लोगोंसे है जो सामाजिक दृष्टिसे ईर्ष्यालु और दुष्ट हैं । रहिमानने स्पष्ट रूपसे तो सज्जन-दुर्जनका उल्लेख नहीं किया, केवल इतना ही सकेत किया है कि मूर्ख मेरे काव्यको पढनेमें असमर्थ है । सावयधम्म दोहाकार व्यंग्योक्तिमें यह कहता है—

दुज्जणु सुहियउ होउ जगि सुयणु पयासिउ जेण ।
अमिउ विसे, वासरु तमिण जिम मरगउ कच्चेण ।
मुनिराम सिंह यह कहते है—
भल्लाण वि णासति गुण जहिं सह संगु खलेहि ।
वइसाणर लोहहि मिलिउ पिट्टिज्जइ सुघणेहि ।
इन तरह एक-दो अपवादोंको छोडकर (प० सि० च०, जम० च०

आदि) प्राय. सभी रचनाओमे सज्जन-दुर्जनका उल्लेख है। दो-तीन कारणोसे इन कवियोको खलजनोकी यह शब्द-पूजा करनी पडी।

१. लोग उनकी कवितासे अरुचि रखते थे, क्योकि वह अपभ्रंश-मे थी।

२ कुछ लोगोका स्वभाव भी दुष्ट होता है। मुक्तक-कवि सामाजिक दृष्टिसे सज्जन-दुर्जनका स्मरण करते है। कवि तुलसीने जो सज्जन-दुर्जनका वर्णन किया है वह भी इन्ही दो कारणोसे, परन्तु वह रामभक्ति-विरोधी-को भी असन्त ही समझते जान पडते हैं।

गीत तत्त्व—मगलाचरणके अतिरिक्त स्तुति और वन्दना भी अपभ्रश प्रवन्ध-काव्योका आवश्यक अग है। शैली, स्वरूप और लक्ष्यकी दृष्टिसे ये गीत-काव्यके अधिक निकट है, यह अस्वाभाविक भी नही, क्योकि गीत कविता इस युगका प्रमुख तत्त्व थी। दक्षिणके नायम्बार और आलवारोकी भक्तिका गेय रूप गीतोमें ही था। सिद्ध कवियोके गीत पद मिलते है। आगे हमने यह बताया है कि अधिकाश अपभ्रश छन्द गीत तत्त्वसे प्रभावित हैं। गीतमूलक इन छन्दोकी लोकप्रियताका अनुमान इसीसे लग सकता है कि सस्कृत-कवियोने भी इसके आधारपर नये सस्कृत छन्द रचे। बाण भट्टने भाषा-कवि ईशानका उल्लेख किया है। डॉ० अग्रवालका अनुमान है कि यह लोकभाषामें गीतोकी रचना करनेवाला कोई कवि था (ह० सा० अ० २८)। सोमदेवने अपभ्रश छन्द-चतुष्पदी पद्धतिका आदिका खूब प्रयोग किया है। जयदेवका गीत-गोविन्द भी स्वय इस लोकगीत काव्य-परम्परासे प्रभावित है। प्रेमीजीने इस बातका सप्रमाण खण्डन किया है कि विमलसूरिका पउम चरिय रवि-षेणके पद्मपुराणकी नकल है। इसके विपरीत दूसरा पहलेसे प्रभावित है। लोकगीतोके तुकपर अध्यात्मपरक गीतोकी रचना करना भारतीय कवियोके स्वभावके बहुत अनुरूप है। भारतीय कवियोंके गीतोका भक्तिसे अविनाभावी सम्बन्ध रहा है। इन स्तुति और प्रार्थना-गीतोकी विशेषताएँ रामचरितमानसमें देखी जा सकती हैं। पउम चरिउमे राम जब वन जाते हैं तो जगह-जगह जिन-मन्दिरोमें प्रार्थना करते हैं। दूसरे काव्योमें भी यही क्रम है। रामकी वनयात्रा तो (प० च०) तीर्थयात्रा बन गयी है। इन गीतोकी शैलीमें विशेष अन्तर नहीं है। कही विरोध और श्लेष भी मिल जाता है। नीचे विषय और शैलीकी दृष्टिसे इनके कुछ नमूने दिये जा रहे हैं—

१ किसी स्तुतिमें जिनेन्द्रके लोकोत्तर और विकार-नाशक रूपका अनुभूतिमूलक चित्रण होता है—

जय णाह सव्व देवाहिदेव किय णाग नरेन्द्र सुरेन्द्र सेव ।
जय तिभुवण सामिय तिविह छत्त अट्ठ विह परम गुण रिद्धि पत्त ।
जय परम परपर वीयराय सुर मउड कोडि मणि घित्त पाय ।
जय सव्व जीव कारुण्ण भाव अक्खय अणत पायहल महाव ।

(प० च० १ पृ० ९)

२ किसी स्तुतिमें अलकृत शैलीमें कवि उपास्यका उल्लेख करता है—

जय अजर अमर पुर परमेसर जय जिण आइ पुराण महेसर ।
जय दयधम्म रयण रतनाकर जय अण्णाण तमोह दिवायर ।
जय वम्मह निम्महण महाउस जय कलिकोह हुआसणो पाउस ।
जय कसाय घण पलय समीरण जय माण इरि पुरदर पहरण ।

(प० च० १ पृ० २९)

३ किसी स्तुतिमें जिनेन्द्रपर शिवका आरोप है —

थुओ जिणणाहो विहूई सणाहो महादेव देवो ण तुगो ण देओ ।
ण देओ न सूल ण चाप ण झल ण कवालमाला ण दिट्ठी कराला ।
न गउरी ण मगा, ण चन्दो ण णागा ।

(प० च० २, २८४)

यह आरोप निषेधमूलक है ।

४ किसी प्रार्थनामें एक ओर उपास्यका महत्त्व है तो दूसरी ओर भक्तिकी दीनता —

मयत्तिणासी मवो सिवपयासी सिवो देव देवो तुम ताहि, दीण मम ।
णिग्गुणो णिद्धणो हुम्मई णिगृवणो ।

(म० पु० १ पृ० १२९)

५ शिवके अतिरिक्त दूसरे हिन्दू देवोंका आरोप —

जय सकर सकर विहिय सति जय सम्मह कुवलय विण्ण कति ।
जय जय गणेस गणवइ जगेर नय बम पयाहिय बभ चेर ।
वेयग वाइ जय कमल जोणि आइ वराह उद्धरिय खोणि ।
जय माहव तिहुयण माहवेस महु सूयण दुम्मिय मह विसेस ।

(म० पु० १ पृ० १८०)

६. किसी पार्थनामे कवि अपने शरीर, ऐहिक अस्तित्व, विद्या और कलाकी सार्थकता जिन-भक्तिमें ही समझता है –

णयणाइं ताइं दिट्ठोसि जेंहिं सो कंठु जेण गायउ सरेहिं।
ते धण्ण कण्ण जे पइं सणंति ते कर जे तुह पेसणु करंति।
ते णाणवंतु जे पइ मुणंति ते सुकइ सुयण जे पइ थुणंति।
तं कव्वु देव जं तुज्झ रइउ सा जीह जाइ, तुह णाव लइउ।

(म० पु० १ पृ० १७१)

७ शिव और जिनमे अभिन्नता। इसमें केवल आलंकारिक प्रदर्शन नही है, किन्तु उदारता भी लक्षित होती है –

जय भव, भवंत, जय दाणवंत जय गोरि रमण, जय सुविस गण।
जय तिउर डहण, जय मयण महण।

इसमे शिव और जिन समकक्ष हैं। वन्दना दोनोकी है, केवल श्लेपसे अर्थ बदलते हैं, मूल भाव नही।

८. कही-कही श्लेष, विरोध और यमककी शैली मिलती है –

वीरं अघोरं कयविहि घोर उवसम णिलय पसमियणिलय।
कंदरवाल कंदरणीलं।

(म० पु० २ सन्धि २)

इसके अतिरिक्त चारणगीतका नमूना भी है। रामने नर्तकके वेशमे अनन्तवीर्यके दरबारमें यह गाना गाया था –

जो परबल समुद्दे महणाइ जो परबल मियंके महणाइ।
जो परबल गयणेहिं चंदायइ जो परबल गहदे सीहायइ।
जो परबल रयणहिं हसायइ।

अपभ्रश प्रबन्ध-काव्योमे जहाँ अनुप्रेक्षाओ या विरक्तिके क्षणोमें नायकके आत्मचिन्तनका वर्णन है वहाँ भी गीततत्त्व समझना चाहिए। ऐसे प्रसगमें चिन्तककी दृष्टि अन्तर्मुखी और भावनामयी होती है।

अपभ्रश काव्योमें इस बातका उल्लेख है कि महापुरुषोके नामपर लोक-गीत उस समय प्रचलित थे। महापुराणमें कई जगह धवल गीतोका उल्लेख है। इनका विषय 'कृष्णका जीवन' था। कृष्णने बैलके रूपमें आये हुए अरिष्ट राक्षसको मारा था। उसीपर-से ये धवल गीत कहलाये। डॉ० वैद्यका कहना है कि महाराष्ट्रमें ये गीत 'ढवल गीत' के नामसे

प्रसिद्ध है। आज मराठीमें भी ये मिलते हैं। (म० पु० ३ पृ० ३०५)। करकण्ड चरिउ में मदनावली करकण्डुके गीत सुनकर ही उसपर मुग्ध हो उठी थी। स्वयंभू और पुष्पदन्त नाना छन्दोंमे निबद्ध स्तुतिका निर्देश करते है (म० पु० १, १६८)। आचार्य हेमचन्दने लिखा है कि धवल उसे कहते है जिसमें वीर पुरुषकी प्रशंसा की जाती है। इस कीर्तिगानमे ८, ६ या ४ चरण होते है (अ० पृ० ३७)। यह धवल जातिवाचक भी है और जब रासावलय, उत्साह वदनक आदि छन्दोंमें राज-स्तुति की जाती है तो वे वदनधवल, उत्साहधवल आदि नामसे पुकारे जाते है और इन्हीमें जब देवताओंकी स्तुति की जाती है तब वे 'फुल्लडक' कहलाते हैं। कही-कही जब बहुत हलकी भाषामें लयके साथ अपभ्रंश कवि वर्णन करते है तो लगता है जैसे तत्कालीन लोकगीतोका रूप उनके मनमें है। रावण सीता-को देखकर कहता है –

थीयण सारी णयण पियारी चडय गोरी हियय पियारी।
सेल सिहल सचालण चडहि मा अवरडनजइ सुय डढहिं।

(म० पु० २, ४०५)

चित्रपटमें श्रीमतीका रूप देखकर लोग कह उठते हैं—

केण भणिया, पुत्तलिया लय कोमलिया वण्णुज्जलिया
ऐसा बाला, सामलिया णामे ललिया अलिकोंतलिया

(म० पु० १, ३६२)

या अमृतवतीका रूप चित्रण—

उज्जलियाए पत्तलियाए सामलियाए कोमलियाए
मुहललियाए पिय महिलाए सह णिव मामो सह विलसामो
सह भुजामो सह कीलामो

(जस० च० २८)

इस प्रकार भारतीय साहित्यमें लोकगीतोंकी अविच्छिन्न परम्परा देखी जा सकती है।

अनुश्रुतियाँ और अवान्तर कथाएँ—

वस्तुतत्वके विवरणमें यह हम देख चुके है कि अपभ्रंश प्रबन्ध कवि अनुश्रुतियो और अवान्तर कथाओंका भी उपयोग करते है। सुविधाके लिए हम यहां मुख्य-मुख्य कथाओंका उल्लेख कर रहे है। यह उल्लेख प्रत्येक काव्यके अनुसार ही है।

महापुराण

गंगाकी उत्पत्ति—हिन्दू पुराणके अनुसार भगीरथने अपने पुरुखोके उद्धारके लिए घोर तप किया। उनके तपके प्रभावसे ब्रह्माने गगाको मर्त्यलोक भेजा, सबसे पहले वह शिवजीके जटाजूटपर उतरी, उसके बाद धरतीपर। जैन पुराणमें गगाकी उत्पत्तिका दूसरा ही कारण दिया है। उसके अनुसार अयोध्याके राजा सगरके साठ हजार पुत्र कैलासपर्वतपर गये, वहाँ उन्होने जिन-मन्दिरकी सुरक्षाके लिए उसके चारो ओर गगाका पानी बहानेके लिए खाई खोदना शुरू किया, परन्तु धोखेसे उनका दण्डरत्न पातालमें जाकर फणीन्द्रसे टकरा गया। नागराजकी क्रुद्ध फूत्कारसे सब जलकर खाक हो गये, केवल भीम और भगीरथ बच गये।

त्रिविष्टप् और हयग्रीव—जैन अनुश्रुतिमें वासुदेव और प्रति-वासुदेव माने गये है। त्रिविष्टप्का भाई विजय बलभद्र था। उनका पिता पोदनपुरका राजा दण्डधारी था। एक बार हयग्रीवने पोदनपुरपर हमला किया, उसके दूतने सन्धिमें दण्डधारीकी लडकी माँगी। राजा तैयार था, पर भाइयोने मना कर दिया, अन्तमें हयग्रीव मारा गया (स० २)।

अमोघजीव ब्राह्मण—तपसे भ्रष्ट होकर अमोघजीव कुण्डल देश पहुँचा। वहाँ उसने निमित्त विद्याका अध्ययन किया। उसके गुरु बृहस्पति-के शिष्य थे। वहाँसे वह अपने मामा सोमशर्माके यहाँ गया। उसने लडकी और धन इसे दे दिया, परन्तु धीरे-धीरे उसका धन पूरा हो गया। पत्नीने उसे उद्यम करनेके लिए कहा, इतनेमें एक चिनगारी उसके सिर-पर गिरी, लेकिन पत्नीने जल डालकर उसे बुझा दिया। वह राजा श्रीविजयके पास गया। उसने कहा, 'तुम्हारे ऊपर बिजली गिरेगी और मेरा रत्नोसे अभिषेक होगा।' यह सुनकर राजा सुरक्षाके लिए समुद्रमें घुस गया, लेकिन ठीक समय एक मच्छने उसे उछाल दिया और उसी समय उसपर बिजली गिर पडी, वह मर गया। बादमें वह राजा अनेक योनियोमें घूमता फिरा।

राजा अरविन्द—अरविन्द एक राजा था। उसके दो पुत्र थे—कुरु-विन्द और हरिश्चन्द। एक दिन राजाके शरीरमें जलन हुई। वैद्योने कहा कि पशुरक्तमें नहानेसे यह ठीक होगी। राजाने पुत्रोंसे इसका प्रबन्ध करनेके लिए कहा। पुत्रोने बनावटी रक्त ला दिया। राजाको जब यह मालूम हुआ तो वह उन्हें मारने दौडा, परन्तु वह अपनी ही तलवारपर गिर पडा और कटकर मर गया।

कपिल मतकी उत्पत्ति—भरतने ऋषभ जिनसे बहुत-सी बातें पूछीं। उन्होंने उन सबका उत्तर देकर कहा कि मेरे समान २३ तीर्थंकर और होंगे। अन्तिम तीर्थंकर मेरा नाती मारीचि होगा। यह सुनकर मारीचि बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सांख्य मतकी स्थापना कर दी। सांख्य-सूत्र बनाये, उनकी व्याख्या की। कपिल उसका प्रधान शिष्य था। बादमें अनेक योनियोंमें भटककर वह महावीर बना।

हारकी चोरी—राजा गुणपालकी दो रानियाँ थीं – कुबेरश्री और सत्यवती। सत्यवतीके दो भाई थे – पृथुश्री और वसु। एक दिन कोतवाल, मन्त्रीका लड़का और राजाका दासीपुत्र, एक वेश्याके यहाँ गये। संयोगसे सत्यवतीका भाई पृथुश्री भी वहाँ पहुँचा। वेश्याने उससे हार लानेको कहा। वह बहनका हार चुराकर ले आया। राजाने मन्त्रीसे हारका पता लगानेको कहा। मन्त्रीने दासियोंको भेजकर वेश्यासे पुछवाया। उसने हाथ-पैर पीटकर मंजूषा खोलकर दिखा दी। अन्तमें राजाने सबको सजा दी।

सुकेतु और नागदत्त—ये दोनों किसान थे। नागदत्तने गाँवके बाहर एक नागमन्दिर बनवाया। एक दिन सुकेतुकी पत्नी भोजन लेकर खेतपर गयी। रास्तेमें उसने वह भोजन मुनिको खिला दिया। यह देखकर देवोंने रत्नोंकी वर्षा की। नागदत्तने उन रत्नोंपर अपना अधिकार जमाया, क्योंकि वे उसकी सीमामें बरसे थे, लेकिन सुकेतुका कहना था कि वे मेरी पत्नीके आहार-दानके कारण बरसे। निर्णयके लिए नागदत्त रत्नोंको राजाके पास ले गया, लेकिन रास्तेमें वे ईंट बन गये, फलतः उसने सुकेतुको ही वे रत्न वापस कर दिये। बादमें उसने बदला लेना चाहा, परन्तु एक देवने आकर उसे मना कर दिया।

राजा वसु—ब्राह्मण कदम्बके तीन शिष्य थे – राजा वसु, नारद और पर्वतक। अन्तिम उसका बेटा था। बहुत समय बाद नारद अपने गुरुपुत्र और सहपाठीसे मिलने आया। उस समय वह वेद पढ़ा रहा था। 'अजैर्यष्टव्यम' का उसने अर्थ किया, 'छागसे बलि देनी चाहिए।' नारदने अर्थ किया, 'तीन सालके पुराने धानसे बलि दी जाये।' इसपर दोनोंमें वाद-विवाद हो गया। निर्णयके लिए वे दोनों राजा वसुके पास पहुँचे। वह सत्यवादी था, लेकिन पर्वतकसी माँ उससे पहले गयी। उसने गुरुदक्षिणामें राजासे यही कहा कि आप मेरे बेटेकी बातका समर्थन करें। राजाने ऐसा ही किया, परन्तु झूठ बोलनेसे ही उसका आसन धँस गया, वह नरकमें गया।

पिप्पलाद – काशीमें पण्डित सोमशर्मा थे। उनकी दो लडकियाँ थी – सुभद्रा और सुलसा। दोनो विदुषी थी। याज्ञवल्क्यने सुलसाको हरा दिया। वह उसपर आसक्त हो गयी। विवाहके बाद उनकी सन्तान हुई, पर उसे वे पीपलके पेडके नीचे डालकर चले गये, तब बडी बहन सुभद्रा उसे उठा लायी और पाल-पोसकर बडा किया, बडा होनेपर वह अपने पिताके पास आया और उन्हे पराजित किया। उसने उन्हें अपने मतमें दीक्षित किया। पीपलके पेडके नीचे उत्पन्न होनेसे उनका नाम पिप्पलाद पडा।

परशुराम – कोशलपुरका राजा सहस्रबाहु था और कान्यकुब्जका पारद। इसने अपनी लडकी मृणालवती सहस्रको ब्याह दी। उससे कृतवीर्य उत्पन्न हुआ। पारदकी बहन श्रीमतीसे जमदग्नि पैदा हुआ। बचपनमें उसकी माँ मर गयी। अत. वह साधु बन गया। एक बार दो देवता उसे समझाने आये – एक जिनभक्त था, दूसरा शिवभक्त। पहले वे आपसमे विवाद करने लगे फिर पक्षी बनकर जमदग्निकी दाढीमें घुस गये। वे आपसमें कुछ कहने लगे, इसपर जमदग्नि भडक उठा। वे भाग गये। पर एक जाते-जाते यह कह गया कि वैदिक धर्मके अनुसार बिना पुत्रके मुक्ति सम्भव नही। अब उसे विवाह करनेकी सूझी, पर कोई उसे लडकी देनेको तैयार नहीं हुआ। अत उसने सबको कुब्जा होनेका शाप दे दिया। इससे उस नगरका नाम ही कान्यकुब्ज हो गया। अन्तमें रेणुकासे उसका विवाह हुआ। उससे दो पुत्र हुए – इन्द्रराम और श्वेतराम। मामा॰ने उन्हे कुछ धन भी दे दिया, उनके पास कामधेनु थी। वे कुटियामें रहते थे। एक दिन राजा सहस्रवीर्य उनके यहाँ आया। उसने वह गाय माँगी। ऋषिने मना कर दिया। वह छीनकर ले गया। जमदग्नि इस लडाईमें मारा गया। जब पुत्र बाहरसे आये तो माँने सब हाल उन्हें सुनाया। फिर क्या था, परशुरामने साकेत जाकर क्षत्रियोका संहार कर दिया। इस बार उसने ऐसा किया कि वह स्वय सार्वभौम राजा बन बैठा। उसने सारी धरती ब्राह्मणोको बाँट दी। ब्राह्मणोमें पशुवध आदि बुरी बातें तभीसे आयी। बादमें सुभीम चक्रवर्तीने उसका अन्त कर दिया।

हिन्दू परम्पराके अनुसार जमदग्निने इक्ष्वाकुवंशकी राजकुमारी रेणुकासे विवाह किया था। परशुराम उसीसे उत्पन्न हुए और अर्जुन कृतवीर्य हैहय जातिका था। भृगु लोग आकर अनूपदेशमें बस गये थे। हैहयो और भृगुओमे मित्रता थी, पर कृतवीर्य इनकी उपेक्षा करने लगा – बाधम

जला दिये, गायें छीन ली। जमदग्निको मार दिया, तब परशुरामने इसका बदला लिया। राजा चित्ररथमें आसक्त होनेपर पिताके कहनेपर उसने माँको मार डाला।

मुख्य घटनामें अन्तर नहीं है। प्रायः यह देखा गया है कि जैन कथाकार धार्मिक रंग देनेके लिए कभी-कभी हिन्दू पौराणिक कथामें जोड़-तोड़ कर देते हैं।

नारदकी बुद्धिमानी – नारद बहुत बुद्धिमान् था, अतः गुरु पदम्न उसपर प्रसन्न थे, पर गुरुपत्नी हमेशा अपने बेटे पर्वतकका पक्ष लेती। एक दिन गुरुने पर्वतकसे कहा, 'जाओ, इस मेषके कान ऐसी जगह काटना जहाँ कोई न हो'। वह गया और कान काट लाया। दूसरे दिन उन्होंने नारदसे यही बात की, पर उसने आकर बताया, 'ऐसी जगह है ही नहीं जहाँ कोई न हो'— यह सुनकर गुरुपत्नी चुप रह गयी।

पउम चरिउ

अरणागम नगरमें राम-लक्ष्मण पहुँचे। वे एक गरीब कपिल ब्राह्मणकी कुटियामें जाकर पानी पीने लगे। लौटनेपर वह ब्राह्मण खूब बिगड़ा। लक्ष्मणको क्रोध आ गया, पर रामने रोक दिया। वहाँसे चलकर वे एक वटवृक्षके नीचे बैठे, इतनेमें वर्षा आ गयी। जब यक्षको उनके आनेका पता चला, तो उसने रामपुरी बसा दी। वहाँ रामने खूब दान किया, पर उन्हीं लोगोंको जो जिनमन्दिरके दर्शन करके आते थे। कपिलने भी ऐसा किया।

करकंड चरिउ

चण्डाल विद्याधर कुमार करकण्डुको चार कथाएँ सुनाता है—

१ मन्त्रकी शक्ति—ब्राह्मण और वैश्य धन कमाने गये। उन्हें विद्याएँ सिद्ध थीं। लौटते समय ब्राह्मणकी ससुराल मिली, दोनों वहाँ ठहर गये, परन्तु वहाँके राजाकी लड़कीको एक राक्षस उठाकर ले गया था। इन दोनोंने विद्याके बलसे राक्षसको पराजित किया, लड़की राजाको वापस कर दी।

२ मन्त्रहीन—बनारसमें दो मूर्ख मित्र रहते थे। वे धन कमाने परदेश गये। रास्तेमें उन्हें एक राक्षस मिला, देखकर वे डर गये। वह दोनोंको पकड़ ले गया, बादमें एक धार्मिकने उन्हें छुड़ाया। अतः मन्त्रहीनकी संगति करना ठीक नहीं।

३ नीच संगति—सुदत्त नामका नाई था। [illegible]

तुम बिना ओठ छुए यदि यह गाथा पढ़ दो तो धरती दूँगा, उसने गाथा पढ़ दी। राजाने भी धरती दे दी। बनियेका सम्बन्ध एक दासीसे हो गया। उसे गर्भ रह गया। उसने राजाके मोरका मांस खानेकी इच्छा व्यक्त की। बनियेने राजाका मोर छिपाकर दूसरे जीवका मांस दे दिया। जब मोरकी तलाश हुई तो दासीने चुगली कर दी। राजाने वधकी आज्ञा दी, परन्तु बनियेने ठीक समय मोर लाकर अपने प्राण बचा लिये।

४. सत्संगति—बनारसका राजा अरविन्द शिकार खेलने गया। भूखे-प्यासे उसे एक बनियेने तीन अमृत फल दिये। घर आकर राजाने उसे अपना मन्त्री बना लिया। एक दिन उसने अपनी प्रेमिका वेश्यासे कहा कि राजपुत्रको मारकर ये आभूषण लाया हूँ। राजाने अपने पुत्रकी खोज की। जब नहीं मिला तो मुनादी पिटवा दी। वेश्याने राजाको मन्त्रीका नाम बता दिया। राजाने मन्त्रीको बुलाकर कहा, 'मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ, तुमने जो तीन फल दिये उनमें-से एकका फल मैंने चुका दिया।'

नरवाहनदत्त—विद्याधरने वियोगी करकण्डुको समझानेके लिए सुनायी थी—

वह वत्स देशका राजा था, उसकी पत्नीको एक विद्याधर हर ले गया। वह मरनेपर उतारू थी, किन्तु किसी विद्याधरीसे उसकी भेंट हुई। इसका प्रेमी किसी ऋषिके शापसे तोता बन गया था, पर उसने यह भी बता दिया था कि नरवाहन और रतिविभ्रमाका विवाह होनेपर उसका पति ठीक हो जायेगा। इसी बीच एक विद्याधरी रतिविभ्रमाका चित्रपट लेकर आयी। उसने बताया कि रतिविभ्रमा नरवाहनदत्तके लिए छटपटा रही है, किसी अपहृताने उसे राजाका नाम बता दिया। यह सुनकर विद्याधरी राजा नरवाहनको विजयार्धपर उठा ले गयी, वहाँ उसका विवाह रतिविभ्रमासे हो गया। विद्याधरीका पति तोतेसे फिर विद्याधर हो गया। नरवाहनको खोयी हुई पत्नी भी मिल गयी। यह कहानी गुणाढ्यकी बृहत्कथासे ली गयी है।

माधव और मधुसूदन—नरवाहनके पिताकी मृत्यु हो गयी। वह दुःखी था। एक मुनिने उसे समझानेके लिए यह कथा सुनायी। माधव और मधुसूदन दो भाई थे। माधव गरीब हो गया, अपनी पत्नीके कहनेपर वह बड़े भाईके पास गया। भाईने उनका ख़ूब आदर किया, पर वह उसके वैभवको सहन नहीं कर सका। जंगलमें जाकर उसने इस संकल्पसे

तप करना शुरू कर दिया कि अगले भवमे मै इसका लडका बनूँ, और शीघ्र मरकर इसे दु ख दूँ। दूसरे जन्ममें ऐसा ही हुआ भी – वह बेटा बना और मर गया, बापको भी खूब दु ख हुआ, अत वियोगमे शोक करना ठीक नही।

तोतेकी कहानी–उज्जैनके राजा अरिदमनने एक ग्वालेसे सुआ खरीदा। वह असलमे विद्याधर था, पर तोता बनकर राजाके हाथ बिक गया था। उसने राजाको मन्त्रीका घोडा खरीदनेकी सलाह दी। उसने घोडा ले लिया, जैसे ही वह उसपर बैठा त्योही घोडा उसे ले उडा। तोता भी साथ हो लिया। एक समुद्र-तटपर उन्होने कुछ कुमारियोको नहाते देखा। उसने रत्नलेखासे विवाह कर लिया। कई दिन बाद वे दोनो नावसे लौट रहे थे कि अचानक तूफान आ जानेसे उनकी नाव किसी उजडे द्वीपमे जा लगी। रातमे वे जब सो रहे थे तब कोई नाव उडा ले गया। तोतेके कहनेसे उन्होने छोटी डोगी बनायी, चलनेपर वह भी तूफानमें फँस गयी, फलत सब लोग बिछुड गये। रानी खम्बायतमे एक वेश्याके घर ठिकाने लगी। उसने यह घोषणा कर दी कि जो मुझे जुएमे जीतेगा, उसे अपना पति मानूँगी। किसी तरह यह खबर तोतेने अरिदमनको दी, उसने आकर रानीको जुएमे हरा दिया। परिचय होते ही वे एक हो गये और इसी समय घोडा भी उन्हे मिल गया। सब लोग घर आ गये।

तोतेकी आत्मकहानी—ग्वाला जब तोतेको बेचने ले जा रहा था, रास्तेमे एक वेश्या किसी सेठसे कह रही थी कि तुम धन दो, क्योकि सपनेमें तुम्हारे लडकेको अपनी लडकीके साथ देखा है। तोतेने बीचमे पडकर सेठसे धन और दर्पण मँगाया। उसने दर्पणके आगे धन रख दिया, उसने वेश्यासे प्रतिबिम्बका धन लेनेको कहा, तब वह बोली, 'कही छायाका धन लिया जा सकता है?' तोतेने तपाकसे कहा, 'क्या कभी सपनेकी बात भी सच हुई है?' वेश्या चुप हो गयी। बादमे राजाको तोतेने अपना यह परिचय दिया, 'हम ५०० तोते थे, एक बार किसी भीलने हमें फँसा लिया, पर हम लोग मरे हुए बन गये। वह भी मरा समझकर छोड-कर चलता बना। मैं बादमें तपस्वियोके बाडेमे पहुँचा, वहाँ नाना पुराणोका अध्ययन किया।'

स्त्रीरूपका परिवर्तन—रानी सुमित्रा उपवास कर मरी। अगले भवमे ब्राह्मणके घर लडका हुई। उसका पिता बचपनमें मर गया। लडका

आवारा हो गया। वह एक दिन किसी पुराने मन्दिरमें गया, उसे देखकर विद्याधरियाँ वहाँसे भाग गयी। उनका एक चीर उसके हाथ लगा। उसने सेठको बेचा, सेठने राजाको। राजाने उसकी जोडका एक और माँगा। ब्राह्मण कुमारने किसी तरह लाकर दूसरा चीर दे दिया। राजा उसपर खुश हो गया, परन्तु देखकर उसका मन्त्री कुढ गया, उसने राजासे कहकर उससे शेरनीका दूध और बोलता हुआ पानी मँगवाया। कुमारने राक्षसीकी सहायतासे ऐसा कर दिया; लेकिन राजाने मन्त्रीको निकालकर उसे मन्त्री बना दिया (यह कथा भावचन्दके शान्तिनाथ चरितमे भी मिलती है)।

सर्वश्रेष्ठ कौन—पूर्व भवमें करकण्डु ग्वाला था। एक बार उसने तालाबसे कमलका फूल तोड लिया। तब एक देवने कहा, 'तुमने अच्छा नही किया। अब यह किसी सर्वश्रेष्ठको ही चढाना।' ग्वालाने अपने सेठको वह फूल दिया, उसने राजाके पास भेज दिया, राजाने जैन मुनिके पास। मुनिने कहा, 'जिनेन्द्रको चढा, क्योंकि वही सबसे बडे है।' (भर्तृहरिके अमृतफलसे यह समानता रखती है)

शुभ शकुन—यह कथा विद्याधरने करकण्डुको सुनायी – 'किसी ब्राह्मणको मुनिराजके दर्शन हुए, वह शकुन समझकर नाचने लगा। इतनेमे एक राजपुत्र आया, उसने अपनी घोडी और कीमती वस्त्र देकर शकुनका फल ले लिया। आगे चलनेपर उसे सुदर्शना देवी मिली। रास्तेमे एक अन्धकूपमें साँप और मेढक लड रहे थे। कुमारने अपने शरीरसे काटकर एक टुकडा उसमें फेंक दिया। वे दोनो आदमी बन गये। तीनो जा रहे थे। इतनेमे एक राजाने किसी स्त्रीको देखा, युवकको कुएँमें ढकेल उससे प्रेम करना चाहा, पर उसे साँपने काट खाया। उस स्त्रीने कुमारको कुएँसे निकाल लिया। बादमे उस कुमारको राजगद्दी मिली, देवी सुदर्शना भी शकुनका फल देकर चली गयी।

प्रकार और विशेषताएँ—ऊपरके वस्तु-परिचय और उसके सघटनको देखते हुए स्पष्ट है कि अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यके तीन प्रकार है—१ पौराणिक चरित-काव्य, २ धार्मिक चरित-काव्य, और ३ रोमाण्टिक चरित-काव्य। पहले प्रकारमे नायक तो पौराणिक होता है परन्तु कविकी दृष्टि भी पौराणिक होती है। पउम चरिउकी तरह रामचरितमानस भी चरित-काव्य है। मानस वह इसलिए है क्योंकि उसमें कविका एक विशेष

दार्शनिक लक्ष्य निहित है। धार्मिक चरित-काव्योमे पौराणिकता कम होती है, धार्मिकता अधिक, जैसे जसहर चरिउ या भविसयत्त कहा इत्यादि। रोमाण्टिक चरितोमे काल्पनिक या अतिरंजित कथाओके अतिरिक्त नायकके धार्मिक और रोमाण्टिक साहसपूर्ण कार्योका उल्लेख रहता है। कभी-कभी इनकी कथावस्तु भी ऐतिहासिक व्यक्तिसे सम्बन्ध रखती है, परन्तु उसमे इतिहास खोजना व्यर्थ है। जायसीका पद्मावत भी रोमाण्टिक चरित काव्य है, शुक्लजीने उसके उत्तरार्धको ऐतिहासिक माना है। मेरा कहना यह है कि जायसीको इतिहासकी जानकारी हो सकती है, पर ऐतिहासिक काव्य लिखना उनका लक्ष्य नही था, अपने काव्यके बहुत-से उपादान लोक-परम्परासे उन्होने ग्रहण किये। काव्यमें लौकिक काल्पनिक घटनाएँ तो हैं ही, परन्तु रतनसेनका जोगी बनना, समुद्र पार जाना, नाव डूबना, समुद्रका उपहार देना आदि सभी प्रसगोपर स्पष्ट ही पिछली काव्य-परम्पराका प्रभाव है। सूफी दृष्टिमे चाहे वह धार्मिक काव्य समझा जाये, पर भारतीय दृष्टि उसे रोमाण्टिक ही समझेगी। जायसी काव्यमें प्रेमकी पीर व्यक्त करना चाहते थे, उनके सामने समस्या कथानककी थी। फारसकी कथा यहाँ लोकप्रिय न होती, और हिन्दू पौराणिक कथा वे ले नही सकते थे। बस रतनसेन और अलाउद्दीनको पकड लिया, शेष तत्त्वोको भी अपनी कल्पना और धार्मिक भावनाका रग देकर अपना लिया। दो बातोके लिए जायसीका विशिष्ट महत्त्व है — १ चलते कथानकमें आध्यात्मिक सकेत और २ प्राकृतिक सौन्दर्य — व्यापारो-द्वारा अव्यक्तकी प्रतीति। पर ऐसे सकेत आलोच्य काव्योमे भी है। लौकिक वर्णनमे आध्यात्मिक सकेत कर देना अपभ्रश कवि भी जानते हैं। जैसे जसहर चरिउ पृ० २६ मे नायक पत्नीके शयनकक्षमें जाते हुए सात भूमियोका उल्लेख करता है।

पढमुज्जल रयणुज्जलउ महि ण गयण विसुद्धि

३ ४, ५, और ६ के वाद वह ७वी भूमिपर कहता है —

तहि मदिरे अह सुदरे सत्तवि भूमिउ दिट्ठउ

महु कपइ मई एवहिं मइ ण णरए सु पइट्ठउ

सपत्तउ अट्टमु धरणियलु मह तो वि ण णट्ठउ कम्ममलु।

यह प्रवचनाका प्रसग है, जायसीने प्रेमप्रसगमें वर्णन किया है। लेकिन आध्यात्मिक सकेत दोनोमें है। सात खण्ड या भूमिके महलका वर्णन काव्यकी प्राचीन परम्परा थी। प्रकृति-चित्रणमें भी ऐसे सकेत मिलते है (देखें,

प्रकृति-चित्रण) आलोच्य चरित-काव्योका आध्यात्मिकता, धार्मिकता और भक्तिसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध हिन्दी काव्योमे भी है। हाँ, इनमें प्रतीक योजना अवश्य नयी है, जो शायद नाटकोसे ली गयी होगी। जहाँ-तक हिन्दी रासो काव्यका प्रश्न है, यह अवश्य विचारणीय है, पर हमारी धारणा यह है कि उसे चरित-काव्यके अधिक निकट होना चाहिए। उसमें वक्ता-श्रोता शैली, घटनाओका मिश्रण, युद्ध और प्रेमके प्रसग आदि बातें अपभ्रश चरित-काव्यके समान हैं। छन्दोमें उसका नवीन प्रयत्न है। उसकी कडवकबद्ध रचना नही है। ऐतिहासिक व्यक्तिपर आधारित होनेसे उसमें प्रश्नोत्तरकी पौराणिक शैली न होकर लौकिक शैली है। सस्कृत कथा-साहित्यमें यह शैली जानी-पहचानी थी। 'रासो' नाम देखकर उसे गेय-मान लेना ठीक नही, क्योकि सन्देश रासक भी रासक है, पर हम उसे गेय नही मानते, अपभ्रश चरित-काव्योकी उक्त दोनो धाराओमें मुख्य तीन वस्तुएँ हैं—युद्ध, रोमान्स और धर्म। फिर ये काव्य राज्यभक्तिसे दूर थे। परन्तु रासोमें धर्म नही है, युद्ध और रोमान्स ही है और राजस्तुतिसे प्रेरित है। किसी-किसी रासोमें केवल रोमान्स ही है, काव्यकी पुरानी रूढियाँ उसमें है ही, पौराणिक कथावस्तु छूट जानेसे उसमें भक्ति तो नही है पर उसका स्थान राजभक्तिने लिया। वैसे रासोकार चन्दबरदाई भी उसे 'धर्मकहानी' कहता है। पृथ्वीराज रासोके वर्तमान सन्दिग्ध रूप को लेकर उक्त तथ्योके प्रकाशमें इतना ही कहा जा सकता है। तुलसीके विचारसे यह 'प्राकृत जन गुण गान' था।

रामकथाकी धाराएँ

रामकथा—रामकथा भारतीय साहित्य और जीवनकी सबसे अधिक लोकप्रिय कथा है। हिन्दू, जैन, बौद्ध सभी मतोमें इस कथाका अपने ढगसे वर्णन मिलता है। इसलिए उसके कई रूप हैं। इतना ही नही, एक ही सम्प्रदायमें उसके दो-दो रूप मिलते हैं।

रामकथाके उपलब्ध रूपोमें वाल्मीकिकी रामकथा पुरानी मानी जाती है। उसके बाद अन्य हिन्दू पुराणोमें बहुत हेर-फेरके साथ वह अकित मिलती है (वि० ध० द० ८०)। आदि कविकी रामकथा प्रसिद्ध ही है। अत यहाँ उसके उल्लेखकी आवश्यकता नही। किन्तु अद्भुत रामायणमें सीताको जनककी लड़की नही माना गया। उसके अनुसार दण्डकारण्यमें गृत्समद ऋषि थे। उनकी पत्नी लक्ष्मी सुन्दर कन्या चाहती थी। पतिने दूधको अभिमन्त्रित करके घडेमें रखना शुरू कर दिया। एक दिन रावण

आया और कर रूपमें ऋषिके खूनसे उस घडेको भरकर लंका ले गया। उसने मन्दोदरीसे कह दिया कि इसमें विष है पीना नही। रावण उसकी उपेक्षा करता था इसलिए उसने उस घडेका रक्त पी लिया। वह गर्भवती हो गयी। रावणसे यह बात छिपानेके लिए वह विमानमें बैठकर कुरुक्षेत्र गयी और वहाँ सीताको गाडकर चली आयी। हल जोतनेमें वह लडकी जनकको मिली। विष्णुपुराण (४-५) के अनुसार भी जनकको हल चलानेमें सीता मिली। बौद्ध-परम्परामें राम बुद्धका ही अवतार था। दशरथ जातकके अनुसार दशरथकी सोलह हज़ार रानियाँ थी। मुख्य रानीसे राम-लक्ष्मण और सीता उत्पन्न हुई। दूसरीसे भरत हुआ, वह अपने बेटेको राज्य दिलाना चाहती थी। दशरथने रामको बारह वर्षका वनवास दे दिया। तब राम हिमालय चले गये, नौ वर्ष बाद दशरथकी मृत्यु हो गयी, भरत रामको लेने गये। वह नही आये तो उनकी खडाऊँ रखकर राज्य चलाने लगे। अवधिके बाद रामने लौटकर सीतासे विवाह किया और राज्य-संचालन अपने हाथमें ले लिया।

जैन-परम्परामें रामकथाकी दो धाराएँ हैं। इसमें स्वयभूकी रामकथा अधिक लोकप्रिय है। वह आदिकविकी रामकथासे मिलती-जुलती है। पुष्पदन्तकी रामकथामें विशेष बातें ये हैं—

१ सीता रावणकी लडकी थी। जनकने उसे पाला-पोसा (यह बात अद्भुत रामायणसे मिलती है, पर कारण भिन्न है)।

२ वर-याचना, वनवास आदिका उल्लेख नही, रावण सीताको चित्रकूटके विहार वनसे उठाकर ले जाता है।

३ राम सोनेके मृगका पीछा करते है। स्वयभू युद्धमें सिंहनादकी कल्पना करते हैं।

४ सीताके आठ पुत्र थे, पर उनमें लव-कुशका नाम नही है।

५ युद्ध-विजयके बाद दिग्विजय करते हुए राम अयोध्या लौटते हैं।

पहली धाराके पुराने कवि विमलसूरि हैं। उनके बाद रविषेण और फिर स्वयभू। दूसरी धाराकी पुरानी रचना गुणभद्रका उत्तरपुराण है। कवि परमेश्वरकी गद्यकथाके आधारपर उन्होंने इसकी रचना की है, लेकिन यह गद्यकथा अब उपलब्ध नही है। पुष्पदन्तने रामायणकर्त्ताके रूपमें स्वयभूकी प्रशंसा की है, परन्तु कथा उन्होंने उत्तरपुराणसे ही ली।

रामकथाकी इन धाराओंका तुलनात्मक विवेचन करनेसे हम इन निष्कर्षपर पहुँचते हैं—

१. आरम्भमे रामकथाका रूप बहुत छोटा रहा होगा। केवल मुख्य पात्र घटनाएँ ही होगी।
२ वह एक लोकप्रिय किन्तु वास्तविक घटना थी।
३ सम्प्रदायोने अपने ढंगसे जोड-तोडकर उसके आधारपर काव्य लिखे।
४. सीताके जन्मको लेकर दो मत थे, एक मत उसे जनककी पुत्री मानता है, दूसरा किसी-न-किसी रूपमें रावणकी लडकी मानता है।
५ कुछ दशरथको काशीका मानते है और कुछ अयोध्याका।
६ रामके वनवास, विवाह और सन्तान आदिपर मतभेद है। पर सीता रामकी पत्नी अवश्य थी, यह सब मानते है।
७. राम-रावणको हिन्दू-जैन दोनो ही मानते हैं।
८. हिन्दू पुराणके अनुसार राम विश्वामित्रकी रक्षा करने गये। पुष्पदन्तके अनुसार जनकके यज्ञकी रक्षा करने गये, पर उन्होने यज्ञसे उन्हें विरत कर दिया। स्वयभूके अनुसार राम भीलोसे जनकपुरीको बचाने गये।
९. हिन्दू लेखक दशरथकी मृत्यु वनवासके समय मानते हैं, जैन बौद्ध-बादमें भी उनका जीवित रहना मानते हैं।
१०. तुलसी रामको अवतार मानते है, परन्तु जैनोके अनुसार उन्होने तप करके मोक्ष पाया।
११ हिन्दू उन्हें शिवभक्त मानते हैं, जैन जिनभक्त।

खण्डकाव्य

इसके अन्तर्गत केवल सन्देश रासक ही उपलब्ध है। यह सुखान्त विप्रलम्भ प्रधान खण्डकाव्य है। इसमें कुल तीन प्रकाश हैं। पहलेमें अपभ्रंश काव्य-रूढियोका अनुकरण है। वास्तविक घटनाका प्रारम्भ दूसरे प्रकाशसे होता है – विक्रमपुरकी एक वियोगिनी अपने पतिकी बाट जोह रही थी। इतनेमें किसी पथिकको देखकर वह अस्त-व्यस्त हो उठी, किसी तरह अपनेको सँभालकर वह करुण स्वरमें पथिकसे बोली, 'मैं कुछ कहना चाहती हूँ। मेरी बात सुन लो।' राहगीरने चौकस होकर उसकी ओर देखा। उसने आठ भाषाओमें उस रूपसीका नखशिखवर्णन किया, सुनकर वह लजा गयी। फिर नायिकाके पूछनेपर उसने आलंकारिक भाषामें कहा कि मैं मुलतानसे एक लेखपत्र लेकर खभायत (स्तम्भतीर्थ) जा रहा हूँ।

उसका पति भी इसी स्थानको गया था, सुनकर उसने ठण्डी सांस ली, और अपना सन्देश कहना शुरू किया—

"सबसे पहले वह अपने हृदयको कोसती है कि प्रियवियोगमे फट क्यो नही गया, फिर कहती है कि क्या करूँ, प्रियके हृदयमें होनेसे मैं मर भी नही सकती, मैं तो उसके वियोगमें वियोगिनी हूँ, तुम्हे जल्दी जाना है और मैं शीघ्र ही लिखनेकी स्थितिमें नही हूँ, इसलिए मेरी वियोगाग्निका हाल तुम्ही बता देना। सम्भोगकालमें पहले मिलते समय वस्त्रका व्यवधान सहन नही होता था और अब दोनोके बीचमें पहाडोकी दूरी है। प्रिय मेरी नीद भी अपने साथ ले गये है। उत्तरायणमे रात बडी होती है और दक्षिणायनमें दिन, पर विरहायनमें दिन भी बडा है और रात भी बडी।"

इसके बाद वह रूपक, विरोध और श्लेषमें कुछ बातें कहती है। पथिकके यह पूछनेपर कि तुम्हें पतिवियोग कब हुआ, वह कहना शुरू करती है—

"अरे उस अशुभ दिनका नाम लेना भी ठीक नही, शायद वह ग्रीष्मकाल था। यहाँसे (३ मे) षड्ऋतु वर्णन शुरू होता है। वह कहने लगी—

"झखर हवा चल रही है, तालाब और नदियाँ सूखी पडी है। प्रियवियोगमें मेरे सारे उपहार व्यर्थ है। पावसऋतु तो और ही दु खद हो उठी है। गोपीजन मधुर गीत गा रही है। मैं अभागिन क्या करूँ? लो यह शरद् आ गया, सब पथ सूख गये हैं, सारस और कमल प्रियको याद करा रहे हैं। पता नही प्रियके देशमें चाँदनी निकलती है या नही। अब यह दिवाली आ पहुँची, जिनके प्रिय घरपर है वे मज़ेमें दिये जला रही है। क्या उस देशमें कोई प्राकृत पढनेवाला नही, हेमन्तकी ठण्ड और भी असह्य है, वसन्त तो मुझे जलाता हुआ आ पहुँचा है, पर प्रिय आनेका नाम ही नही ले रहे हैं। फूल खिल रहे है, और मैं रो रही हूँ।"

अन्तमें वह अनुचित बातोंके लिए क्षमा माँगकर जैसे ही पथिकको विदा करती है वैसे ही उसे अपना पति आता हुआ दिखाई दिया। वह फूली नही समायी। कविकी भी कामना है कि जैसे उसका काम बन गया उसी तरह सबका भी काम बन जाये।

आलोचना—सन्देश रासकका सार यही है। इस खण्डकाव्यमें घटना कुछ भी नही है केवल कविकी कल्पनाका खेल है, पहले बहुत छोटी घटना घट चुकी है, वह है पतिका वियोग। प्रस्तुत काव्यमें उसकी

प्रतिक्रिया अंकित है, वह भी आलंकारिक। वर्णन रीतिग्रस्त है। परम्पराका पूरा प्रभाव है। इतने छोटे-से काव्यमें मुलतानके वर्णनमें कवि कितने ही वृक्षोंके नाम गिना देता है, उसमें अनुभूति कम है, कहनेकी वक्रता और वाणीका जाल अधिक है, वैसे रहमानने मध्यम श्रेणीके पाठकके लिए यह रचना की है। इस प्रकारके पाठकोंका भी एक वर्ग समझना चाहिए। यह वर्ग ऐसा है जो धर्मकी जगह रसकी बात सुनना चाहता है, वह भी तरह-तरहकी अलंकृत उक्तियोंमें। फिर भी कई दृष्टियोंसे इस रचनाका महत्त्व है। पहली बात तो यह है कि इसका लेखक एक मुसलमान कवि है। दूसरे उसमें शुद्ध रोमांस है। तीसरे उसमें लोकोक्ति और काव्यकी अलंकृत शैलीका समन्वय है। चौथे उसमें ऊहात्मक अलंकृत ऐसी उक्तियाँ हैं जिनकी परम्परा कतिपय हिन्दी कवियोंमें देखी जाती है। पांचवें उसके प्रकृति-चित्रणमें जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले व्यापारोंका भी उल्लेख है, यह हिन्दी कवि जायसीसे समानता रखता है। यह वस्तुत पाठ्य काव्य ही है। कुछ विद्वान्[1] इसे 'रासक' नाम होनेसे गेय समझते हैं। पर यह ठीक नहीं, क्योंकि इसमें गेय तत्त्व कम हैं, छन्दोंकी विविधता सबसे बडी बाधा है। इसके गेय बननेमें यदि इसका अभिनय भी हो तो यह सफल नहीं उतरेगा। उपदेश रसायन राससे तुलना करनेपर यह बात स्पष्ट समझमें आ जायेगी। मुझे कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि सन्देश रासकमें जो बाधाएँ हैं वे कहीं कविने परम्परासे न ली हों, क्योंकि इस बातकी सम्भावना कम ही की जा सकती है कि एक विदेशी अप्रचलित काव्य-भाषामें कविता करनेका प्रयत्न करेगा। जो भी हो खण्डकाव्य कुल मिलाकर यही है। शिल्पकी दृष्टिसे इसमें प्रबन्ध-काव्यकी भी विशेषताएँ मिलती हैं।

मुक्तक

बहुत प्राचीन समयसे काव्यके दो भेद मान्य हैं – प्रबन्ध और मुक्तक। भामह और वामन इन्हें क्रमश निबद्ध और अनिबद्ध कहते हैं। राजशेखर प्रबन्ध और मुक्तक ही मानता है। आनन्दवर्धनके अनुसार इसकी परिभाषा है – जो दूसरेसे आलिंगित न हो और जिसकी परिसमाप्तिमें दूसरेकी आकांक्षा न हो,[2] यह प्रबन्धके बीचमें भी हो सकता है। राज-

१. देखिए : डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य।

२. अन्येन नालिङ्गितम्, तेन स्वतन्त्रतया परिसमाप्त निराकांक्षार्थमपि प्रबन्ध-मध्यवर्ति मुक्तकमपि उच्यते (३।७) ध्वन्यालोक।

शेखर मुक्तकका अर्थ स्फुट करते है, उसके उन्होने[1] पाँच भेद किये है–

१. शुद्ध – इतिवृत्तशून्य, २. चित्र – विस्तृत अर्थवाला, ३ कथोत्थ – प्राचीन कथासे युक्त अर्थवाला, ४ सविधानक भू – सम्भावित घटनासे युक्त, ५. आख्यानक – इतिहासकी कल्पनासे युक्त।

यह प्रबन्धके भीतर हो सकता है। महापात्र विश्वनाथ निरपेक्षको मुक्तक कहते है।[2] उपाध्यायजीका मत है, 'मुक्तक वह है जो सन्दर्भ आदि बाह्य उपकरणोसे मुक्त होकर रसपेशल होता हैं। इसके आध्यात्मिक और लौकिक दो भेद है।[3] आ० शुक्लके अनुसार प्रबन्ध और मुक्तकमे यही बडा भारी भेद है कि मुक्तकमें किसी भावकी रसपद्धतिके अनुसार अच्छी व्यजना हो गयी बस, पर प्रबन्धमें भाव परिस्थितिके अनुरूप है या नही, इसका ध्यान भी रखना पडता है।[4] बाबू गुलाबरायका कहना है कि गीतमे वैयक्तिकता, भावात्मकता और आत्मनिवेदन रहता है। जहाँ वर्णन सगीत-मय और हृदयके नैसर्गिक उल्लासके साथ होता है वे छन्द भी प्रगीत काव्यकी कोटिमे आ जाते हैं। इन सब उल्लेखोका निचोड यह है –

'मुक्तक' सन्दर्भयुक्त हो यह सबको स्वीकार्य है, पर प्रत्येक मुक्तक रसपद्धतिके अनुसार हो। शुक्लजीका यह मत मान्य नही हो सकता क्योकि आध्यात्मिक मुक्तक इसके अपवाद हैं।

भेद—इसके दो भेद है, गीत मुक्तक और दोहा मुक्तक। गीत मुक्तक तीन रूपोमें मिलता है – १ कथा-काव्योके अन्तर्गत, २ गेय रूपमें, ३ पदोके रूपमे।

सख्या १ का विचार हो चुका है। गेय रूपकी तीन रचनाएँ है – चर्चरी, उपदेश रसायन रास और काव्य-स्वरूपकुलकम्। वस्तुत ये सामूहिक रूपमे गाये जानेवाले, गेय और नृत्य गीत कहे जाने चाहिए। ऐसा जान पडता है कि इस प्रकारके नृत्य और गेयवाले अन्य रूप जनतामें अधिक प्रचलित थे, उन्हीके अनुकरणपर धर्मप्रचारके लिए इन रूपोकी कल्पना हुई।

---

१ का० मी० पृ० ११४।
२ सा० द० ६।३१४।
३. स० सा० इ० २८१।
४. जा० ग्र० ६६।

चर्चरी

यह विभिन्न रागोमे निबद्ध गेय काव्य है। कवि कालिदासने भी विक्रमोर्वशीयके चौथे अकमे चर्चरी पद्योकी रचना की है। अपभ्रश का० भ० ११४, हरिभद्र सूरि (समराइच्चकहा), उद्द्योतन (कु० मा०), श्रीहर्ष (रत्नावली नाटिकामे) आदिने चर्चरीका उल्लेख किया है। प्राचीन गुर्जर काव्य सग्रहमे भी कवि सोलणकी चर्चरी छपी है। पटमजरी रागमें निबद्ध प्रस्तुत चर्चरीमें आचार्य जिनवल्लभकी स्तुति है। सिद्धोके पदोमें भी यह राग है। इस गेय काव्यमें उक्त आचार्यकी स्तुतिके साथ यह भी बताया गया है कि वे महान् क्रान्तिकारी होनेके साथ विद्वान् भी थे, उन्होने मन्दिरोसे उत्सूत्र हटा दिये, अनुचित गीत-वाद्यपर प्रतिबन्ध लगाया। मन्दिरमें 'लगुड रास' बन्द करवा दिया। लगुड रासमें स्त्रियो अथवा पुरुषोका सामूहिक नृत्य होता था। आचार्यने पुरुषोका 'रास' भी बन्द करा दिया था। जैन साधु सामूहिक रूपमें उक्त आचार्यकी भक्तिमें इस चर्चरीका गान करते थे।

उपदेश रसायन रास

यह ८० पद्योका नृत्यपूर्वक गेय काव्य है। यह पद्धटिका बन्धमें है, और गीतकोविद इसे किसी भी रागमें गा सकते हैं। मुख्य रूपसे इसमें श्रावकोके लिए साधारण उपदेश है। पहले वह मनुष्य-जीवनकी दुर्बलताका विचार करता है, फिर कहता है कि व्यर्थ बगीचा लगाना, मन्दिरका धन बढाना ठीक नही, स्वाभाविक रूपसे जो धन मिल जाये मन्दिरके लिए वह बहुत है। विशेष अवसरको छोडकर नर्तकीका नाच मन्दिरमे नही होना चाहिए। 'भैरव रास और तालारास' तो कतई न हो। हाँ, धार्मिक नाटक हो सकते हैं। बलभद्र और चक्रवर्तियोके चरितोका नर्तन कराया जाये, सगीत भी जिनगुणोसे ओत-प्रोत हो। इसके बाद युग-गुरुकी परिभाषा है। रोटी-बेटी साधर्मी जनमे ही हो इत्यादि।

काव्य-स्वरूपकुलकम्

यह पद्योकी गेय रचना है। इसका मुख्य विषय यह है कि विक्रम सवत्के १२०० वर्ष बीतनेपर मनुष्य शिव सुखसे वचित हो जायेगा। शीघ्र मोहनिद्रा नही टूटेगी। उसके बाद अवसर्पिणी काल (कलियुग) की निन्दा है।

पदके अन्तर्गत केवल सिद्ध कवियोंके थोडे-से पद मिलते है, इनमें

वर्णित विचारधाराका विवेचन दोहेके प्रसगमें किया है। यह अवश्य है कि स्वतन्त्र रूपमें इस प्रकारके पद पश्चिमी कवियोंके अभीतक नही मिले।

दोहाकाव्य

स्वरूपकी दृष्टिसे दोहाकाव्य दो प्रकारका है—दोहाकोश और स्फुट। दोहाकोशमें दो तरहकी विचारधारा है – एकमें उग्र क्रान्तिवादी आध्यात्मिक विचारधारा है, जैसे परमात्मप्रकाश, पाहुड दोहा, बौद्धगान और दोहा इत्यादि, दूसरेमे प्रवृत्तिमूलक कर्मकाण्डवाले धर्मका प्रतिपादन है। हमारे देशमें अध्यात्मवादकी ये दोनो विचारधाराएँ सभी सम्प्रदायोमें प्रचलित रही हैं – एक है निवृत्तिमूलक और दूसरी है प्रवृत्तिमूलक। उदाहरणके लिए वैदिक प्रवृत्तिमार्गकी उपनिषदोमे उग्र प्रतिक्रिया है। इसी तरह अध्यात्मवादियोका घोर निवृत्तिका हलका निषेध गीतामे है। आलोच्य साहित्यके मुक्तक-काव्यमें भी यही क्रम है। मध्ययुगमे जिनभक्तिका विकास हुआ। उसमें प्रवृत्तिकी अपेक्षा निवृत्तिपर अधिक जोर दिया गया। जहाँतक अपभ्रंश मुक्तक अध्यात्मवादी कवियोका सम्बन्ध है, सिद्ध कवि और जैन कवि दोनो उग्र निवृत्तिवादी हैं। एकमें तान्त्रिक आडम्बरकी घोर प्रतिक्रिया है, तो दूसरेमे समस्त वाह्य प्रवृत्ति और धार्मिक काण्डका विरोध। जैन परम्परामें आचार्य कुन्दकुन्द बहुत बडे उग्र अध्यात्मवादी थे। इनका प्रभाव आलोच्य कवियोपर स्पष्ट है। स्थूल विश्लेषणसे ही इस बातका पता चल जायेगा कि अपभ्रंश प्रबन्ध-कवि अधिकतर प्रवृत्तिमार्गी हैं जब कि मुक्तक कवि निवृत्तिमार्गी। यह बात जरूर है कि अन्तमें चरित-काव्योंके नायक भी विरक्त हो उठते हैं।

प्रवृत्तिवादी—अपभ्रंश मुक्तक कवियोमें सावयधम्म दोहाका लेखक ही एक प्रवृत्तिवादी कवि है। सबसे पहले अपने ग्रन्थमें वह सज्जन-दुर्जनका उल्लेख करके मुक्तककी प्रशसा करता है, फिर वह श्रावकोंके आठ गुण आदिका वर्णन करता है। दानकी महिमा खूब बतायी गयी है। धनका मूल धर्म है, धर्मसे ही ऐहिक सुख मिलते है। शरीरकी सार्थकता वह उपवास और धर्म-साधनामें मानता है।

निर्धनता और धर्मका घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनको वशमें रखना बहुत बडी बात है। इसके बाद तीर्थंकरकी विभूतियोका वर्णन करके लेखक इस बातपर जोर देता है कि जिन-मन्दिर बनवाने और तरह-तरहके

उपकरण देनेसे अचिन्त्य पुण्यलाभ होता है। जिनमन्त्रमें अद्भुत शक्ति होती है। भावके अनुसार ही फल मिलता है।

धार्मिक दृष्टिसे सावयधम्म दोहाका यही महत्त्व है कि विविध धार्मिक विधि-विधानोके अतिरिक्त उसमें निम्नलिखित बातोको भी महत्त्व-पूर्ण बताया गया है—१. अनुरागका त्याग, २ दर्शनकी मनोभूमिमें ही धर्मका फल लगता है, ३ मनका सयम। परन्तु साहित्यिक दृष्टिसे उसकी शैलीका महत्त्व इससे भी अधिक है। इसकी शैली सरल, प्रसादगुण युक्त है। कहावतो और मुहावरोका सुन्दर मेल है। कहनेमें ओज है। आडम्बर और अलकरण नहीके बराबर हैं। नीचे थोडी-सी बानगी दी जाती है—

हुंति विमुक्कइ मंडणइं जइ मुक्कउ अणुराउ ॥२५॥

जहि साहसु तहिं सिद्ध ॥७१॥

एहु धम्मु जो आयरइ वंमणु सुद्धु वि कोई।
सो सावउ किं सावयहं अण्णु किं सिरि मणि होइ ॥७६॥

वडु वहुयहं छाया करइ तालु सहइ सइ धम्मु ॥१०३॥

चाइं कवित्तें पोरिसइं पुरिसहु होइ णं कित्ति ॥१४२॥

धम्म धेणु संदोहयहं वरपउ दिंति ण भंति ॥२२२॥

परमात्मप्रकाश और योगसार

इनमें आत्माका प्रकाशन है। ये प्रश्नोत्तर शैलीमें हैं। किसी भट्ट प्रभाकर नामक जिज्ञासुने कविके सम्मुख संसारके दु खकी समस्या रखी। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी समस्याका समाधान है। इनकी शैली सावयधम्म दोहाकी ही तरह मधुर, सरल और अनुभूतिपूर्ण है। इसमें अधिकतर आत्माकी अनुभूतियाँ ही तरगित हैं। इसमें कर्मकाण्ड या धार्मिक मीमासा-का शुष्क जाल नही है। तीसरी बात यह है कि अध्यात्मवादी होते हुए भी कविकी दृष्टि उदार है। चौथे वह अपनी अनुभूति और मन्तव्यको रोचक बनानेके लिए जिन रूपक, उपमा आदिका सरल व्यवहार करता है वे दैनिक जीवनसे सम्बन्धित होते हैं। अलंकार-प्रयोगकी यह परम्परा हमें उपनिषद्, गीता आदि सभी भारतीय आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें मिलती है। परमात्मप्रकाशके मुख्य अधिकार दो हैं। कुल ४४५ पद्य हैं, जिनमें ५ गाथाएँ, १ स्रग्धरा, १ मालिनी, १ चतुष्पदिका और बाक़ी दोहे हैं।

आवश्यक काव्य-परम्पराका निर्वाह करके कवि आत्माके तीन भेद करता है। फिर तत्त्वोका विवेचन करता है। दूसरे अधिकारमें मोक्षका स्वरूप वर्णित है। इसमें अधिकार समभाव और पुण्य-पापकी समानताका स्वरूप बताकर वह शुद्धोपयोग और परमसमाधिका वर्णन करता है। पुनरुक्ति होते हुए भी इसमें विषय व्यवस्थित हैं। पाहुड दोहामे विषय स्फुट है यह होते हुए भी यह भावना-ग्रन्थ है, तर्क-ग्रन्थ नहीं। परमात्मप्रकाशके टीकाकार ब्रह्मदेव कहते हैं, *'अत्र भावनाग्रन्थे समाधिशतक्वत पुनरुक्त-दूषण नास्ति।'*

जोइन्दुने ब्रह्मादि शब्दोका प्रयोग किया है पर भिन्न अर्थमें। यह जान लेना आवश्यक है। 'ब्रह्म' का अर्थ यहाँ आत्मा है। परन्तु उप-निषद्का ब्रह्म और यह आत्मा—दो अलग तत्त्व हैं। क्योकि जैन धर्मके अनुसार आत्मा (जीव) और जडकी सत्ता अलग-अलग है। आत्माएँ अनन्त हैं और मुक्तावस्थामें वे अनन्त ही रहती हैं। कर्मसे छूटना ही मुक्ति है। ये मुक्त अनन्त है, पर गुणोकी दृष्टिसे उनमें भेद नही। फिर वे ससारकी उत्पत्ति और विनाशमें भाग नही लेते। इसके विपरीत ब्रह्मवादमें ब्रह्म ही एक परम सत्य है, प्रत्येक वस्तु ब्रह्मसे उत्पन्न होती है और उसीमें लय हो जाती है। अद्वैतको स्थापनाके लिए यह बहुत आवश्यक था। आगे चलकर जब भक्तिके लिए द्वैतकी आवश्यकता प्रतीत हुई तो भक्तिके आचार्योंने विभिन्न दृष्टियोसे अद्वैतमूलक द्वैतकी स्थापना की। यद्यपि कवि जोइदु कभी-कभी उपनिषदोके स्वरमें स्वर मिलाकर परमा-त्माओकी एकताकी चरचा करते हैं, पर है वह आपेक्षिक। सबसे बडी बात यह है कि 'जोइन्दु' परमात्माकी एक निश्चित रूप-रेखा स्वीकार करते हैं, पर उसे एक निश्चित नाम देनेका विरोध करते है। इसलिए उन्होने शिव, ब्रह्म, हस आदि सभी नामोका व्यवहार किया है। विभिन्न दृष्टिकोणोसे[1] आत्माका वास्तविक रहस्य समझना कविका मुख्य लक्ष्य है। जोइन्दुपर आचार्य कुन्दकुन्दके मोक्खपाहुड और पूज्यपादके समाधिशतकका प्रभाव स्पष्ट है फिर भी उनकी शैली जनसाधारणकी शैली है। जोइन्दु जहाँ पारिभाषिक तथ्योका वर्णन करते हैं, वहाँ कुछ रूढ हो जाते है।

---

१. गूढ अध्यात्मको व्यक्त करनेकी दो शैलियाँ है—उपनिषदमें इन्हें अपरा और परा विद्या कहते हैं, बौद्धोंमें परमार्थ और व्यवहार सत्य कहते हैं और जैनोंमें निश्चय और व्यवहार नयकी कल्पना है।

मुनि रामसिंहने पारिभाषिक अध्यात्मका वर्णन नही किया, पर जहाँ आत्माकी परमावस्थाका वर्णन है वहाँ शैली सरस और ग्राह्य है। इनकी उपमाएँ घरेलू वातावरणसे सम्बन्ध रखती हैं। योगियोकी तरह तान्त्रिक या रहस्यवादी उपमाएँ कम देते हैं। नमूनेके तौरपर निम्न उदाहरण पर्याप्त हैं—आत्मासे ही इन्द्रियरूपी गाँव बसता है—

देहि वसंते जेण पर इंदिय गामु वसेइ।
उव्वसु होइ गएण फुडु सो परमप्पु हवेइ ॥४४॥ रूपक

आत्माका घर स्वच्छ मन है—

देहि वसंतु वि हरि हरवि जि अज्जवि ण मुणंति।
परम समाहि तवेण विणु सो परमप्पु भणति ॥४२॥

परमात्मा कौन है—

जसु अब्भंतरि जगु वसइ जगु अब्भंतरि जो जि।
जगुजि वसंतु वि जगुजि ण मुणि परमप्पउ जो जि ॥४१॥

शुद्ध आत्मा ही तीर्थ है, अन्य तीर्थ मत जाओ—

अण्णु जि तित्थु म जाहि जिय अण्णु जि गुरउ म सेवि।
अण्णु जि देउ मं चिंति तुहुं अप्पा विमल मुएवि ॥९५॥

आत्माका घर स्वच्छ मन है—

णिय मणि णिम्मलि णाणियहं णिवसइ वेउ अणाइ।
महु एहउ पडिहाइ ॥११२

शिव समचित्तमे हैं देउल या शिलामें नही—

देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्तइ।
अखउ णिरजणु णाणमउ सिउ संठिउ समचित्ति ॥१२३॥

अद्वैतानुभूतिमें उपास्य-उपासक भेद व्यर्थ है—

मणु मिलियउ परमेसरह परमेसरु वि मणस्स।
बीहि वि समरसि हुवाह पुज्ज चडावउ कस्स ॥१२३॥

चित्तकी समता ही सब कुछ है—

मणई मणावइ णवि थुवइ णिंदइ णाणि ण कोइ।
सिद्धिहि कारणु भाउ समु जाणतउ पर सोउ ॥४८॥

परम मुनि प्रवृत्ति-निवृत्तिसे भी दूर रहता है—

वित्ति णिवित्तिहि परम मुणि देसुवि करइ ण राउ।
बंधहं हेउ वियाणियउ एयहं जेण सहाउ ॥५२॥

भावनाकी पवित्रता सिद्धिके लिए आवश्यक है–

सिद्धिहि केरा पथडा भाउ विसुद्धउ एक्कु ॥

सब कुछ क्षणभगुर है–

देउल देवु वि सत्थु गुरु तित्थु वि वेउविकव्वु ।
वच्छु जु दीसइ कुसुमियउ इधणु होसइ सव्वु ॥१३०॥

योगकी गति विषम है–

जोइय विसमी जोय गइ मणु संठवण ण जाइ ।
इदिय विसय जि सुक्खडा तित्थु जि वलि वलि जाइ ॥१३७॥

योगी वह है जो बसेको उजाडे और उजाडेको बसाये–

उव्वेस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु ॥

मुक्त अम्बर (शून्य) मे वास करता है–

मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु णिसासु ।
केवल णाणु वि परणमइ अबरि जाह णिवासु ॥१६३॥

योगसारमें परमात्म प्रकाशके विचारोका अनुवर्तन है। जोइन्दुने 'योगी' शब्दके दो अर्थ किये हैं–पतजलिके योगमतका योगी और नाथमतका हठयोगी। अम्बर शब्दका अर्थ परम समाधि है। टीकाकारने दोहा १६४-१६५ मे इसे दोहराया है (पर० प्र० पृ० ३०७)।

पाहुड दोहा

पाहुडका अर्थ है उपहार। यह दोहोका उपहार है। उपहारकी चीज थोडी और चुनी हुई होती है। कविने बहुत थोडेमे यह आध्यात्मिक उपहार दिया है। पहले वह इन्द्रिय-सुख और सासारिक सुखकी नश्वरताकी निन्दा करता है। फिर शुद्ध अध्यात्मके प्रतिपादनमें वह रम जाता है। वह दार्शनिकता और शास्त्रीय ज्ञानकी अपेक्षा शुद्ध आत्मानुभूतिपर जोर देता है। इसमे उसने भोगसे त्यागकी, शास्त्रज्ञानसे आत्मज्ञानकी और कर्म-काण्डसे आत्मानुभूतिकी श्रेष्ठता सिद्ध की है। कविकी सबसे बडी विशेषता यह है उसकी साकेतिक शैली और आत्म-प्रेमता। वह शक्ति (इन्द्रिय वृत्ति) और शिव (मुक्तात्मा) अर्थात् देह और आत्माके सयोगमे प्रियतम और प्रेयसीकी कल्पना करते है। इस आलकारिक शैलीको विद्वानोने रहस्यवाद कह डाला है, परन्तु भारतीय दार्शनिक दृष्टिसे इसमें रहस्यवाद-की कोई बात नही, जैसा कि आगेके अवतरणोसे स्पष्ट है कि मुनि राम-

सिह अपना यह उपहार प्रस्तुत करते समय शैवमत, योगमत, तन्त्रमत तथा भक्तिके सगुण, निर्गुण मतोसे अवश्य परिचित थे। आत्मामें जात-पांत या रूप-रग नही होता –

हउ गोरउ हउं सामलउ हउं मि विभिण्णुउ वण्णि।
हउं तणु अंगउ थूलु हउ एहउ जीव म मण्णि ॥ २६ ॥

शिव कौन है –

वण्ण विहूणउ णाणिमउ जो भावइ सब्भाउ।
संतु णिरजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ ॥ ३८ ॥

शिवालय शरीर है और आत्मा शिव, उसीको खोज –

देहा देवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ।
कोतहिं जोइय सत्ति सिउ सिग्घु गवेसहि भेउ ॥ ५३ ॥

शिव और शक्ति परस्पर अधीन हैं –

शिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्ति विहीणु।
दोहि मि जाणहि सयल जगु बुज्झइ मोहविलीणु ॥ ५५ ॥

शिव और शक्तिका मिलना 'पशु वध' में है –

सिव सत्तिहि मेलावडा इहु पसु वाह मि होइ।
भिण्णिय सत्ति सिवेण सिहु विरला वुज्झइ कोइ ॥ १२७ ॥

यहाँ पशु वधका अर्थ जीव वधसे है, पाशुपति दर्शनमें पाश (बन्धन) से मुक्त जीव पशु कहलाता है, अत पशु वधसे तात्पर्य हुआ बन्धन या कर्मसे छुटकारा।

अद्वैतकी अनुभूति –

कासु समाहि करउं को अचउ छोपु अछोपु मणिवि को वचउं।
हल सहि कलह केण सम्माणउं जहिं जहि जोवउं तहि अप्पाणउं॥१३९॥

कौन टूटता है और कौन तोडता है –

पत्तिय तोडहि तडतडइ णाइं पइट्ठा उट्टु।
एव ण जाणहि मोहिया को तोडइ को तुट्ट ॥ १५८ ॥

पत्तीमें भी शिव है –

पत्तिय तोडि या जोइया फलहिं जि हत्थु न वाह।
जासु कारणि तोडेरि तुहुं सो सिव एत्थु चडाहि ॥ १६० ॥

वह सर्वव्यापी है –

अग्गइं पच्छइ दह दिहहि जहि जोवउं तहि सोइ।
ता महु फिट्टिय भतडी अवसु ण पुच्छइ कोइ ॥ १७५ ॥

दाम्पत्य भाव –

हउ सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसगु ।
एक्कहि अगि वसतयहँ मिलिउ ण अगहि अगु ॥ १०० ॥

प्रियका नेह पाँच इन्द्रियोसे है । उन्हें मेरी सुध ही नही –

पचहि बाहिरु णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स ।
तासु ण दीसइ आगमणु जो खलु मिलिउ परस्स ॥ ४५ ॥

मनको सहजावस्थासे रोको –

सहज अवत्थहि करहुलउ जो इय जतउ वारि ।
अखइ णिरा मइ पेसियउ सइ होसइ महारि ॥ १७० ॥

पुस्तक-ज्ञानसे मुक्ति नही मिलती –

पोत्था पढणि मोक्खु कह मणु वि असुद्धउ जासु ॥ १४६ ॥

सिरको नही, मनको मूडो –

मुडिय मुंडिय मुंडिया सिरु मुंडिउ, चित्तु ण मुंडिया ।
चित्तह मुडणु जि कियउ ससारह खडणु ति कियउ ॥ ३५ ॥
दोहा सख्या १९२ जोइन्दुके दोहा न० १०७ से मिलता है ।

योगीके साथ शिव भी भटकता है –

जो पइ जोइउ जोइया तित्थइ तित्थ भमेइ ।
सिउ पइ सहु हिडियउ लहिवि ण सक्किउ तोइ ॥ १७९ ॥

प्रतीक शैली –

पच बलद्द ण रक्खियइ णयण वणु ण गओ सि ।
अप्पुण जाणिउ णवि परुवि एमइ पव्वइ ओसि ॥ ४३ ॥

अपनी साधनामें मस्त रहो, दुनियाकी परवाह मत करो –

गहिलउ गहिलउ जणु भणइ गहिलउ म करि खोहु ।
सिद्ध महापुरि पइसरइ उप्पाडेविणु मोहु ॥ १४३ ॥

जोइन्दु और रामसिंह – शैली और विषय क़रीब-क़रीब समान है, फिर भी एक पारिभाषिक अध्यात्म वर्णन करता है, दूसरा उसे छूता भी नही । वह अधिक स्वतन्त्र है । एकमें दार्शनिकता अधिक है, दूसरेमें भावुकता । एकका विषय प्रतिपादन क्रमबद्ध है, दूसरा स्वच्छन्द उडान लेता है । एकमें कोमल विरोध है तो दूसरेमें उग्र । मुनि रामसिंह केवल दूसरोकी धार्मिक रूढियोका मजाक़ नही उडाते किन्तु अपने मतकी

धार्मिक रूढियोका उपहास करते हैं। एक जगह उन्होने उनको कडी फट-कार बतायी है, जो नगे होनेका घमण्ड करते हैं।

सिद्ध दोहाकोश – सिद्धोके पद-साहित्यका हम उल्लेख कर चुके हैं। इनके दोहे भी उपलब्ध है। जो बौद्ध गान दोहामें सगृहीत है। ये दोनो स्फुट रूपमें ही उपलब्ध हैं, और सिद्ध मतका उसपर पूरा प्रभाव है। इस मतकी चरचा अन्यत्र की गयी है। (प्रकीर्णक भी) सिद्ध कवि तान्त्रिक प्रक्रियाकी अपेक्षा, आत्मानुभूतिपर अधिक जोर देते थे, कुल द्रव्योका प्रतीकोके सहारे आध्यात्मिक अर्थ करते थे, सस्कृतकी अपेक्षा लोक-भाषाको ही उन्होने अपने उपदेशका माध्यम बनाया। उपलब्ध सिद्ध साहित्यके सम्बन्धमें डॉ० द्विवेदीका यह मत है –

सस्कृतमें लिखे गये इनके ग्रन्थ प्राय साधना मार्गकी व्याख्या करते हैं, पर पद और दोहोमें धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत और नैतिक स्वरका परिचय अधिक स्पष्ट मात्रामें देते हैं। इस दृष्टिसे इनकी हिन्दी रचनाओका अधिक महत्त्व है (ना० स० १८२)। यहाँ डॉक्टर साहबका हिन्दीसे तात्पर्य उस युगकी प्रचलित लोक-भाषासे है। नीचेके अवतरणोसे हम इन सिद्ध कवियोकी विचारधाराकी तुलना कर सकेंगे – सहज परमार्थ ही ज्ञातव्य है, व्यर्थ आगम ज्ञानसे क्या –

सहज एक परमार्थ तहि फुल्ल कह परजइ।
आगम किंपि जाणइ ॥ १२ ॥

आत्मा कही नही जाता केवल शान्त हो रहता है –

अहण गमइ ऊह ण जाइ वेणि रहिअ तसु मिच्चल पाइ।
भणइ कह्न मन कहवि ण फुट्टइ णिचल पवण धरिण धर वत्तइ ॥१३॥

सहजानन्दमें मन लगाना चाहिए–

सहजानदे णिअ मन पमह न किअइ जेण।
तिहुअण सयल विफारिआ पुणु संहारिअ तेण ॥१७॥

आत्मस्वभाव कोई नही जानता –

भव मुन्दे सयल जग वाहिउ णिअ सहाव णउ केण विगाहिउ।

ब्रह्मरन्ध्रमे वास करना ही मुक्ति पाना है –

जहि मनपवन ण संचरइ रवि ससि नाइ पवेस।
तहि वढ चित्त विसाम करु सरिहे कहिअ उवेस ॥

चित्त ही बांधता है, और वही मुक्त करता है —

एव चित्तें वज्झें वज्झइ णत्ति संदेहो ।

चंचल मनमें नहीं, आत्मामें बसना चाहिए —

एहु मण मेल्लहु पवण तुरग सुचंचल
सहज सहाव, बसइ होइ निच्चल ।

शरीरमें ही सब कुछ है —

एत्थु स सुरसरि जमुण एत्थु व गंगा सायरु ।
एत्थु पयाग वणारसी एत्थु सु चंद दिवाअरु ।

आत्मा देहमें है, बाहर क्या पूछते हो —

घरे अच्छ घरे अच्छइ बाहिरे कुह पुच्छइ ।
पइ देक्खइ पडवेसी पुच्छइ ॥
पंडिऊ सयल सत्थ बक्खाणइ । देहहि बुद्ध वसंत ण जाणइ॥

एक देव ही सब जगह है —

एकु देव बहु अंग ण दीसइ । अपणु इच्छें फुड पडि हासइ ॥

मनसे मनको देखो —

चित्तह चित्त णिहालु वढ सअल विमुच्चइ दिट्ठी ।
परम महा सुहे सोज्झ परु तसुगा अत्ता सिद्धि ।

— सरह पाद

पद

परम तत्त्व द्वैताद्वैतसे परे है । चित्तकी शुद्धिसे ही वह प्राप्य है—

करुण नेह निरंतर फरिआ भावाभाव दंदल दलिआ ।
उइत्तो गअण माझे अदभूता पेसरे भुसुकु सहज मरआ ।
जासु सुनते तुट्टिअ इन्दिआल निहुरे णि अ, मन ण दे उलाम ।

— भुसुक पाद

जीवित मृत्यु ही अच्छी । आत्मा ही संसारको बनाता और नष्ट करता है —

अपणे रचि रचि भव निर्वाण मिछें लोअ बन्धा वए अपणा ।
अम्मे ण जाण हूँ अचिंत जोइ जाम मरण भव कइसण होइ ।
जइसो जाम मरण वि तइसो जीवते मअलें णाहि विसेसो ॥

— सरह पाद

कुण्डलिनी शक्तिके प्रबुद्ध होते ही अनहद नाद होने लगता है और काम भाग खडा होता है –

तिनि ए चार्टे लागेलि रे अणह कसण घण जागइ ।
ता सुनि मार भयंकर रे तअ मंडल सएल भाजइ ।
मातेल बीअ गइंदा धावइ निरंतर गअणन्त तुसें घोलइ ॥

– महीधर पाद

आत्मा ही परम तत्त्वको पाता है –

भवणिव्वाणे पडइ मादला मण पवण वेणि करंडकशाला ।
जऊ जऊ दुन्दहि साद उछलिआ काह्न डोम्बी विवाहे चलिआ ।
डोम्बी विवाहिआ अहाटिउ जाम जं उतुके किअ आणुतु धाम ॥

– कृष्णपाद

या

गंगा जउना माझेरे बहइ नाई
तहि बुडिली मांतगि पोइआ लीले, पार करेइ
बाहतु डोम्बी बाहली डोम्बी बाटत, भइल उछारा
सद्गुरु पाअ पद्मे जाइब पुणु, जिण उरा

– डोम्बीपाद

वहाँ परमतत्त्वमें भाव-अभाव कुछ भी नही है –

भाव न होइ अभाव णा जाइ आइस संबोहें कोपति आइ ।
लुइ भणइ वढ दुलक्ख विणाण तिअ धाए विलसइ उह लागेण ।

– लुइपाद

स्फुट दोहा मुक्तक

पहले कहा जा चुका है कि अपभ्रंश साहित्यमें फुटकर दोहे काफी संख्यामें है । जिन ग्रन्थोमें मिलते हैं उनका उल्लेख भी आधारभूत सामग्रीकी सूचीमें हो चुका है । विषयकी दृष्टिसे ये दोहे तीन वर्गमें आते हैं –

१. शृंगार, २ वीररस, ३ धर्म और उपदेश ।

यह एक विचारणीय तथ्य है कि आध्यात्मिक दोहाकोशकी तरह अभीतक कोई लौकिक दोहाकोश अपभ्रंशमें नही मिला होना चाहिए, लेकिन इनके मूल स्रोतका अभीतक पता नहीं चला । हेम व्याकरणमें जो दोहे हैं उनसे कुछ परमातम प्रकाश और उपदेश रसायन राससे लिये गये है । इसपर-से

सहज ही अनुमान दृढ होता है कि अन्य दोहोका भी कोई आधार अवश्य होगा। लोकभाषामें लौकिक विषयोपर मुक्तक कोशकी परम्परा हालकी सतसईसे उपलब्ध है। हिन्दीमें भी यह परम्परा थी, तब आलोच्यकालमें भी रही होगी। दोहा अपभ्रंशका अपना छन्द है, पर किसी प्रबन्ध-कविने इसे अपने काव्यमें स्थान नही दिया। ऐसा क्यो, यदि यह नया छन्द अनुष्टुप् या गाथाकी तरह सचमुच ही किसी नये भावका सूचक था, तो वह इन प्रबन्ध-कवियोको क्यो आकृष्ट नही कर पाया। कालिदासने अवश्य ही इसका उल्लेख किया है, पर अभी उनका उल्लेख सन्दिग्ध ही है। शायद इसका कारण पण्डितोकी उपेक्षा हो। डॉ० हीरालालने लिखा है (सा० ध० दो० पृ० २१) कि 'दव्व सहाव' की रचना उसके लेखकने गाथामें की थी। फिर दोहोमें की। परन्तु महाशय शुभकरको यह पसन्द न आया, उन्होने फिरसे उसे गाहाबद्ध करवा दिया। अगर यह सच हो तो इससे यही सिद्ध होता है कि आध्यात्मिक चिन्तनमे ही 'दोहा' की उपेक्षा थी। लोकमें कोई दोहाकोश देखकर ही लेखकके मनमें आध्यात्मिक विचार इस नयी शैलीमे गूँथनेका आया होगा। हम कह चुके है कि मध्य देशके दरबारोंमें अपभ्रंश कवियोको स्थान प्राप्त था, उनकी रचना भी मुक्तक होती थी। प्राकृत पैंगलम्मे केवल राजस्तुति ही नही है, किन्तु उससे अधिक शिवभक्ति भी है। अत कोई कारण नही कि अपभ्रंश कवियोने दूसरे विषयोपर मुक्तकोकी रचना स्फुट और कोश रूपमे न की हो। आगे जिन अवतरणोको दे रहे है उनमें यद्यपि स्वच्छन्द उद्गार है, परन्तु है सधे हुए हाथोके। उन्हें देखकर यह नही कहा जा सकता कि किसी अनगढने झोकमे आकर उन्हें रच दिया होगा। डॉ० द्विवेदी नाना कारणोसे इस साहित्यको लुप्त मानते है। यह भी ठीक है। मेरी धारणा है वह लुप्त नही प्रच्छन्न है।

शृंगार

सिरि जर खंडी लोअडी गलि मणिअडा ण वीस।
तोवि गोट्ठडा कराविआ मुद्धए उट्ठ बईस॥

जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह।
बिहि वि पियारेंहि गइअ धण, कि गज्जइ खल मेह॥

जे महु दिण्णा दिअहडा दइए पवसन्तेण।
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरियाउ नहेण॥

विट्टिए मइं भणिय तुहुं मा कुरु वंकी दिट्ठि ।
पुत्ति सकण्णि भल्लि जिंव मारइ हिअइ पविट्ठि ॥

वीर

अम्हे थोवा रिउ बहुअ इउ कायर चिंतति ।
मुद्धि णिहाल हि गयण तलु कउ उज्जोऊ करंति ॥

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणी म्हारा कंतु ।
लज्जेजं तु वयं सिअहुं जइ भग्गा घरु एं तु ॥

पाअ विलग्गी अंतड़ी सिरु ल्हसिउ कवंधस्सु ।
तोवि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउं कंतस्सु ॥

नीति

रिद्धिं वहूणह माणु सह ण कुणइ कुवि सम्माणु ।
सउणिहि मुच्चइ फल रहिउ तरुवरु, इत्थु पमाणु ॥

गुणहि न सम्पय कित्ति पर फल लिहिअ भुंजंति ।
केसरि न लहइ वोड्डिअ वि गय लक्खेहिं घेप्पंति ॥

संता मोह जो परिहरइ तसु कंतभो वलि कीसु ।
तसु दइवेणवि मुंडिअउ जसु खल्लिडउ सीसु ॥

धवलु विसूरइ सामिओ गरुआ भरु पिक्खेवि ॥
हउं किं ण जुत्तउ दुहु दिसिहि खण्णइ दोण्णि करेवि ॥

सन्दर्भ और इतिवृत्तमूलक मुक्तक

कोशा वेश्या अपनेपर आसक्त एक साधुको समझा रही है —

कोश भणइ, महापुरिस तुहु कंवल सोएसि ।
ज दुलहु संजम खणु हारिस तं न मुणेसि ॥

या

तइं गड्डआ गिरनार काइं मणि सत्सर धरिउ ।
मारी तां खंगार एक्कुं सिहरु न ढालियउ ॥

श्री गुलेरीजीने इस प्रकारके इतिवृत्तात्मक मुक्तक-काव्यके बहुत-से नमूने अपनी पुरानी हिन्दीमें दिये है। इनमें कथासूत्रकी योजना अवश्य है, पर हैं वे मुक्तक ही। कुल मिलाकर जब हम प्रबन्ध-कवियोंकी

आध्यात्मिक विचारधारासे मुक्तक-कवियोंकी विचारधाराकी तुलना करते हैं तो कई तथ्य स्पष्ट होते हैं –

१ सावयधम्म दोहाके लेखकको छोड़कर शेष अपभ्रंश मुक्तक कवि उग्र अध्यात्मवादी हैं। प्रबन्ध-कवि प्रायः प्रवृत्तिमूलक हैं।

२ बाह्य उपासना और पूजा-पाठके ये विरोधी हैं।

३ कोरा शास्त्रीय ज्ञान इन्हें स्वीकार्य नहीं।

४ सिद्ध कवियोंमें साधनात्मक शैली है और जैन कवियोंमें भावात्मक, पर कहीं कहीं साधना शैलीका प्रभाव उनपर भी है।

५ वे अनुभूतिपर ज़ोर देते हैं।

६ उनके लक्ष्यके स्वरूपमें चाहे मतभेद हो, परन्तु साधनाकी कई बातोंमें ये समान हैं।

७

अपभ्रंश काव्योंका वस्तु-वर्णन

अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंकी कथाके बीचमें ऐसे स्थल होते हैं, जिनका इतिवृत्तसे सम्बन्ध न होकर हृदयकी रागात्मक वृत्तिसे अधिक होता है। यही स्थल वस्तु-वर्णन हैं। आचार्य शुक्लके अनुसार ये वस्तु-वर्णन दो रूपोंमें उपलब्ध हैं—१ कवि-द्वारा वस्तु-व्यंजनाके रूपमें और २ पात्र द्वारा भाव-व्यंजनाके रूपमें। (पद्मावत ७८ पृ०)

साहित्य-दर्पण (अध्याय ६,३२२।३२४) में महाकाव्यके लिए वस्तु-वर्णनका जो विधान है, उसके भी दो भेद हो सकते हैं—१ प्राकृतिक वस्तु वर्णन (सन्ध्या, सूर्य आदिका वर्णन) और २ सामाजिक वर्णन (विवाह, युद्ध, यात्रा आदिका वर्णन)। राजशेखरने (काव्य मी० अ० ८) इन तथ्योंका विस्तारसे निर्देश किया है। वास्तवमें प्राचीन समयसे ही भारतीय काव्यमें इस प्रकारके वर्णनका समावेश है, और अपभ्रंश काव्य भी इसका अपवाद नहीं। यह आवश्यक नहीं कि वस्तु-व्यंजना कवि-द्वारा ही हो, या भाव-व्यंजना पात्र-द्वारा। इससे विपरीत भी देखा जाता है।

देशवर्णन

देशवर्णनके अन्तर्गत जनपद, नगर और द्वीपोंके वर्णन पर्याप्त मात्रामें मिलते हैं। यह वर्णन बहुत-कुछ परम्परागत है। भौगोलिक या प्रादेशिक दृष्टिसे इनसे विशेष जानकारी नहीं मिलती। पउम चरिउमें मगध देशका वर्णन यह है—

जहिं पक्क कलमे कमलिणि णिसण्ण अलहंत तरुणि थेरव विसण्ण।
जहिं सुय पंतिउ सुपरिट्ठियाउ ण वणसिरी मरगय कठयाउ।
जहिं उच्छु वणइं पयणाहयाइं कंपंति णं पीलण मयगयाइं।
जहिं णदणावणइं मणोहराइं णच्चंति चचल पल्लव कराइं।
जहिं फाडिम वयणइं दाणियाइं णज्जंति ताइं णं कइ मुहाइं।
जहिं महुयर पंतिउ सुंदराउ केयइ केसर कय धूसराउ।
जहिं दक्खा मंडव परियलंति पुणुपंथिय रस सलिलइं पियंति।
(प० च० १,५)

इसमें मगधकी प्राकृतिक शोभाका ही वर्णन है। अलंकृत शैलीमें

अंकित ये बातें प्राय सभी अपभ्रंश काव्योमे एक-सी ही वर्णित है (म० पु० १,१२,२,५७, णा० कु० च० ६, जम० च० ४, भवि० क० १)। प्राकृतिक वर्णनके अतिरिक्त साधारण व्यापारोका भी चलता वर्णन इस प्रसगमे मिलता है–

जुज्झत महिस वसहु च्छवाइ मथामथिय मथणि रवाउ ।
चवलुद्ध पुच्छ वच्छा उलाइ कीलिय गोवालइ गोउलाइ ।

(म० पु० १,१२)

यहाँ भैसा और बैलकी लडाई, मथानीका शब्द या गोकुलका उल्लेख है।

नगर वर्णनके अन्तर्गत राजगृहका वर्णन इस प्रकार है–

जहिं मणहर सोहए हट्ट मग्गु वहु सयड ण जड चट्ट धग्गु ।
जहिं णेहहो भरिउ विहाइ माणु पूरिउ पत्थेण कणेहि दोणु ।

(म० पु० १,१५)

शुरूमे कवि बाजारका उल्लेख करता है, पर शीघ्र ही अलकृत शैलीमे कामिनीजनका वर्णन करने लगता है। ऐसे प्रसगमें उत्प्रेक्षा, श्लेष और परिसख्याकी बहुलता होती है। नगरके वर्णनमे बहुधा प्राकार, गोपुर, परिखा, मकानोकी ऊँचाई और विलास-सम्पदाका उल्लेख होता है। जैसे वसन्तपुर (प० सि० च० २), चम्पानगरी (कर० च० ४), राजगृह (णा० कु० च० ६), गजपुर (भवि० क० ३), रतनपुर (म० पु० २, ३७०) के वर्णन प्राय समान है।

गोकुल और शवर बस्तीका वर्णन भी अपभ्रश काव्यके वस्तु-वर्णनका आवश्यक अग है। रामको धानुष्क वनमे यह गोष्ठ मिला था–

जुज्झतइ ढेक्कार मुअतइ णलिणी मुणालखण्ड तोडत इ ।
कत्थइ जणवउ सिमिरे चच्चिउ पढम सुइ सिरधरिवि णच्चिउ ।
कत्थइ डिम्भउ परियढिज्जइ अम्माहीरउ गेउ सुणिज्जइ ।

(प० च० २,२९)

कवि पुष्पदन्त गोकुलका वर्णन बहुत विस्तारसे करते है। शैली अलकृत है, पर कुछ नयी बातोका भी उल्लेख है। यह गोकुल भरतको अपनी दिग्विजयकी यात्रामें मिला था या नही कहना कठिन है, किन्तु कविके युगमें ऐसी बस्तियाँ अवश्य रही होगी। इसमें गोप-गोपियोकी स्वच्छन्द लीलाका सरस वर्णन है।

हो हो हलि गोविणी मइ जि रमइ मयाणु ण तुह कामग्गि समइ ।

रासका उल्लेख भी है—

जहिं देंति तालु कीलापयासु मंडलिय गोव कियंति रासु ।

काहल और मुरलीकी ध्वनि सुनते ही गोपियोका मन गृहकार्यमें नही लगता—

काहलिय वंस सद्दं सुणंति ण करह घरकम्मु वि सिरु धुणंति ।

(म० पु० १,२१५)

परवर्ती कृष्णलीलासे इन बातोका बहुत सम्बन्ध है। शृगारका पुट, छेड-छाड, रासलीला आदि यहाँ भी है। केवल कृष्ण नही है। इसी तरह भरत चक्रवर्तीको दिग्विजयके प्रसगमें शबर-पुलिन्द भी मिले थे। पुष्पदन्तने समस्त पदोमें किरात राजाओका इस प्रकार वर्णन किया है—

कसरतसे उनके शरीरके जोड पक्के और स्थूल थे। कठोर प्रचण्ड तीर ही उनका कुल धन था। दाँत मजबूत और विरल थे। चमकदार पखोके उनके वस्त्र थे। मूँगोकी मालाएँ गजमदमें सराबोर थी। चेहरा रक्तकी तरह लाल और कठोर था। तीखे तीरोंके प्रहारसे हिरन मारनेमें वे निपुण थे। उनके घर हाथी दाँतोसे सजे हुए थे। कर्णाभूषण ताडपत्र और नीलकमलोके थे। भीलनियोके मुख-कमलके रसलम्पट, वे बच्चोको कन्धोपर उठाये हुए, सजल मेघोके समान काले थे।

(म० पु० १, २१६)

रामको शबर-किरातोसे जनकका राज्य बचाने तो जाना ही पडा था, किन्तु वनवासके समय भी ये जातियाँ उन्हे मिली थी, जैसे विन्ध्याचलमे रुद्रभूति (प० च० २, ५२)। यह यहाँका भील राजा था। हर्षचरितमें हर्षको भी आटविक सामन्त व्याघ्रकेतु मिला था, (पृ० २४, डॉ० अग्रवाल)

देशोके नाम—स्वयवर, दिग्विजय या युद्धका निमन्त्रण भेजनेके लिए देशो और जनपदोके नाम गिनानेकी भी प्रथा इस काव्यमें मिलती है। भौगोलिक या ऐतिहासिक दृष्टिसे इनकी व्याख्या करना कठिन है। कुछ नाम तो पौराणिक हैं और कुछ कल्पित या परम्परागत। जैसे अनन्तवीर्यने भरतके विरुद्ध अभियानके लिए इतने नरेशो और राज्योको लेखपत्र भेजा था—केसरि मारिचण्ड, जमघण्ट, कोकण, मलय, पाण्ड्य, आणट्ट (आनर्त), पारियात्र, गुज्जर, गग, बंग, मगाल (मगोल), पइविय, तज्जिय, पारसीय, पचाल, सिन्धव, कामरूप, गम्भीर, परती, मरु, कण्णाड,

लाड, जालन्धर, टक्का, आभीर, कीर, खस और बब्बर। (प० च० २, ७३)

भोगभूमिका अन्त होनेपर रिसभ जिनके आदेशसे ये गाँव और जनपद आबाद किये गये—पल्लय (पल्लव), सेन्वय, कोंकण, कोसल, टक्का (हीर), कीर, खस, केरल, अंग, कलिंग, गंग, जालन्धर, कच्छ, जवण (यवन), कुरु, गुज्जर, वज्जर, द्रविण, गउड, कण्णाड (कर्णाट), वराड (वरार), पारस, पारियाय, पुण्णाउ, सूर (सौर), सुरट्ठ (सौराष्ट्र), लाट, कोंग, वंग, मालव, पंचाल, मागह, जट्ट, भोट्ट, नेपाल, उड्ड, पुण्ड, हरि, कुरु और मगाल। इनके सिवा दूसरे अटवी, देश और खेडे (गाँव) भी बसाये। (म० पु० १, ८९)

सुलोचनाके स्वयंवरमें इतने देशोंके राजा आये थे—केरल, सिंहल, मालव, कोंकण, बर्बर, गुज्जर, जालन्धर, वज्जर, कंभोज, कोंग, गंग, कलिंग, काशी, टक्क और कुरु। (म० पु० १, ४४४)

भरतने जिन प्रदेशोंको जीता, (म० पु० १, २३१) वे उपरोक्त (म० पु० १, ८९) सूचीसे मिलते-जुलते हैं। इनमें यवन, बर्बर आदि कई ऐसे जनपद या जातियाँ हैं, जो छठी सदीके बाद अस्तित्वमें आयी। इसलिए उन्हें भरतके समयसे सम्बद्ध नहीं किया जा सकता।

बाज़ार-हाट

बाजारका भी दो-चार प्रसंगोंमें वर्णन मिलता है। हनुमान्ने किष्किन्धाके बाजारका यह रूप देखा—

'कहीं चन्दन चर्चित श्रीखण्डके भाण्ड रखे हैं। कहीं कस्तूरी, केशर, कपूर आदि सुगन्धित द्रव्यसमूह हैं। कहीं भोजन बनानेवाली स्त्रियोंकी चूड़ियोंसे खन-खन आवाज़ हो रही है। कहींपर गोरी, बाहरसे मीठी वेश्याएँ रहती हैं। कहीं जुआ हो रहा है। कहीं नाचघर और प्रदर्शन दीख रहे हैं। कहीं पानवालों और मालाकारोंकी पक्तियाँ हैं। कहीं व्याकरण पढ़ा जा रहा है। कहीं सुन्दर नमक है। कहीं तेल मिश्रित घी रखा है। कहीं मत्त कामिनियाँ हैं। (प० च० २, १९७)

इसीसे मिलता-जुलता वर्णन अन्यत्र (प० च० पृ० २०७) भी मिलता है। दोमंजिली नगरीमें प्रवेश करते हुए लक्ष्मणने लुहारकी दुकान भी देखी थी—

कत्थइ लोहारेंहिं लोहखंडु पिट्टिज्जइ णरए व पापपिंडु।

(प० च० ८१)

इस हट्ट मार्गसे हटते ही लक्ष्मण राजद्वारपर जा पहुँचा। लक्ष्मीनगरके बाजारमे रामके दूतने देश-देशकी वस्तुएँ देखी थी—

चेलउ हरिकेलउ सच्छायउ वड्डायरउ लोणु विक्खायउ।
वइरायउ वज्जु मणि सिंहलु णेवालउ कत्थरिय परिमलु।
कंची केरउ णयरु विसिट्ठउ चीणउ णेत्तु वियड्ढेहिं दिट्ठउ।
अण्णु इंदु वायरणु सुणिज्जइ भू वा वल्लउ गोड झुणिज्जइ।
(प० च० २, १९२)

विवाह

विवाहका बहुत ही रोचक वर्णन इस साहित्यमें है। इसके प्रसग भी अधिक है। सक्षेपमें ही मुख्य बातोका निर्देश कर रहे हैं। बाणके हर्षचरितमें राजन्य-वर्गके विवाहका वर्णन है, आलोच्य काव्यमें मध्यम और श्रेष्ठि वर्गके। राम-सीताके विवाहपर स्वयभूने केशर, कपूर, चन्दनके छिडकाव और गाजे-बाजेका उल्लेख किया है (प० च० २, ८)। रिसभके विवाह-वर्णनमें निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय है –

१ अनेक द्वारोका मण्डप, ऊपर चँदोवा, मणिरत्नोसे उसकी सजावट।

२ तरह-तरहके वाद्य वज रहे थे।

३ स्त्रियो-द्वारा धवल और मगल गीतोका गान, चौक पूरना, कगन बाँधना।

४ वरयात्रा, घूँघट खुलायी, पिता-द्वारा दोनोका करस्पर्श करना।

५ होम और बिदा, नाटककी योजना, इन्द्रका रसाभिनय।

६ चौथे दिन कगन छोडना, और सुहागरात।

(म० पु० १, ६२-७१)

जयकुमार-सुलोचनाके विवाहमें थोडे हेर-फेरके साथ इन्ही बातोका उल्लेख है। (म० पु० १, ३८७)

बन्धवइ और कमलाके विवाहमें सजावट, रगोली चौक, भोजन, आभूषण, मान-पान आदिका व्यवस्थित निर्देश है, फिर पगत होती है। नाना वाद्योके साथ वरात चल पडती है। मंगल शब्दो और घीकी आहुति-के साथ विवाह होता है। उसके बाद युवतियोका खुलकर हास-परिहास, तरह-तरहकी कामुक चेष्टाओ आदिका अंकन है। (भवि० क० ५)

कवि धाहिलने पद्मश्रीके विवाहका साहित्यिक शैलीमें सुन्दर वर्णन किया है।

ज्योतिषियोंके अनुसार शुभ तिथि तय होनेपर विवाहकी तैयारी प्रारम्भ कर दी गयी। सामान जुटाया जाने लगा। सम्बन्धियोंको न्योते भेज दिये गये। मण्डप सजा दिया गया। बच्चे फूले नहीं समा रहे थे। बालाका मन नाच-नाच उठता था। वाद्योंकी ध्वनिमें ब्राह्मण श्रुतिपाठ कर रहे थे। सुहागिन स्त्रियाँ कौतुक रचकर गीत गा रही थीं। कन्याका अभिषेक हुआ। वस्त्र और गहनोंसे सजाकर आँखोंमें अंजन आंज दिया गया। वह कुलदेवीके सम्मुख ले आयी गयी। इधर कुमार भी सज-धजकर हाथीपर बैठकर बारातके साथ चला। आशीर्वाद और जयगानके बीच बारात वहाँ पहुँच गयी। स्वागत, खान-पान, आदर-सम्मानका प्रबन्ध सुन्दर था। सखियाँ वरको मातृ-मन्दिरमें ले गयीं। पद्मश्रीकी सहेली दूल्हासे मजाक करने लगी। उससे सात दोहे पढवाये। दोनोंका विवाह हो गया (प० सि० च० २४)। जसहर चरिउ (२१), करकण्ड चरिउ (२६) आदिमें भी संक्षेपमें इसीके समान वर्णन हैं।

विवाह—भारतीय समाजकी महत्त्वपूर्ण प्रथा है अत इसका अपभ्रंश कवि विशेष वर्णन करते हैं। अधिकांश कवियोंने विवाहके समय वधूके मुखके ढके रहनेका उल्लेख किया है।

भोजन

विवाह और विशेषत आहारदानके प्रसंगमें अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंमें भोजनका भी वर्णन किया गया है। प्राय कुछ खास पकवानोंके नाम गिनाये गये हैं। एक-दो स्थानोंपर खाद्यान्नोंकी लम्बी सूचियाँ भी हैं। वर्णन प्राय श्लेषमें हैं। इसमें भोजनके गुणोंका उल्लेख अवश्य रहता है। कहीं-कहीं उपमा और उत्प्रेक्षा भी है। जिससे दाता और ग्रहणकर्ताके दृष्टिकोणका पता लग जाता है। मन्दोदरी सीताको भोजन दे रही है—

'पहले उसे गरम पेय दिया, जो (रावणके) विरह-वेगके समान गरम था, जिन-वचनकी तरह तीखा, मीठा और दोषनाशक था। फिर सालन परसे गये जो रावणके आशा-बन्धनकी तरह थे। फिर सुग्ध (सुगन्धित) खाद्य दिया, जो रावणकी दृष्टिकी तरह सुलग्ध था (स० पु० १, ८८८)।

कवि स्वयम्भूने इसी प्रसंगमें खाद्य वस्तुओंके नाम गिनाये हैं—भात, शक्कर, खीर, दूध, लड्डू, नमक, गुड़, तेल, मधु, सोरवत्ति, घेवर,

मूँगकी दाल, तरह-तरहके कूर, सालण, माइणी, माइन्द, अल्लय, पिप्पलि, मिरियामलय, असलक, लवण, मालूर, विभंटिका, कचोर, बासुत्त, पेडअ, पापड, केला, नारिल्ल, दही, करमर, करवंद, सोल (शर्वत), वक, वाइडाण, कारेल्ल, मही, बघारी हुई कढी, सौवीर और खटाई (प० च० २, २३८)।

सीताने वनमें मुनिको आहार दिया। कविकी उपमा है –

दिण्णइं पुणु तिम्मणइं मणिट्ठइं अहिणव कइ वयण इव मिट्ठइं।

(प० च० २, १०७)

इसी तरहका श्लिष्ट भोजन वर्णन पउम चरिउ (२, ३७), जसहर चरिउ (३८) में द्रष्टव्य है। भविसयत्त कहा (८४ पृ०) में एक धार्मिक पगतके अवसरपर भी खाद्य पदार्थोंकी लम्बी सूची दे दी गयी है।

पारिवारिक जीवन

गर्भावस्था—अपभ्रंश काव्योके वस्तु-वर्णनमें इस अवस्थाका चित्रण बराबर मिलता है। करकण्डूकी मांके गर्भवती होनेपर उसके चिह्नोका स्वाभाविक वर्णन है (कर० च० ७)। कमलाकी गर्भावस्थाका भी ऐसा ही वर्णन है (भवि० क० ७)। नागकुमारकी मांकी भी यही हालत हुई (णा० कु० च० १९)। इसमें प्राय शरीरकी कृशता, भारीपन, चेहरेका पीला पड जाना, पेटकी त्रिवलीका मिटना – आदि बातें वर्णित की जाती है। दोहदका उल्लेख भी इसीका एक अग है। पद्मावतीको वर्षामें हाथीपर बैठकर पतिके साथ शहर घूमनेकी इच्छा हुई। कभी कभी इसके भयकर परिणाम भी होते थे।

पुत्रजन्म—पुत्र-उत्सवका भी जहाँ-तहाँ उल्लेख है। पुत्र-पुत्री दोनोके जन्मपर खुशी मनायी जाती थी। पद्मश्रीके जन्मपर उसके पिता सखने हर्ष-बधावा किया। खूब तूर्य बजे और वेश्याएँ नाची। (प० सि० च० १३)। नागकुमारके जन्मपर प्रकृतिमें अनूठी शोभा छा गयी। धवल मगल गीत होने लगे। विलासिनियोका नृत्य हुआ। दानसे दीन, अपाहिज प्रसन्न हो उठे। बन्दी जेलसे मुक्त कर दिये गये (ण० कु० च० २०)। भविसके जन्मपर उसके पिताने शानदार उत्सव किया। एक माह बाद वे बालकको धूम-धामसे जिन-मन्दिर ले गये। दोनोने जिन-पूजा की (भवि० क० ७)।

स्वयवर—स्वयवरका वर्णन तीन प्रकारका है। पहलेमें कन्या अपने पसन्दके व्यक्तिका वरण कर लेती थी। दशरथ और कैकेयी,

जयकुमार व सुलोचनाके विवाह इसी तरह हुए। एक विद्याधरकी कन्या श्रीमालाके स्वयंवरकी चिट्ठी पहुँचते ही देशके कोने-कोनेमे राजा एकत्र होने लगे। स्वयंवर भवनकी शोभा अनूठी थी—

णिय णिय थाढेहि णिवद्ध मंच महा कवि कव्वालोय व सुमंच।

सजे हुए मंचपर बैठकर, उम्मीदवार अपनेको सँवारने लगे—

भूसति शरीरइ वार वार कडाइ मुअन्ति लयन्ति हार।
सुन्दर सच्छाय त्रिकणय डोर अलिय जि चिवति मणेनि थोर।
गायति हसति पुणसणाय अगई मोडति वलति हत्थ।

श्रीमाला सज-धजकर हथिनीपर बैठकर वहाँ आयी और एकके बाद एककी उपेक्षा करती हुई, पीछे अँधेरा और आगे प्रकाश बिखेरती हुई चली।

पुरउज्जोवतिय दीवि जेम पच्छइ अन्धारु करन्ति तेम।
ण गिम्हि कुसुणिवर परिहरन्ति दुग्गध स्वस्र ण भमरपति।

(प० च० १, ६३)

अन्तमे उसने किष्किन्धा नरेशके गलेमें वरमाला डाल दी। वस विद्याधर उसपर टूट पडे। अस्त्रोंकी झकारसे आकाश गूँज उठा।

दूसरे ढगका स्वयंवर सीताका था। उसके चुनावका आधार परीक्षा थी। जो उसमे सफल होता वही कन्याका अधिकारी होता। लेकिन तब भी लडाई हो ही जाती (प० च० २, ७)।

तीसरे ढगमे घोषणा-द्वारा युवकोंको परीक्षाके लिए बुलाया जाता था। कभी कभी यह परीक्षा क्रूर भी होती थी। जैसे वनमालाको पानेके लिए लक्ष्मणको शक्तियाँ झेलनी पडी (प० च० २, ८०)। इससे पहले इसे पानेके लिए सैकडो युवकोंका खून हो चुका था। उनकी हड्डियोसे एक पहाड बन गया था। वीणा भी चुनावका उत्तम साधन थी।

स्वयंवरकी ये प्रथाएँ सामन्त घरानो तक ही सीमित थी। क्योंकि साधारण जनता इतना खर्च नही उठा सकती। स्वयंवर प्रथाकी यह वर्णन-परम्परा केशवकी रामचन्द्रिकामे है।

युद्ध

अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यमें प्रेम-प्रसगकी अपेक्षा युद्ध प्रसगका वर्णन अधिक है। इस प्रकरणमें इनके कारणोंका विचार किया गया है। युद्ध-वर्णनकी निम्नलिखित पद्धतियाँ मिलती है—

१. युद्धकी घोषणा होते ही सुभट उल्लासपूर्ण तैयारी शुरू कर देते है। कोई तलवार कमरपर कसता है, कोई धनुषपर डोरी चढ़ाता है, कोई म्यानसे तलवार खीचता है (म० पु० १, २८६)।

२. युद्धमें जानेके पहले योधा अपनी पत्नियोसे अवश्य मिलते है। बढ-चढ़कर अपनी शेखी बघारते हैं। जैसे एक योधा कहता है—'मैं जो गजोका सिर फाडूँगा, उससे घरके ऊखलका काम चलेगा। जो खींस उखाड़ूँगा उसका मूसल बन जायगा (प० च० १, १२१)। बीचमें शृगारका पुट भी रहता। जैसे कोई भट कह रहा है—'जरा जल्दी आलिगन दे दे, मुझे आज शत्रुका सफाया कर अपने स्वामीका राज्य निष्कण्टक बनाना है (म० पु० १, २८७)।

३ सेनाके अभियानका आतकपूर्ण वर्णन मिलता है। वासुदेवकी सेनाके प्रस्थान करते ही उसकी फहराती ध्वजाओसे आकाश काँप उठा, हाथियोके भारसे धरती दबने लगी। रथोकी ची-चीसे शत्रुओका नाश सूचित होने लगा। अश्व-खुरोसे आहत धूलने सूरजको ढक दिया। (म० पु० २, १६१) करकण्डूके चलते ही धरती काँप उठी, दिशाएँ धूलसे भर गयी (कर० च० २८)।

शस्त्रपूजा भी युद्ध-प्रसगका एक अंग है। खास-खास हथियारो (चक्र० खड्ग, धनुष आदि) की पूजाका बराबर उल्लेख है। अधिकतर विजय इन्हीपर अवलम्बित थी। भरतने चक्रसे ही सारी धरती जीती। राम लक्ष्मणकी सारी विजयोका श्रेय इनके धनुषोको है। रावणको सूर्य-हास खड्ग मिल जाता तो वह हारता ही नही। शस्त्रोका उपयोग भी बडी सावधानी और विधि-विधानसे किया जाता था। चक्रवर्ती भरत तीर चलानेके पहले उपवास रखता था (म० पु० १, १२-१३वी सन्धियाँ)। वस्तुत ये पौराणिक अस्त्र है, जो दिव्य शक्तिके प्रतीक समझे जाते थे। हिन्दू पुराणोमे भी ऐसे अस्त्रोका उल्लेख है। अत इनके प्रति पूज्य-भावना उस युगमें स्वाभाविक ही थी।

धनुषकी टकारका युद्ध-वर्णनमें अवश्य उल्लेख रहता है। करकण्डूके धनुषकी टकारसे तारा, ग्रह और सूरज हिल उठे। धरती डगमगा गयी। बिलोसे सांप निकल आये। सूरजके घोडे भयके मारे ध्वस्त हो गये। पहाड़ थर्रा उठे, वरुण, यम आदि आशकित हो उठे (कर० च० ३२), (म० पु० १, २१८, प० च० २, ५५, १८१), ये वर्णन हिन्दी कवियोंके समकक्ष है।

युद्ध प्रसंगमें स्त्रियोंकी गर्वोक्तियाँ अधिकतासे मिलती हैं। इनमें शृंगार और गर्वका अपूर्व मिश्रण रहता है। युद्धके लिए सन्नद्ध अपने पतिसे कोई कहती है, 'इतना करना कि पीछे मुँह कर पैर मत देना।' कोई कहती, 'मैं तभी अपनेको धन्य मानूँगी, जब शत्रुकी खोपड़ीमें रक्तके घीका दिया जलाऊँगी।' एक और कहती, 'किसी सिद्धकी आज्ञासे पिशाच-को अपने साथ रखना, जिससे वह तुम्हारे मरणकी सूचना हमें दे सके, मैं भी तब तुमसे रमण करने आऊँगी।' (म० पु० २, ४८८)। भविसकी पत्नियाँ उसे यही समझाती हैं कि राजाके दान-मानकी लाज रखना (भवि० क० १०१)। कई पत्नियाँ चाह रही थीं कि वे पतियोंको रक्तका टीका लगायें, और उनका पति गजघटाका आलिंगन करे, उनका नहीं (म० पु० १, १६७)।

युद्ध शुरू होनेके पूर्व प्रायः दूत-द्वारा सन्धि करनेका प्रयत्न किया जाता। दूतके प्रतिवेदनके बाद ही युद्ध प्रारम्भ होता। अन्यत्र इस बातका निर्देश हो चुका है कि कितने युद्धोंमें ये दूत किस प्रकार भेजे गये। दूतका प्रस्ताव अस्वीकृत होता और युद्धका निमन्त्रण आ जाता। युद्धका अन्त प्रायः हार-जीतमें ही होता। पर कभी मन्त्रियोंके अनुरोधसे सामूहिक युद्धकी अपेक्षा द्वन्द्वयुद्ध-द्वारा ही प्रमुख योधा हार-जीतका निपटारा करते। कभी लड़की बीचमें पड़कर (प० च० २, २५) युद्ध रुकवा देती। कभी लड़नेवाले सम्बन्धी हुए, तो जानकारी होनेपर युद्ध दृश्य मिलन-दृश्यमें बदल जाता। वस्तुतः अधिकांश युद्ध 'सुभट भिड़न्त' ही होते। उनमें प्रायः हाथा-पाई, गाली-गलौज, मार-पीट और हल-मूसलके प्रहारोंकी ही मुख्यता होती। युद्धके बाद घायलोंका क्या होता था, इसका वर्णन नहीं है। पराजित शत्रु या तो क्षमायाचना कर लेता है, या फिर सन्यास ग्रहण कर लेता है। युद्धमें आहत सामन्तोंकी अनुमरण पत्नियोंके सती होनेकी प्रथाका उल्लेख इस काव्यमें नहीं है। यद्यपि यह प्रथा उन दिनों थोड़ी-बहुत थी। सती होनेके स्थानपर वे जिन-दीक्षा ग्रहण कर लेती हैं।

गज वर्णन

अपभ्रंश कवियोंको गज वर्णन खूब प्रिय है। युद्ध हो या विवाह सब जगह हाथीकी ही पूछ है। कभी हाथी उत्पात भी कर देते थे (णा० कु० च० ३५)। जान पड़ता है गुप्त युगमें हाथीका जो महत्त्व था, वह उत्तरकालमें और भी बढ़ गया। राजा हाथी पालनेमें विशेष दिलचस्पी

लेते थे। रावण जिस हाथीको पकडने गया था वह ७ हाथ ऊँचा, ९ हाथ लम्बा, १० हाथ चौडा, ३ हाथ विस्तृत था। दांत स्निग्ध और आँखें शहदकी तरह पीली थी। अलसीके फूलकी तरह लाल सूँड और मुख था। ५ मगलावर्तोंसे सहित मद और अच्छे लक्षणोसे युक्त था (प० च० १, ९३)। यह भद्र जातिका हाथी था। वाण-द्वारा वर्णित, हर्षका दर्पशात हाथी भी इसी जातिका था (ह० सा० अ० ४१), पर दोनोके लक्षण नही मिलते। सम्भव है इसकी भी कई जातियाँ रही हो। अपभ्र श साहित्यमें स्वभाव और उपयोगिताकी दृष्टिसे हाथियोके कई भेद किये हैं (प्रक० ५०)। 'रावण लाठी लेकर उसे पकडने चला। उसने कलकल किया, तूर्य बजते ही हाथी उसपर ऐसा झपटा जैसे मेघ विन्ध्याचलपर। उसने सूँडपर लाठी मारी और हाथीके आघात करनेके पहले ही वह फुरतीसे बाहु ठोककर पीठपर चढ गया। फिर वुद-वुद कहकर उसने गरदनपर मारा। कभी कन्धेपर होता और कभी पैरोके बीचमें। उसने हाथीका नाम त्रिजगभूषण रखा (प० च० १, पृ० ९४)। णायकुमार चरिउ (पृ० ३६) का हाथी पकड़नेका वर्णन इमसे मिलता है। हाथीकी सजावटका भी उल्लेख मिलता है (प० सि० च० पृ० २२, म० पु० ३, पृ० ३७, प० च० १६०)।

जल-क्रीड़ा

जल-क्रीडाके वर्णनकी प्रवृत्ति अपभ्र श कवियोमे वहुत है। स्वयभूको जल-क्रीडाके वर्णनकी श्रेष्ठतापर नाज था। काव्यादर्शमे जल-क्रीडाका उल्लेख महाकाव्योके लिए आवश्यक माना गया है। स्वयभूने जल-क्रीडाका विशेष रूपसे वर्णन किया है, पुष्पदन्तने उद्यान-क्रीडाका। स्वयभूके जल-क्रीडा वर्णनकी श्रेष्ठताके तीन कारण है – १ प्राकृतिक पृष्ठभूमिका देना, २ साधनो और क्रीडाका उल्लेख ३ पुष्पदन्तकी अपेक्षा वह सयत है। स्वयभूको वसन्तमें जल-क्रीडा पसन्द थी, पुष्पदन्तको शरद और वसन्तमें। फिर भी वह पुष्पक्रीडा, वनक्रीडा आदिका वर्णन पसन्द करते है। स्वयभूने नदी और सरोवर दोनोमे जल-क्रीडा करवायी है। पुष्पदन्तकी जल-क्रीडा सरोवर तक सीमित थी। वास्तवमें जल-क्रीडा शृगारका जीता-जागता दृश्य थी। कविके शब्दोमें 'कही-कही टूटे हुए हारोंसे पानी सफ़ेद हो रहा था, कहीं नूपुरोकी झकार हो रही थी, तो कहीं सुवासित स्त्रियाँ क्रीडा कर रही थी (प० च० १, ११६)। खेल-खेलमें कोई राजाकी

कमल मार रही थी, कोई-कोई नयी मालतीमाला, कोई पाटल कुसुम, कोई पूगफल और कोई वकौली। इतनेमें राजाने यह कहकर डुबकी मार ली कि 'लो मुझे पकडो, रमो, नहाओ, छिपो।' तब महादेवीने भी ऊँह कहकर गोता लगाया (वही ११६, ११७)।

रावणके अनुचरोंने आकर जलयन्त्रोंका वर्णन इस प्रकार किया –

अवरेक्केण वुत्तु मइ जतइ दिट्ठइ णिम्मले सलिले तरतइ।
थइं सुदरइ सुक्खिय कम्माइ व सुवडियाह अहिणव पेम्माइ व।
णिग्गलाइ सु किविण हिययाइव णिडण समासिय सुक्खिय पयाइ व।
सचारिमह कुपुरस धणाइ व कारिमाइ कुटणि वयणाइ व।

(प० च० १, १२०)

लक्ष्मण कल्याणमालाकी जल-क्रीडाका वर्णन इस प्रकार देखता है –

तरुवरे तरुवरे मचु णिवद्धउ मचे मचे थिउ जणु समलद्धउ
मचे मचे आलावणि वज्जइ महु पिज्जइ हिंदोलइ गिज्जइ।

(प० च० २, ४६)

पुष्पदन्त पहले वन-क्रीडाका वर्णन करते हैं फिर जल-क्रीडाका। राम अन्तःपुरके साथ जैसे ही नन्दनवनमें पहुँचे, एक मुग्धाको देखकर हंस चौंक उठा। वह अपनी गतिका लीला-विलास ही भूल गया। किसीके हाथमें भ्रमर आ लगा। वह अपनेको जट समझ रहा था। किसीसे आकर मृग चिपट गया, मानो वह उससे दीर्घ कटाक्ष माँग रहा था। किसीने कमल अपने कानोंमें लगा लिया, क्योंकि वह उसके नेत्रोंसे हार मानकर कुम्हला रहा था। किसीने कुवलयमाला पहन ली, किसीने लताकी करधनी बना ली (म० पु० २, ४११)।

पक्षियोंका कलरव सुननेके बाद जल-क्रीडा शुरू हुई। पुष्पदन्त इसमें शृंगारका खुला वर्णन करते हैं –

अल्लउ परिहणु दलिउ विहाविउ लज्जइ ससिलि अगु लिहक्काविउ
कावि उरत्थलि चडिय उविंदहु भावइ विज्जुल अहिणव कदउ।

(म० पु० २, पृ० ४१३)

कृष्णकी जल-क्रीडामें भी लगभग यही बात है –

काहि वि सुण्णु वधु तणुरत्तियउ अगावयवु सव्वु पायडियउ।

(म० पु० ३, पृ० ११६)

नारीके विविध रूप

नारीके विविध रूपोका वर्णन तीन प्रकारका है – १. शास्त्रोके आधारपर, २ प्रादेशिक दृष्टिसे, ३ चरित्रको लेकर। रामने लक्ष्मणसे चन्द्रनखाके साथ विवाह करनेको कहा, इसपर उसने सामुद्रिक और कामशास्त्रके आधारपर बताया – 'जिसकी जघा और छाती अभग हो, हाथ अँगुली, नख और नेत्र लम्बे हो, नाक और भाल उन्नत हो, ऐसी स्त्री तीन बच्चोंकी माँ होती है। जो काकके समान स्वर और पैरवाली होती है, जिसके पैरोकी अँगुली बराबर होती है, उसकी आयु कम होती है। जो हस और वीणाके स्वरवाली, मधुके रगके महामेघके समान कान्तिवाली होती है तथा जिसकी नाभि, सिर और स्तन गोल होते हैं वह बहुपुत्रा और धानवाली होती है। जिसके हाथमें मछली, कमल आदि चिह्न होते हैं, वह शान्तलक्षणा होती है। जिसपर चक्र, कुण्डल और अंकुश उभरे हो, जिसकी रोमावलि शखकी तरह झुकी, भाल अर्धचन्द्रके समान और दाँत मोती-जैसे हो, वह चक्रवर्तीकी पत्नी और चक्रवर्तीकी तरह होती है। पर यह तो खोटी महिला है। इसकी जाँघें और हाथ मोटे है, आँखें चचल हैं। चलनेमें उतावली करती है। पैर कछुएकी तरह उभरे, बाल कडे और कपिल रगके है। अँगुलियाँ विषम है, रोम घने है, पति पुत्र दोनोको यह खा जायेगी। जिसकी भौहें मिली हुई होती हैं वह अवश्य ही व्यभिचारिणी है। जो दरिद्र, तीतर और बटेरकी तरह आँखवाली होती है वह अवश्य जमभक्षिणी है। जिसकी नजर, स्वर आदि खराब हो वह दुखिया रहती है। थोडी चपटी नाकवाली लजिका (वेश्या) होती है। जिसकी कमर नाभि और मुख मसीला हो वह अवश्य राक्षसी है। भला इससे मैं कैसे विवाह कर सकता हूँ।' (प० च० २, १२२)।

रावण सीताको देखकर स्त्रीके चार भेद करता है—भद्रा, मन्दा, लता और हसी। इनमे पहली सबसे अच्छी होती है (म० पु० २, ४०६)। फिर कवि ऋषि, विद्याधर आदिकी स्त्रियोको गिनाता है। उनमें तापसी गोरी और भोली होती है। विद्याधरी मदिरा और फूलोको पसन्द करती है। यक्षिणीको धनका लालच होता है। पिशाचिनी तामसिक और घुमक्कड होती है। स्त्रियोंके और भी भेद होते हैं। जैसे—मारसी, मृगी, रिठूणी, गयी, धृतराष्ट्री, महिषी, खरी आदि (म० पु० २,४०६)। इनके भी लक्षण गिनाये हैं।

प्रदेशोंके आधारपर स्त्रियोंका वर्णन इस प्रकार है—मालविनी इच्छित सुखको देनेवाली होती है। बनारसकी बनवासिनी स्त्री तेज बोलनेवाली और लम्पट होती है। (अर्बुद) पहाड़की स्त्री गजगामिनी होती है। धन वह पहले ही हड़प लेती है। सीमित रति-सुख लेकर फिर काम-काजमें जुट पड़ती है। सिन्धु देशकी महिला सुन्दर गीतोंसे खुश रहती है। इसपर वह प्राण और पैसा दोनों अर्पित कर देती है। कोसल देशकी स्त्री मायाविनी होती है। सिंहली स्त्री रतिके गुणसे पायी जा सकती है। द्राविडी नख और दन्तच्छद सह सकती है। आन्ध्री अधिक रतिसे डरती है। उड्नारीको काम-विज्ञानसे पाया जा सकता है, और कलिंगीको उपकारके द्वारा। सौराष्ट्रकी नारी चुम्बनसे ही खुश हो जाती है। गुजरातिन अपने काममें दक्ष होती है। महाराष्ट्र महिलाको कितना ही सिखाओ वह धूर्त ही रहती है। कुछ भी हो पर कोंकण देशकी स्त्री तो प्रियके ध्यानमें ही सूखती रहती है। पाटलिपुत्रकी महिला लीला-प्रदर्शनसे खुश रहती है। पारियात्रकी स्त्री अच्छा व्यवहार करती है। हिमवन्तकी स्त्री कुछ जादू जानती है, उससे प्रिय उसके पैरोंपर गिर पड़ता है। मध्यदेशकी महिला कलाविद् होती है और कमलकी तरह सुकुमार। (म० पु० २,४०७)

चरित्रकी आलोचना वहीं है जब स्त्री शीलसे गिरती है। पर कभी-कभी सन्देह मात्रसे भी यह सम्भव है। जैसे समुद्र कहता है—'दुराचारिणी स्त्री माँ-बाप, भाई-बहन कुछ भी नहीं गिनती। मरण भी उसके लिए कुछ नहीं है। उसे न भय होता और न लज्जा। कपटसे पतिको मरवाकर दूसरेसे रमण करती है। फिर वह भी पसन्द नहीं आता। वह भंगिमाओंसे युक्त, पलंगपर लेटी हुई वह ऐसी लगती है मानो साँपोंसे लिपटी चन्दनलता हो। कुलटा स्त्री सन्ध्याकी तरह शीघ्र अपना रंग बदल लेती है। धनुषकी तरह गुणसहित होकर भी वह कुटिल होती है।' (प० सि० च० २९)

नलकूबर नरेशकी पत्नीने रावणके पास अनुचित प्रस्ताव भेजा, इसपर वह कहता है—

अहो मारसु पसणउ पहुसुयवि ज महिल रमइ त पुरिसु ण वि।
दुम्महिल जि सोमिया जम पयगि दुम्महिल जि असणि जगरवि करि।

दुम्महिल जि सविस भुयंग फुउ दुम्महिल जि वइवस महिस झड।
दुम्महिल जि गरुय वाहि घरहो दुम्महिल जिवग्घ मज्झ घर हो।
(प० च० १, १२६)

परन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि अपभ्रश कवियोने नारीकी निन्दा-ही-निन्दा की है। उपयुक्त अवसर आनेपर वे नारीके प्रशसक भी है—

सोरह वर वहुयए धव लच्छिए साहह माहव उरयल लच्छिए।
(णा० कु० च० ८४)

राम यहाँतक कह देते है कि ससारमें सब कुछ पाया जा सकता है, पर सुन्दर योग्य स्त्रीका पाना कठिन है। (प० च० २ पृ० १४१)

रूप-चित्रण—अपभ्रश काव्योमें नरकी अपेक्षा नारीका रूप-चित्रण अधिक है। नारी और प्रकृतिमें ये कवि भेद नहीं देखते। दोनोके सौन्दर्य उपादान एक-दूसरेके उपमेय-उपमान बनकर आ सकते है। (म० पु० २, पृ० ४१२) यह चित्रण कविसमयके अनुसार है। स्त्रीके अगोकी तुलनाके लिए प्राकृतिक उपमान ही आते है। पद्मश्रीका रूप-वर्णन यह है, 'उसके बाल भ्रमर और अजनकी तरह काले, भाल पंचमीके चाँदके समान वक्र, और नेत्र नील-कमलकी तरह थे। उसका मुख लक्ष्मीके लीला-कमलका उपहास करनेवाला था। ओठ कुन्दरू-जैसे और कण्ठ शखकी तरह था।' या 'टूटी हुई वीणाकी तरह स्तन भार, कल्पलताके पल्लवके समान सुन्दर हाथ, सुन्दर नाभि प्रदेश, तरगकी तरह त्रिवलि, रक्त कमलकी तरह पैर, शशि किरणकी तरह नख, और कोइलके समान वाणी थी।' (प० सि० च० १३, १४) धाहिलका भविष्यानुरूपाका रूप-चित्रण भी ऐसा ही है पर क्रम उसमें 'नख-शिख' है जबकि यहाँ 'शिख-नख' है। पद्मावतीका रूप-वर्णन निम्नप्रकार है—

'चमकते हुए दाँत अनारके दानोकी तरह लगते थे। नाककी उन्नति न सह सकनेसे ही उसके ओठ मानो लाल हो उठे थे। मुखपर बाल ऐसे लगते थे मानो केतकीपर भ्रमर मडरा रहे हो। अत्यन्त सघन भौहें, कामदेवकी धनुष-यष्टिकी तरह जान पडती थी। शोभामें अमूल्य उसका भालतल ऐसा प्रतीत होता था मानो आधा चांद ही वहाँ आकर लग गया हो। खूब नीले-घने केश ऐसे लगते थे मानो मुखचन्द्रके डरसे अन्धकार ही आपसमें मिल रहा हो।'

यहाँ हेतु उत्प्रेक्षामे ही यह चित्रण है (क० च० ११)। पृथ्वीदेवीके रूपचित्रको देखकर जयन्धरकी यह उक्ति है—

ण काम भल्लि ण काम वेल्लि ण कामहो केरी रहसु हेल्लि।
ण काम जुत्ति ण कामवित्ति ण काम थत्ति ण काम मत्ति।

(णा० कु० च० ११)

कन्याकी अपेक्षा वधूका रूप-चित्रण अधिक है। कमलश्रीके रूपका (भवि० क० ५) वर्णन है, पर विवाहके उपरान्त। इसी तरह पृथ्वीदेवी-का भी (णा० कु० च० १२)। वर्णनका क्रम नख-शिख भी है और शिख-नख भी। कहीं इनमें-से किसी एकका आदिसे अन्त तक निर्वाह है, कहीं उसमें भी व्यतिक्रम है। कवि पहले दाँतका वर्णन करता है फिर उरका, और तब नेत्रका, जैसे मरुदेवीके रूप-वर्णनमें। (म० पु० १, पृ० ३२९) वर्णनमें उत्प्रेक्षा अधिक है। मरुदेवीके ही रूप-चित्रणमें ये उत्प्रेक्षाएँ हैं – १ नभसे उतरकर क्या देवपतिने मेरे पैरोंकी लाली देख ली, यही सोचकर मानो नूपुर रुनझुन कर रहे थे। २ जाँघें नीचेको क्षीण थीं, मानो खलजनकी करनी हो। ३ भौंहोंकी वक्रता न सह सकनेसे आँखोंने कानोंके पास शरण ली। ४ स्तन मानो कामदेवके तोरण-स्तम्भ थे।

उपमा भी है – उसके सन्धि-बन्ध राजाकी मन्त्र-भाषाकी तरह गूढ़, व्याकरणकी तरह समस्त और काव्य (अप० काव्य) की तरह सन्धियुक्त थे। (म० पु० १, पृ० ३२) प्रतीक शैलीमें भी वर्णन है –

१ चित्तकी गतिको रोकनेवाले उसके स्तन-युगल कहाँ और कहाँ कवियोंके कल्पित कनक कलश। २ जलानेवाली उसकी मुख शोभासे ही चन्द्रमा मैला और काला हो गया। ३ मृग उस अवलोकनको नहीं जानते जिससे कुमारियाँ देखती हैं, फिर भी पता नहीं उन्हें क्यों मृगनयनी कहा जाता है। ४ उस गुरु नितम्बका क्या वर्णन हो जिससे त्रिभुवन लघु हो गया। (म० पु० १, पृ० ४३९) प्रौढोक्ति भी है, पर स्वल्प पुष्पदन्तमें। (म० पु० १ पृ० ३९५) अतिशयोक्तिमें रूप-चित्रण नहीं मिलता। व्यतिरेक या उल्लेखमें गुणमूलक वर्णनके उदाहरण अवश्य हैं। (प० च० १, ७, जस० ५) श्लेष शैलीमें सीताका रूप-चित्र यह है उसकी देह, सुकविकी कथाकी तरह सन्धि (जोड़ सन्धि), पद (पद-पैर), सुवयण (वचन, वदन), शब्द (अक्षर स्वर) से युक्त थी। रोमराजि चींटियाकी कतारकी भाँति थी। (प० च० २ पृ० [illegible])

---

१ गुणोंने इसे धनात्मक। मौलिक उपमा मानी है, पर यह ठीक नहीं। (णा० च० भूमिका)

दुम्महिल जि सविस भुयंग फुउ दुम्महिल जि वइवस महिस झड।
दुम्महिल जि गरुय वाहि घरहो दुम्महिल जिवग्घ मज्झ घर हो।
(प० च० १, १२६)

परन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि अपभ्रश कवियोने नारीकी निन्दा-ही-निन्दा की है। उपयुक्त अवसर आनेपर वे नारीके प्रशसक भी हैं—

सोरह वर वहुयए धव लच्छिए साहह माहव उरयल लच्छिए।
(णा० कु० च० ८४)

राम यहाँतक कह देते हैं कि ससारमें सब कुछ पाया जा सकता है, पर सुन्दर योग्य स्त्रीका पाना कठिन है। (प० च० २ पृ० १४१)

रूप-चित्रण—अपभ्रश काव्योमें नरकी अपेक्षा नारीका रूप-चित्रण अधिक है। नारी और प्रकृतिमें ये कवि भेद नही देखते। दोनोके सौन्दर्य उपादान एक-दूसरेके उपमेय-उपमान बनकर आ सकते हैं। (म० पु० २, पृ० ४१२) यह चित्रण कविसमयके अनुसार है। स्त्रीके अंगोकी तुलनाके लिए प्राकृतिक उपमान ही आते है। पद्मश्रीका रूप-वर्णन यह है, 'उसके वाल भ्रमर और अजनकी तरह काले, भाल पचमीके चाँदके समान वक्र, और नेत्र नील-कमलकी तरह थे। उसका मुख लक्ष्मीके लीला-कमलका उपहास करनेवाला था। ओठ कुन्दरू-जैसे और कण्ठ शखकी तरह था।' या 'टूटी हुई वीणाकी तरह स्तन भार, कल्पलताके पल्लवके समान सुन्दर हाथ, सुन्दर नाभि प्रदेश, तरगकी तरह त्रिवलि, रक्त कमलकी तरह पैर, शशि किरणकी तरह नख, और कोइलके समान वाणी थी।' (प० सि० च० १३, १४) घाहिलका भविष्यानुरूपाका रूप-चित्रण भी ऐसा ही है पर क्रम उसमें 'नख-शिख' है जबकि यहाँ 'शिख-नख' है। पद्मावतीका रूप-वर्णन निम्नप्रकार है—

'चमकते हुए दाँत अनारके दानोकी तरह लगते थे। नाककी उन्नति न सह सकनेसे ही उसके ओठ मानो लाल हो उठे थे। मुखपर बाल ऐसे लगते थे मानो केतकीपर भ्रमर मडरा रहे हों। अत्यन्त सघन भौहें, कामदेवकी धनुष-यष्टिकी तरह जान पड़ती थी। शोभामें अमूल्य उसका भालतल ऐसा प्रतीत होता था मानो आधा चाँद ही वहाँ आकर लग गया हो। खूब नीले-घने केश ऐसे लगते थे मानो मुखचन्द्रके डरसे अन्धकार ही आपसमें मिल रहा हो।'

यहाँ हेतु उत्प्रेक्षामें ही यह चित्रण है (क० च० ??)। पृथ्वीदेवीके रूपचित्रको देखकर जयन्धरकी यह उक्ति है—

ण काम मल्लि ण काम वेल्लि ण कामहो केरी रहसु हेल्लि ।
ण काम जुत्ति ण कामवित्ति ण काम थत्ति ण काम सत्ति ।

(णा० कु० च० ११)

कन्याकी अपेक्षा वधूका रूप-चित्रण अधिक है। कमलश्रीके रूपका (भवि० क० ५) वर्णन है, पर विवाहके उपरान्त। इसी तरह पृथ्वीदेवी-का भी (णा० कु० च० १२)। वर्णनका क्रम नख-शिख भी है और शिख-नख भी। कहीं इनमें-से किसी एकका आदिसे अन्त तक निर्वाह है, कहीं उसमें भी व्यतिक्रम है। कवि पहले दाँतका वर्णन करता है फिर उरका, और तब नेत्रका, जैसे मरुदेवीके रूप-वर्णनमें। (म० पु० १, पृ० ३२९) वर्णनमें उत्प्रेक्षा अधिक है। मरुदेवीके ही रूप-चित्रणमें ये उत्प्रेक्षाएँ हैं — १ नभसे उतरकर क्या देवपंक्तिने मेरे पैरोंकी लाली देख ली, यही सोचकर मानो नूपुर रुनझुन कर रहे थे। २ जाँघें नीचेको क्षीण थीं, मानो खलजनकी करनी हो। ३ भौंहोंकी वक्रता न सह सकनेसे आँखोंने कानोंके पास शरण ली। ४ स्तन मानो कामदेवके तोरण-स्तम्भ थे।

उपमा भी है — उसके सन्धि-बन्ध राजाकी मन्त्र-भाषाकी तरह गूढ़, व्याकरणकी तरह समस्त और काव्य (अप० शब्द) की तरह सन्धियुक्त थे। (म० पु० १, पृ० ३२) प्रतीक शैलीमें भी वर्णन है —

१ चित्तकी गतिको रोकनेवाले उसके स्तन-युगल कहाँ और कहाँ कवियोंके कल्पित कनक कलश। २ जलानेवाली उसकी मुख शोभासे ही चन्द्रमा मैला और काला हो गया। ३ मृग उस अवलोकनको नहीं जानते जिससे कुमारियाँ देखती हैं, फिर भी पता नहीं उन्हें क्यों मृगनयनी कहा जाता है। ४ उस गुरु नितम्बका क्या वर्णन हो जिससे त्रिभुवन लघु हो गया। (म० पु० १, पृ० ४३९) प्रौढोक्ति भी है, पर स्वल्प पुष्पदन्तमें। (म० पु० १ पृ० ३३५) अतिशयोक्तिमें रूप-चित्रण बहुत मिलता। व्यतिरेक या उल्लेखमें गुणमूलक वर्णनके उदाहरण अवश्य हैं। (प० च० १, ७, जस० ५) श्लेष शैलीमें सीताका रूप-चित्र यह है उसकी देह, सुकविकी कथाकी तरह सन्धि (जोड़ सन्धि), पद (पद-पैर), सुवचन (वचन, वदन), छन्द (अभिप्राय) से सुघड़ थी। रोमराजि चींटियोंकी कतारकी भाँति थी। (प० च० २ पृ० १३[illegible])

अपभ्रंश कवि सौन्दर्य-चित्रणमे विद्रूप और बीभत्स उपमाएँ नही देते। रूप-चित्रणमे अगोपागका वर्णन न कर केवल उसके प्रभावका ही उल्लेख कर दिया जाता है। सुलोचना स्वयवरमें पहुँचकर जिसे भी देखती उसे सन्तप्त बना देती (म० पु० १, पृ० ४४३), ऐसा चित्रण प्राय' स्वयवर और आसक्तिके प्रसगमे ही आता है।

साधारण अवसरपर प्रथम प्रदर्शनके बाद ही रूप-चित्रणकी प्रथा सर्वत्र नही है। विशेष परिस्थितिमे उत्पन्न पात्रके भावको लक्ष्यमें रखकर उसके रूपका चित्रण करना इन कवियोकी मुख्य विशेषता है। उदाहरण-के लिए—स्वयभू कैकेयीका पहले रूप-चित्रण नही करते लेकिन जब वह दरबारमे अपने वरदान माँगने जाती है तब देखिए—

णवा सोय वच्छच्छया छाय पाणी।
वरालाविणी कोइलालाव वाणी॥
महा मोर पिच्छोह सकास केसा।
अणगस्स मल्लीव पच्छणूण वेसा॥

(प० च० २, १२)

पुरुषके रूप-चित्रणमें प्राय शौर्यकी झलक है जैसे वाहुबलिका वर्णन (म० पु० १, ८३)। अपभ्रश कवि शृगारकी दृष्टिसे ही रूप-चित्रण नही करते, किन्तु भद्दे रूपका भी चित्रण सफलतासे करते हैं। जसहर राजाकी रानी जिस कुबडेसे प्रेम करती थी, उसका वर्णन इस प्रकार है—

वव दड्ढ थाणु संकास तणु जो दीह दंत दतुर वयणु।
कदम बुव्वुभ सणिह णयणु अइ अङ्गु वियङ्गु हङ्गु विसमु।
णिरु फुट्टपाय कयणय विरमु॥

(जस० च० २७)

स्त्रियोकी प्रतिक्रियाका वर्णन अपभ्रश प्रवन्ध-काव्योमें विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। किसी वातको लेकर स्त्रियोंपर सामूहिक रूपसे क्या प्रतिक्रिया होती है, इसके वर्णनकी प्रवृत्ति अधिक है। यह खबर लगते ही कि जिन या कोई साधु आये हैं स्त्रियाँ झुण्डके झुण्ड बनाकर चल पडती है। (म० पु० १, पृ० १८, कर० च० ८?) आदि जिन आहार-को निकले तो स्त्रियाँ दौडीं। कोई कहती, इधर तो देखिए, मैं पनसे हाथ जोडे खडी हूँ। कोई कहती, भगवन् दया कीजिए, एक बार दोत-

भर लीजिए। कोई कहती, प्रभु मेरे घर आइए, क्या मेरी सेवा अच्छी नहीं लगती। (म० पु० १, १४२)।

एक स्थलपर कृष्णको देखकर स्त्रियाँ इस प्रकार कहती हैं—कोई बोली, 'अरे यह संकर्षण हलधर है। पर यह तो हल नहीं चलाते, खींचते (हृदयको) जरूर हैं।' कोई बोली, 'अरे रे, यह वही नारायण है, जिन्होंने स्वयंप्रभाका दिल चुरा लिया है।' (म० पु० ३, पृ० १५१)।

रामके वियोगमें अयोध्याकी नारियाँ विकल थीं—'कोई हिरनीकी तरह विपन्न थी, कोई दहाड़ मारकर रो रही थी। कोई जब दर्पण देखती तो उसमें लक्ष्मण ही दीखते। (प० च० २, २३)

लक्ष्मणको देखकर लंकाकी कुमारियाँ कामविह्वल हो उठीं—'कोई बड़ोंके डरके कारण मलिन दृष्टिसे देख रही थी, कोई चंचल कटाक्षसे। किसीकी करधनी खिसक गयी, कोई बेसुध हो गयी। किसीने कहा, 'हला चलो इन्हें देख लें, शायद यह घर आ जायें।'

इस प्रकारके वर्णन-प्रसंगमें तीसरे स्त्री-पात्रकी योजना इन काव्योंमें बहुत है। ये पात्र मुख्य कथाके अंग तो नहीं होते, पर उनकी बातचीतसे वर्णनमें रोचकता आ जाती है। तुलसीने राम वनके वर्णनमें जो ग्राम-वधुओंका सन्निवेश किया है, वह इसी परम्पराके कारण। मानसके राम ईश्वर हैं। ग्रामीण नारियाँ भी मुगल युगकी हैं, इसलिए उनमें श्रद्धा, विनय और संकोच है। परन्तु इन काव्योंके नायक प्रायः कामदेवके प्रतीक हैं। नारीको भी स्वतन्त्रता अधिक थी, अतः उनके उद्गारोंमें शृंगार-भावना अधिक है। फिर भी सूरके लीला गानमें यह प्रवृत्ति साफ दिखाई देती है।

भावव्यंजना

पात्र-द्वारा व्यंजना वर्णनवाली शैलीकी अपेक्षा [illegible] उक्तिमूलक शैली अधिक है। अतः भावव्यंजनाके साथ इसमें वस्तु-व्यंजना भी मिलती है। गर्वकी व्यंजना बहुत है, इसका कारण नायकोंका युद्धवीर होना है। रावण कहता है, 'मैं [illegible] करता हूँ, दिग्गजोंको चूर-चूर कर सकता हूँ। [illegible] बाँध सकता हूँ, समुद्रका जल सोख सकता हूँ, [illegible] सकता हूँ। चन्द्र और सूर्यका हरण कर सकता हूँ, आकाश-पाताल एक कर सकता हूँ, पर [illegible] ग्रहण नहीं कर सकता।' (प० च० [illegible])

यह तुलसीके पद 'जो हौ अनुशासन पावो'से तुलनीय है।

निर्वेद—विरक्त बाहुबलिकी उक्ति है—

कंचण कडे जंबुउ विंधइ मोत्तियदामें मंकडु बंधइ।
खीलिय कारिणि देउलु मोडइ, सुत्त णिमित्तु दित्तु मणि फोडइ।
कप्पू राय रुक्खु णिसुमइ कोद्दव छेत्तहु वइ पारंभइ।
तिलखलु पयइ डहिवि चंदण तरु विसु गेण्हइ सप्पहु ढोयवि करु।
पीयइ कसणय लोहिय सुक्कइ तक्कें विक्कइ सो माणिक्कइं।
जो मणु यत्तणु भोए णासइ तेण समाणु होणु को सीसइ।

(म० पु० १, २६९)

आवेग—अंजनाके मूर्छित होनेपर वसन्तसेनाके प्रलाप वचनोंमें आवेगकी सुन्दर व्यजना है। (प० च० १, १५६)

तर्क—(वीरका सचारी) हनुमान्‌की उक्ति है, 'क्या हाथीका बच्चा पेड नही नष्ट करता ? क्या चिनगारी पहाड दग्ध नही करती ? बालचन्द्र क्या सम्माननीय नही होता ?' (प० च० १, १६३)

अमर्ष—लक्ष्मण कहता है, 'धरणेन्द्रका फण-मणि किसने तोडा ? वज्रदण्ड कौन मोड सका ? अपनेको प्रलयकी आगमें कौन झोकना चाहता है ? सूरजके तेजको कौन ढक सकता है ? रामके रहते कौन राजा हो सकता है ? (प० च० २, १८)

चिन्ता—लक्ष्मणके वियोगमें वनमाला कह रही है—

किं पइसरमि वलन्तें हुआसणे किं समुद्दे किं रण्णे सुभीसणे।
किं विसु भजमि किं अहि चप्पमि किं अप्पउ करवत्तें कप्पमि।
किं करिवर दन्तहिं उर भिन्दमि किं करवालेहिं तिलुतिलु छिंदमि।
किं दसि लघमि कि पव्वजामि कहो अक्खमि कहो सरणु पवज्जमि।
अहवइ एण काइं गमु सज्जमि तरुवर डालए पाण वज्जमि।

(प० च० २, ६९)

शोक—चन्द्रनखा अपने बेटेका सिर कटा देखकर कहती है—

हा पुत्त विउज्झहि लुहहिमुहु हा विरुअए णिद्दए सुत्तु तुहु।
हा किण्णालावहि पुत्त मइं, हा कि दरिसाविय माय पइं।
हा उव संघरहि रूवु लहु, हा पुत्त देहि पियवयणु मुहु।
हा पुत्त काइ किउ रुहिर वडु हा पुत्त एहि उच्छग चडु।

हा पुत्त लाइ मुहे मुहकमलु हा पुत्त णिहिपिउ थण-जुअलु।
हा पुत्त देहि आलिंगणउ जें णच्चमि वणे वद्धावणउ।

(प० च० २, ११८)

ईर्ष्या, ममता, करुणा—कमलाकी उक्ति है—
को पिक्खिवि मणु अब्भुद्धरमि महि विवर देहि जि पइसरमि।
हा पुत्त वीरु वद्धावणउ महु दीणहि वयणु दयावणउ।
हा पुत्त जंतु विणि वारियउ ताए वहुयारउ वारियउ।

(भवि० क० ५७)

भाग्यकी विडम्बना—सीता देवी कहती है, 'खल पिशुन कठोर भाग्य देवता, तुम्हारा मनोरथ खूब सफल हो, तुमने दशरथका कुल तितर बितर कर दिया। बलिकी तरह दसो दिशाओंमे बखेर दिया। मैं कहाँ, राम कहाँ, लक्ष्मण कहाँ, बीचमे इतना बड़ा समुद्र।' (प० च० २, २६४)

पुत्री होना ही बुरा है—
जसु धीय नत्थि कुलु विमलु तासु जसु धीय नत्थि सो सुहनिवासु।
जसु धीय नत्थि सो नर कुलीणु न कयावि जपइ कासु दीणु।
जसु धीय नत्थि दुन्नय णिहाणु को खंडिवि सवइ तासु माणु।
जसु धीय नत्थि दुस्सील वित्ति, अकलंक तासु जगि भमइ कित्ति।
जसु धीय नत्थि सो गुरू होइ घरि बहिरि परियणि सयणि लोइ।

(प० सि० च० ३२)

लड़की परायी होती है—
परमेसर इहु अच्चत्तिकउ सव्वउ कण्णउ परमायणउ।
सरियउ णीसरेवि महीहरहो ढोयन्ति सलिलु रयणायरहो।
मोत्तिउ मालउ सिरे कुंजरहो सिंचन्ति अनु णरवरहो।
उपज्जवि मज्झे महासरहो णलिणिउ सियमवि दिवायरहो।

(प० च० १ पृ० ५३-५४)

जीवन दर्शन—भविस अपनी पत्नीसे कहता है—
हे सुंदरि म जाणि विस्माय हो सच्चाणो मणुअ जम्मि सहाय हो।
सुर-सजोइ विणाए भवइ दुहुणु वि मुक्कम्मे उप्पज्जइ।
सिवि णिणासि ममइ पवज्जइ धरइ लग्गु वि सवज्जइ।
जोव्वणु जर रससिण मिलिज्जइ न मरइ न जाणि न जिज्जइ।

(भवि० क० ८२)

पात्र-द्वारा वस्तु वर्णन भी सम्भव है, जैसे विद्युदंग चोर सेनाके अभियान-को सूचना देता हुआ कहता है—

पेक्खु पेक्खु आवंतउ साहणु गलगज्जंतु महागय वाहणु ।
पेक्खु पेक्खु हिंसंति तुरंगम णहयले विउले भमंति विहंगम ।
पेक्खु पेक्खु चिन्धइं धुव्वंतइं रहचक्कइं महियले खुप्पंतइं ।
पेक्खु पेक्खु वज्जंतइं तूरइं णाणाविह णिणाय गंभीरइं ।
(प० च० पृ० ३२)

इसी प्रकार हरिषेणके मन्दिरका वर्णन (प० च० १, ९१), विमानसे आते हुए धरतीके दृश्यका विवरण (प० च० १, ९८), क्रमश सन्देह और उत्प्रेक्षामें द्रष्टव्य है। घटनाकी पुनरावृत्ति अधिक है। यह प्राय. उक्तिमुखेन ही होती है। (भवि० क० ६५, कर० च० ६५, जस० च० प० च०, म० पु०)

संवाद-शैली—संवाद-शैली इन काव्योंमें सजीव और सुन्दर है। भरत बाहुबलि प्रसग (म० पु० १, २७४, प० च० १, पृ० ३४), दरबारका विवरण (भवि० क०), भाभी-ननदकी बातचीत (प० सि० च०), युद्धके प्रसंग इस शैलीके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। पउम चरिउका सुन्दर काण्ड प्राय इस शैलीमें रचित है। मन्दोदरीने जाकर सीतासे कहा—

रावणु मुएवि अण्णु को वलियउ सुरवर णियरु जे ण पडि खलियउ।
रावणु मुएवि अण्णु को मल्लउ जो तिहुयणहो मल्लल्लु एक्कल्लउ ।

तब सीताने यह मुँहतोड जवाब दिया—

हले हले काइं काइं पइंवुत्तउ उत्तमणारिहे एउण जुत्तउ ।
किह दइयहो दूअतणु किज्जइ एण णाइं महु हासु दिज्जइ ।
मल्लुडु तहुं परपुरिस पइल्ली तें कज्जें महु देहि दुवुद्धि ।
मत्थए पडउ वज्जु तहो जारहो हउं पुणु भत्तिवंत भत्तारहो ।
(प० च० २, १६२)

इसपर मन्दोदरीकी यह धमकी है—

जइ लंकाहिउ कहविण इच्छहि ।
तो कन्दति पइं तिणि तिलु करवत्तेंहिं कप्पइ ।

तब सीता-जवाब देती है—

केंचिउ वार वार वोल्लिज्जइ जं चितिउ मणेण तें किज्जइ ।

इसी बीचमें रावण आ धमका। वह दीन स्वरमें बोला—

> किं मोहण्णे मोग्गें ऊणउ कि विरूयउ कि अन्थ विहूणउ।
> कि लावण्णें वण्णें हीणउ कि सम्माणें दाणे रणे दीणउ।

सीताने कहा—

> ओसर दहवयण, तुहु अम्हहु जणय समाउण।
>
> (प० च० २, १६३)

रावणने फिर लंका दिखाते हुए यह विनय की—

> महु जीवहु देहि बोल्लाहि वयणु सुहावणउ।
> चउ सयवर खंधे लइ महएवि पसाहणउ।

इसपर सीता बोली—

> एउ ज रावण रज्जु तुम्हाराउ त महु तिण समाणु हल आरउ।
> सग्गेण वि काइ जहि चारित्त हों खंडणउ।
> कि सयलहमेण महु पुणु सीलु जं मण्डणउ।
>
> (वही, १६९)

रामका दूत बनकर आये हनुमान्पर मन्दोदरी यह व्यंग्य करती है—

> चगउ पुरिस विसेसु गवेसिउ माणु लएवि सीहु परि सेसिउ।
> खर सगहेंवि तुरंगमु वंचिउ जिणु परिहरिवि कुदेवउ अंचिउ।
>
> (वही, २३०)

हनुमान्ने कहा—

> ज वइ रामहो णिंदा कय किह सय-सनु ण जीह गय।

युद्धमें हराकर अपने नानासे हनुमान कहता है—

> तुहु देव दिवायर तेय पिंडु हउ कि पि तुहारउ किरण सन्तु।
> तुहु वर सय लंछणु भुवण तिलउ हउ कि पि तुहारउ जोण्हणिलउ।
> तुहु माणस सरवर सारविंदु हउ कि पि तुहारउ सलिलविंदु।
> तुहु केसरि वीर सउदणाउ हउ कि पि तुहारउ णह णिहाउ।
> तुहु वर तित्थयर महाणुभाउ हउ कि पि तुहारउ वय-सहाउ।
>
> (प० च० ? पृ० २०५)

इन उक्तियोंको देखकर, निरालाकविकी 'तुम और मैं' कविताकी याद हो आती है[1]। आचार्य शुक्लका यह आक्षेप है कि (पत्रा० पृ० ८८)

---

[1] परिमल ८४, इसमें 'मैं और तुम' के सदृश भाव हैं।

भाषा-कवियोंमें वस्तु-वर्णनकी निपुणता नहीं पायी जाती। संस्कृत कवि इसमें निपुण होते हैं। भाषा कवियों उनका तात्पर्य अपभ्रंश कवियोंसे भी है। परन्तु इस विवेचनमें यह आरोप निराधार सिद्ध हो जाता है। जिन कारणोंसे शुक्लजी (भ्र० गी० सा० ११) सूरसागरको पहलेसे चली आती हुई परम्पराका, चाहे वह मौखिक रही हो, पूर्ण विकास मानते हैं, उन कारणोंका थोड़ा परिचय इस वस्तु-वर्णनसे मिल जाता है। सूर इस अपभ्रंश काव्यधारासे परिचित थे या नहीं, इसका स्पष्ट उल्लेख तो उन्होंने नहीं किया, लेकिन इतना निश्चित है कि उनके साहित्यमें लौकिक परम्पराके पूर्ण विकासके साथ, किसी-न-किसी लिखित काव्य-परम्पराका अनुकरण भी होना चाहिए। वह परम्परा क्या हो सकती है यह बतानेकी आवश्यकता नहीं।



अपभ्रंश काव्योंकी रस-सिद्धि

आदिपुराणमे रिसभ जिनके वैराग्यके विषयमे एक घटना आती है, 'जब बहुत समय तक वह सासारिक भोगोसे विरक्त नही हुए तो स्वर्गसे इन्द्रने अप्सरा नीलाजनाको उन्हे विरक्त करनेके उद्देश्यसे भेजा। वह आदि जिनकी रगशालामे अभिनय करने आयी। उसने हाव-भावके साथ सभी भावोका कलापूर्ण नाटच-अभिनय किया। अन्तमे जब उसने शान्त रसकी भूमिका ग्रहण की तो वह मूर्छित होकर धरतीपर गिर पडी। उसके प्राण-पखेरू उड गये।' यह घटना अपभ्रश काव्यमे रसकी स्थितिका ठीक परिचय देती है। अपभ्रश कवि भी रसोकी योजना करते है, पर उनका अन्त होता है शान्तमे। यहीपर उनकी काव्य-भावना भी अपना प्रदर्शन बन्द कर देती है। प्राय सभी कथा-नायकोका जीवन नाना घटनाओ, परिस्थितियो और भावनाओंमे आन्दोलित रहता है, पर अन्तमे एक हलका-सा भी आघात उन्हे शान्त रसमें परिणत कर देता है। शास्त्रीय दृष्टिसे महाकाव्यमे शृगार, वीर, और शान्तमे-से कोई एक रस मुख्य हो सकता है, और बाकी उसके अग। परन्तु शान्तको छोडकर अगीरसका यह नियम नाटकोके लिए अधिक उपयुक्त है, क्योकि उसमे अभिनयका बन्धन है, परन्तु महाकाव्यमे भिन्न रसोकी हम स्वतन्त्र अनुभूति विभिन्न स्थलोमे कर सकते है। अत काव्यमें उनके स्वतन्त्र विचारके लिए काफी गुजाइश है।

भरत मुनिके अनुसार मुख्य रस चार है—शृगार, वीर, रौद्र, और वीभत्स। इनसे क्रमश चार और निकले—हास्य, अद्भुत, करुण तथा भयानक। शान्तको उन्होने रस नही माना, यद्यपि उसके स्थायी भाव निर्वेदको प्रथम सचारी भाव स्वीकार किया है, परन्तु बादमें यह भी नवम रस माना गया। इसे रस न माननेके तीन कारण है—१ अमगल रूप है, २ अनभिनेय है, ३ सुख नही होता। रसगगाधरकार इसे नटमे असम्भव मानते है (शान्तस्य शमसाध्यत्वात् नटे च तदसम्भवात् ३।२८०)। मम्मटने (१२वीका मध्योत्तर) 'शान्तोऽपि नवमो रस' माना है। विश्व-नाथ तो यह भी कहते है, 'शमो निरीहावस्थाया स्वात्मविश्रामज सुखम्' (सा० द० ३।१८०)। अत पाठय-काव्यमे 'शान्त' को रस माननेमे

कोई सैद्धान्तिक आपत्ति नही। अपभ्रंश कथा-काव्यमे शान्तकी प्रधानता है। सभी भावधाराओका इसीमे अन्त होता है। हिन्दी साहित्यमें भक्ति और वात्सल्यको रस माना गया है। विश्वनाथने भी लिखा है, 'स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रस विदु' (सा० द० ३।२५१)। इससे स्पष्ट है कि काव्यकी नयी प्रवृत्तियोके अनुरूप सस्कृत समीक्षामे नये सिद्धान्त मान्य हुए। यदि रसकी मुख्यताका कारण उसका अन्त न माना जाये तो यह निर्विवाद है कि कथाके विकासकी दृष्टिसे इन काव्योमे प्रायः सभी रस विकसित होते हैं।

शृगारके दोनो भेद संयोग और विप्रलम्भकी सुन्दर अभिव्यक्ति इन काव्योमें है। अभिव्यक्तिका ढग कुछ शास्त्रीय है, पर लोकरुचिका प्रभाव भी उसमें है। अपभ्रश काव्यमे वर्णित प्रेमके कई रूप हैं और उनके कारण भी अनेक हैं। आचार्य शुक्लने पद्मावतकी भूमिकामें प्रेमकी चार पद्धतियोका निर्देश किया है, पर यह आवश्यक नही, क्योकि प्रेम एक व्यापक वृत्ति है, उसके कई रूप हो सकते हैं। यह भी आवश्यक नही कि विवाह सम्बन्धसे विकसित प्रेम सदैव आनन्ददायक ही हो, या प्रेमपूर्वक विवाहमे नायक-नायिकाके मिलनके बाद ही काव्यका अन्त हो जाये। यह कहना भी अधिक विचार-विलसित नही जान पडता कि विरह-वेदनाका भार भारतीय साहित्यमें प्राय स्त्रियोके मत्थे मढ़ा गया। तुलसीके राममें जो तेज, पौरुष और उत्साह दिखाई देता है वह दाम्पत्य प्रेमके कारण नही, अपितु उनके लोकोत्तर रूपके कारण। वस्तुत. शुक्लजीने कतिपय सस्कृत काव्य और नाटिकाओके आधारपर अपने उक्त सिद्धान्त स्थिर किये थे। जहाँतक अपभ्रश काव्य-कथाका सम्बन्ध है, उसमें प्रेमके ये रूप मिलते है—१ विवाहके लिए प्रेम, २ विवाहके बाद प्रेम, ३ असामाजिक प्रेम, ४ रोमैण्टिक प्रेम, ५ विषम प्रेम। उदाहरणके लिए बन्धवहका अपनी विवाहितासे प्रगाढ प्रेम था, परन्तु बादमें वह उससे विरक्त हो गया। उसने दूसरा विवाह कर लिया। दूसरी पत्नीसे भी उसका उतना ही प्रेम था। इसी तरह 'पउमसिरि चरिउ' में समुद्रने पद्मश्रीसे प्रेमपूर्वक विवाह किया, पर बादमें कल्पित आशकासे उसे ठुकरा दिया। 'जसहर चरिउ' में अमृतमतीका कुबडेसे जो प्रेम था, वह असामाजिक ही माना जायेगा, परन्तु सबसे अधिक है रोमैण्टिक प्रेमका चित्रण। इसके दो कारण है—१ सामन्तवादके उस युगमें बहु-पत्नी प्रथा थी, २. धर्मकी महिमा बतानेके लिए। लेकिन प्रेमकी इस विविधता और

उच्छृंखलताका मुख्य कारण बहुत-कुछ मानव-स्वभाव ही है। प्रेमकी विषमताका ज्वलन्त उदाहरण रावणका प्रेम है। यह मानना पड़ता है कि अपभ्रंश कवियोंने प्रेमके इस चित्रणमें सामाजिक परिस्थितियोंका विश्लेषण नहीं किया। फिर भी मानवीय भावोंके उतार-चढ़ावकी इन्हें अच्छी परख थी। दूसरे, ये कवि संयोग शृंगारकी अपेक्षा विप्रलम्भकी व्यंजना अधिक करते हैं। बहुत जगह तो संयोग वियोगकी पृष्ठभूमि बनकर आया है। जैसे 'पउमसिरि चरिउ' में समुद्र और पद्मश्रीका संयोग-वर्णन। तीसरे, ये कवि कथाके अन्तमें नायककी विरक्तिका वर्णन करते हैं। असलमें यह विरक्ति भी रतिका एक रूप है, क्योंकि शृंगारमें रतिका आलम्बन दूसरा होता है और विरक्तिमें अपनी ही आत्मा। इसी तरह विप्रलम्भकी व्यंजनामें यह महत्त्वपूर्ण बात दिखाई देती है कि वियोगिनी स्त्रियाँ आँसू ही नहीं बहाती अपितु कठोरतासे अपना कर्त्तव्य-पालन भी करती है, कमला (भवि० क०) पद्म-श्री (पउमसिरि चरिउ) इसके उदाहरण है। प्रेम वैषम्यके अपने निदर्शन इस काव्यमें है, पर सावधानी या मार्मिकतासे ये कवि उसके दुःखद या अनिष्ट अन्तको बचा देते है। अनुचित प्रेमके ऐसे प्रसंगोंमें या तो प्रेमीको अपनी भूलका पता लग जाता है और वह पश्चात्ताप करने लगता है, या फिर कोई व्यक्ति आकर उसे ऐसा करनेसे रोक देता है। कभी-कभी निराश प्रेमी परलोकमें मिलनकी मधुर आशामें तप करने चले जाते हैं।

सम्भोगका स्वयंभूने बहुत ही चलता वर्णन किया है। जो है भी मर्यादाके भीतर, परन्तु पुष्पदन्तमें यह प्रवृत्ति बहुत है। रिसभ जिनके संयोग शृंगारके प्रसंगमें वह कहते है, उनकी तिरछी आँखें, तिरछी आँखोंसे जा लगी, मानो मछलीमें मछली फिसल पड़ी हो (म० पु० १।९६)। ये श्रीमती और वज्रजंघकी कामक्रीडाका नग्न चित्रण करते हैं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि पुष्पदन्तने शैल, वन या जलक्रीडा[1] का वर्णन प्रायः संयोग शृंगारके अन्तर्गत ही किया है (देखें विवरण)। 'भविसयत्त कहा' में प्रेमपूर्वक विवाह है, पर सम्भोगका खुला चित्रण भी है, पर प्रेमक्रीडाओंका उल्लेख अवश्य ही अन्तमें यह देता है 'तार नवनेह निरन्तर काल है। गय बारह सवच्छर' (भवि० क० ३८)।

---

[1] विश्वनाथ संभोगके अनन्त भेद बताते हुए जलकेलि, वनविहार आदिको भीतर मानते हैं (सा० द० ३, २११-२१२)।

पूर्वरागका बहुत ही उग्र और अतिरंजित वर्णन इन काव्योमे मिलता है। यह शृगारका आवश्यक अग है, इसके अन्तर्गत कामदशाओका भी वर्णन रहता है। पूर्वरागमे नायक और नायिका दोनो ही प्रयत्न करते है। विप्रलम्भमे काम-दशाका उल्लेख इन काव्योमे मुझे नही मिला। पूर्वराग-जन्य यह उन्माद भयकर रूप धारण कर लेता है। अपनी प्रेयसीको पानेके लिए नायक मरने-मारनेपर उतारू हो जाता है। आलोच्य साहित्यके आधेसे अधिक युद्धोका कारण यही है। स्त्रियाँ भी पहले तो प्रियके पानेका हर सम्भव उपाय करती है, परन्तु बादमे कोई आशा न रह जानेपर आत्मघातपर उतारू हो जाती है, काम-दशा यथार्थमे पूर्वरागकी अतृप्त आकाक्षाका ही उग्र रूप है। पूर्वराग यदि उचित और सम है तो प्रेमी-प्रेमिकाका मिलन हो जाता है। यदि वह अनुचित या विषम है, या अभिभावक उसमें बाधक है तो कठिनाई होती है। यह कैसे हटायी जा सकती थी, इसका सकेत हम ऊपर कर चुके हैं। पूर्वराग-के अधिक उदाहरण विद्याधर जातियोमें अधिक मिलते है। मानवी प्रेम प्रसगमें ये कवि विवाहके पहले शरीर-सम्बन्धको यथासम्भव बचाते है। अनुचित प्रेमकी व्यजना उसकी बुराई बतानेके लिए ही ये करते है। अपभ्रश काव्योमे पूर्वरागके कारण ये है — १ रूप-दर्शन (पद्मश्री समुद्रदत्त), २ रूपगुण-श्रवण (करकण्डु मदनावली, नागकुमारका पिता और पृथुमती), ३ पूर्वजन्म-स्मरण (ललिताग विद्युद्वेगा), ४ चित्र-दर्शन (भामण्डल) अनुराग उत्पन्न होते ही अपभ्रश कवि काम-दशाका चित्रण शुरू कर देते है।[1] जैसे नारद सीताका चित्र लेकर भामण्डलके पास गया, उसे देखते ही उसकी हालत चिन्ताजनक हो उठी—उसका मुख सूख गया, सिर घूमने लगा, बार-बार वह उसीकी चिन्ता करता, कभी ज्वरसे पीडित हो जाता, अग-प्रत्यग जल-जल उठते, मुँहका स्वाद बिगड जाता, एक भी कौर उसके गलेमें न धँसता, उन्माद बार-बार जाग पडता, मनमें सन्देह होने लगता और किसी तरह प्राण नही निकल रहे थे। यह भी उल्लेखनीय है कि शारीरिक तापका वर्णन ये कवि पूर्वरागके प्रसगमें ही करते है। फिर भी काम-दशाओके वर्णनमें कोई क्रम नही है। एक

---

१ (प० च० पृ० ५, ४६, १२०, १३२, १७१), (म० पु० ८२, पृ० ४३२), (कर० च० २५, ६५) (प० सि० च० १५, १०, १७, २०) (प० कु० च० ५४)।

दूसरे उदाहरणसे यह बात स्पष्ट हो जायेगी। वनमालाकी अवस्था यह थी—१ वह किसीसे बोलती नही थी, २ लम्बे श्वास छोड रही थी, ३ अंग दग्ध हो रहे थे, ४ उसे लगता, कोई सिरपर करपत्र चला रहा है, ५ वह पसीना-पसीना हो उठती, ६ बार-बार मूर्छित हो जाती, ७ ठण्डा पानी भी अच्छा नही लगता, ८ लक्ष्मणका नाम पुकार उठती, ९ जाते हुए प्राणोको नही देख पा रही थी, १० छीजते हुए भी वह नही देख सकती थी (प० च० २, पृ० ४६)। पुष्पदन्तने रावणकी काम-दशाओंके वर्णनमें उनकी सख्या तो नही गिनायी पर क्रमश वह व्याधि, उद्वेग, प्रलाप, जडता आदिका उल्लेख करते है। उन्मादकी कैसी सुन्दर व्यजना इन पक्तियोमें है—

"जहाँ जाता, सीता ही उसे दिखाई देती, अन्धकारमे भी उसका ही रूप जडित जान पडता। यदि वह पानी भी पीता तो 'सीउ' (सीता और ठण्डा) समझता।" अरुचिका उदाहरण यह है—"वह यहाँ-वहाँ घूमता। एक जगह उसका मन नही लगता। न प्रिय मित्रोंके घरोमे, न उद्यानमे, न पानमें, न सुन्दर गीतमे, कही भी उसका मन नही लगता।" (म० पु० २, पृ० ४३८)। यथार्थमें काम-चेष्टाएँ इतनी सूक्ष्म और विचित्र होती है कि उन्हें गिनी-गिनायी शास्त्रीय सख्यामे बाँधना कठिन होता है। यही कारण है कि इन काव्योमें वर्णित काम-दशाओमे शास्त्रीय सख्या-क्रम और स्वरूपका निर्वाह नही है। अपनी बातको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ शास्त्रीय परम्पराका विचार कर लेना चाहता हूँ। सबसे पहले भरत मुनिने नाटककी आलोचनामे (ना० शा० पृ० ७३) काम-दशाओका उल्लेख किया है। उन्होने विप्रलम्भ और करुण रसमें अन्तर बताते हुए कहा है कि शाप, क्लेश-विनिपातन, इष्ट-विप्रयोग, विभवनाश और वधादिसे जब इष्ट-वियोग निरपेक्ष भावमे होता है तब करुण रस होता है, परन्तु यदि मिलनकी सम्भावना हो तो विप्रलम्भ मानना चाहिए (ना० शा० पृ० ८३)। उन्होने विप्रलम्भके कारणोमें अनुरागकी गिनती नही की, परन्तु आचार्य विश्वनाथने मान प्रवास और करुणके अतिरिक्त पूर्वरागको भी वियोगका एक कारण माना है। वस्तुत पूर्वरागको वियोगका कारण मानना ठीक नही, क्योंकि पूर्वरागमें तो संयोग हो जानेकी सम्भावना सदैव नही रहती। यही कारण है कि भरत मुनि वियोगमें संयोगकी पूर्वस्थिति स्वीकार करते है। उन्होंने काम-दशाएँ वियोगके अन्तर्गत मानी है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रंश कवि

काम-दशाओको शुद्ध विप्रलम्भमे न मानकर पूर्व अनुरागमे मानते हैं। यही कारण है कि इसके अन्तर्गत वर्णित काम-दशाओंमें अधिकाश कवियोने प्राय 'स्मृति' और 'गुणकथन' इन दो काम-दशाओका वर्णन नही किया। क्योकि इनके लिए 'सहवास और मिलन' अपेक्षित है जो कि पूर्वरागमें सम्भव नही। भरत मुनि काम-दशाको वियोगके अन्तर्गत मानते हैं। अत. वहाँ ये दशाएँ सम्भव हैं। इसके अतिरिक्त ये कवि 'अरुचि' काम-दशाका वर्णन करते हैं। भरत मुनिने इसे नही गिनाया। विश्वनाथ सम्भवत इस अव्यवस्थासे विज्ञ थे, उन्होने पूर्वराग और प्रवासमूलक वियोगकी अलग-अलग दशाएँ गिनायी है। पूर्वरागकी तो वही दस काम-दशाएँ है जो भरत मुनिने मानी है, परन्तु प्रवास वियोग ग्यारह और नयी दशाएँ कल्पित की हैं (सा० द० ३, १५३)। वे ये हैं . असौष्ठव, सन्ताप, पाण्डुरता, दुर्बलता, अरुचि, अधीरता, अस्थिरता, तन्मयता, उन्माद, मूर्छा और मरण। इनमें कुछ तो पूर्वरागकी काम-दशाओसे मिलती हैं और कुछ नयी हैं, परन्तु अपभ्रश कवियोने इनको पूर्वरागके अन्तर्गत दिखाया है। जैसे 'अरुचि' को विश्वनाथ प्रवासमे मानते है पर अपभ्रश कवि पूर्वरागमे उसका वर्णन करते हैं। इतने भेद-प्रभेदके बाद भी जब कोई सन्तोषजनक हल नही निकला तो विश्वनाथको अन्तमें यही कहना पडा कि ये भेद एक-दूसरेमें भी हो सकते हैं। केवल परम्पराके अनुरोधसे हमने अलग निर्देश कर दिया है (सा० द० ३।१५६)। इससे परम्पराको तो उन्होने बचा लिया, पर समस्याका समाधान नहीं हो सका, क्योकि उनमे जो समान दशाएँ है उन्हें कम कर, सख्या घटा देनेकी आवश्यकता अभीतक ज्योकी त्यो है। इसमें कोई सन्देह नही कि विश्वनाथका दृष्टिकोण और आलोचनाका क्षेत्र अपेक्षाकृत उदार तथा विस्तृत था। असल बात यह थी कि इन काम-दशाओका नाटकमें नायक रगमचपर अभिनय करता था, परन्तु जब साहित्यमें उन्हें रसके साथ घसीटा गया तो उक्ति रूपमें ही उनका कथन हो सकता था। अपभ्रश काव्यमें ऐसा ही हुआ, काव्यमें इन्हें ले तो लिया, पर व्यवस्थित मीमासा किसीने नही की। जैसे-जैसे नाटककी बातें काव्यमें अपनायी गयी उनका स्वरूप भी बदलता गया। अपभ्रश कवि कुछ ऐसी दशाओका भी उल्लेख करते हैं जिन्हें उक्त भेदोमें खपाना कठिन है।

विप्रलम्भके जो चार भेद माने गये हैं उनमें पूर्वरागका विचार हो चुका है। मान विप्रलम्भका क्षेत्र भी सकुचित है, इसे कुछ उत्तरकालीन

सस्कृत नाटिकाओ तक सीमित समझिए। करुण विप्रलम्भ भी कल्पित कारणोपर अवलम्बित है। सस्कृत साहित्यके लक्षण ग्रन्थोमें इसके जो उदाहरण हैं वे कल्पित कथाओके हैं (सा० द० ३।२०९)। अपभ्रश कथा-काव्योमे विप्रलम्भका यह रूप भी आता है, प्रवासजन्यके भी उदाहरण विरल नही। अपलाप और हरणसे वियोग भी सम्भव है, परन्तु इनके अतिरिक्त दूसरे कारणोसे भी इनमे वियोग हुआ है, जैसे 'भविसयत्त कहा' मे वियोगका बीज पतिकी उपेक्षा है। पद्मश्रीकी लाछनाका मुख्य कारण पतिका सन्देह है। अजना बेचारी सासकी गलत आशकाकी शिकार बनी। अत विप्रलम्भके कारणोपर प्रतिबन्ध लगाना ठीक नही। अपभ्रश कवि इस तथ्यसे अवगत थे। इसीलिए ये कवि काल्पनिक कारणोकी अपेक्षा, वियोगके यथार्थ कारणोको रखते है। वियोग वर्णनमें शारीरिक कृशताका वर्णन है, पर प्राय उत्प्रेक्षामें, अतिशयोक्तिमें नही। मानसिक अनुभूतिका आलेखन अधिक होता है। अजनाके वियोगमें पवनजय सीधा वनमें चला गया। वहाँ पहले वह पशु पक्षियोसे अपनी पत्नीके बारेमें पूछता है। उसके बाद कवि उसकी उन्माद दशाका वर्णन करता है। अन्तमे वह अपने प्रिय साथी हाथीसे क्षमा माँगकर उसे मुक्त कर देता है। वह वनके भीतर समाधि लेकर बैठ जाता है। उसने अपने सम्मुख यह अकित कर रखा था, 'अजनाके मरनेपर मैं मर जाऊँगा, उसके जीवित रहनेकी खबर सुनकर ही मैं अपना मौन तोड सकता हूँ, नही तो मेरी भी वही गति होगी जो उसकी हुई।' अवश्य ही, ये उद्गार लोकचिन्ता शून्य और ऐकान्तिक कहे जायेगे, परन्तु जिस परिस्थितिमें यह सम्भव हुआ, उसे देखते हुए यह अतिरजित नही। सयोगकी तरह वियोगमें पवनजयकी भावनाकी चरम सीमा दिखाना कविका लक्ष्य है। ऋतुका उद्दीपन रूप वियोगमें नही है। उपालम्भकी पद्धति भी नही है (प० च० १, १३७), रावण जैसे ही सीताको लेकर विमानमें बैठकर चला, सीताने विलाप करना शुरू कर दिया। जटायु इस समय तक रावणसे आहत हो चुका था। इसपर पहले तो वह देवताओको कोसती फिर कहती—'यदि राम लक्ष्मण होते तो यह क्या मुझे इस तरह ले जा सकता, हे गुणसागर दशरथ, हे जनक, तुम अपनी जानकीको देख लो।' इसके बाद एक-एक करके अपनी सासोके नाम पुकारती और अन्तमें कहती, 'हे भरतेश्वर भरत, हे राम, हे लक्ष्मण, तुम्ही बताओ मैं अपना अन्याय किसे सुनाऊँ' (प० च० १, १३९)। यह सब होते हुए भी वह रावणके प्रलोभन या मायामें नही

फँसती। वह रावणके अनुचित प्रस्तावपर दो टूक जवाब देनेसे नही चूकती। यह विशेष रूपसे लक्ष्य करने योग्य है कि इस वियोग-वर्णनमें रतिके उपादानोकी योजना करनेकी अपेक्षा स्वयभू रावणकी चेष्टा और परिस्थितिका चित्रण अधिक करते है। उससे दो बातें प्रकट होती है, एक तो सीताके व्यक्तित्वका तेज, और दूसरे रावणकी कामाहत मानसिक अवस्था। कविने ऐसे प्रसगमें अतिशयोक्तिमूलक उक्तियाँ नही कही। वह तीसरे पात्रके माध्यमसे वियोगजन्य कृशताका वर्णन करता है। उदाहरणके लिए हनुमान् सीताको रामकी कृशता बताता है, और रामको सीताकी। (देखें, विवरण और अलकार प्रक०)। स्वयभू इस प्रसगको अधिक नही बढाते क्योकि अजना और पवनजयके प्रसगमें वह पहले ही इस भावकी व्यजना कर चुके है।

परन्तु इसी प्रसगमें पुष्पदन्त रामके सन्तापका अधिक वर्णन करते हैं (म० पु० २, पृ० ४२८)। पुष्पदन्तमें यहाँ भी अलकृत शैली अधिक है। अनुचरोने जब सीताका उत्तरीयाश लाकर रामको दिया तो उन्होने उसे आँखोसे लगा लिया, क्योकि वियोगमें प्रियकी वस्तुका मिलना उससे भी अधिक प्रिय हो उठता है, पर रावण जैसे ही सीताको लेकर नन्दन-वनमें पहुँचा, तो वहाँकी प्रकृति उसे धिक्कारने लगी (देखें, प्रकृति चित्रण)। मदनावली (कर० च०) वियोगमें पहले तो मूर्छित हो जाती है, फिर होशमे आनेपर अपने भाग्यको कोसना शुरू कर देती है, अपनी हालतपर आठ-आठ आँसू बहाती है। पद्मश्रीके व्यक्तिगत दु खका ही उल्लेख करना उसका लक्ष्य नही है, वह यह भी बताता है कि पति-परित्यक्ता स्त्रीकी कितनी असहाय अवस्था होती है (प० सि० च० ३२)। करुण विप्रलम्भका एक भी उदाहरण मुझे इन प्रबन्ध-काव्योमें नही मिला। इसीलिए भवभूति अपने उत्तररामचरितमें 'करुण विप्रलम्भ' की जगह 'करुण' मानते हैं। अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक-काव्यके बीच विप्रलम्भकी जो शैली प्रचलित थी, उसका नमूना 'सन्देश रासक' है। इसमें इतनी बातें उल्लेखनीय है, १ शारीरिक कृशता और अनुभावोका बढा-चढाकर वर्णन, २ ऊहात्मक और अत्युक्तिपूर्ण कथन (श्लो० ७०–९५), ३ रूपचित्रण (२९–४०), ४ अलकृत शैली (१०८, १११, ११२, ११९ और १२०), ५ उद्दीपन रूपमें प्रकृतिका वर्णन। ६ प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारोका उल्लेख, ७ दु खके नाना कारणोकी उद्भावना।

वीर—प्राय अपभ्रश कथा काव्योमे युद्धोकी भरमार है, इनके मुख्य

कारण हैं नारी-अपहरण, स्वयवर, पडोसीका राज्य छीन लेना, दिग्विजय, वन्दी कन्याओंका उद्धार, परन्तु यह आवश्यक नही है कि सभी काव्योंमे युद्ध हो। पउमसिरि चरिउ और जसहर चरिउ इसके अपवाद हैं। इससे यह स्पष्ट है कि नामके आधारपर काव्य रूपका निश्चय करना कठिन है। प्राय इनमें युद्धवीर अधिक है, धार्मिक रचना होनेसे दयावीर और दान-वीरके भी उदाहरण मिल सकते हैं। वीर रसके स्थल अधिक होनेसे वर्णनमें पुनरावृत्ति है, विशेषत ऐसा उस स्थितिमे कि जब एक ही काव्यमें कई युद्ध-प्रसग आ जायें। रावण और यमके युद्धका यह प्रसग है—

रावणने ललकारते हुए कहा, 'अरे ठहर, मैं तेरा कुलकृतान्त आ गया हूँ। यह सुनकर यमने अपना भयकर दण्ड चलाया, वह धक्-धक् करता हुआ आकाशमें जा रहा था, परन्तु रावणने उसे काट दिया, तब उसने चमकते हुए बाण छोडना शुरू किया, रावणने उन्हे भी वैसे ही हटा दिया जैसे दामाद दुष्ट ससुरालको छोड देता है (प० च०, ९६)। अथवा कृष्ण जरासिधका युद्ध-वर्णन भी इसी तरह गर्वाक्तिपूर्ण है (म० पु० ३, १७१)। अपभ्रंश काव्यमे युद्धकी वर्णन-पद्धतियोंका महत्त्व है। इनमे प्राय इतनी शैलियां मिलती है, १ द्वन्द्व युद्धमे योधा एक-दूसरेके अस्त्रोंकी काट करते है। २ अलकृत शैलीमे ये कवि प्राय रूपक (प० च० २, पृ० ३९, १३६), श्लेष (प० च० २, पृ० १७९), उत्प्रेक्षा (प० च० २, २१०), में युद्धका वर्णन करते हैं। योद्धाओंकी साहस-भरी मार-काटका चित्र भी आंकते है (म० पु० ३ पृ० १०९) या केवल अस्त्रोंके नाम गिना देते है (प० च० १, १३०)। एक शैली यह भी है कि दूसरा पात्र आकर युद्धका वर्णन करता है (देखे विवरण)। इसी प्रसगमे यदि युद्धजन्य विनाशका चित्रण कर दिया जाये तो वह वीभत्सका उदाहरण हो सकता है (कर० च० ३०), (प० च० २, १७३), (म० पु० २, ४९७)।

रौद्रका वर्णन दो स्थानोंपर विशेष रूपमे देखनेको मिलता है। एक तो युद्धके प्रसगमे और दूसरे कुछ पात्रोंके स्वभावगत चित्रणमें। लक्ष्मण, रावण, हनुमान्, कस प्रभृति नायकोंको रौद्र रूप धारण करते देर नही लगती। रुद्रभूतिको रामके पैरोंपर पडा हुआ देखकर भी लक्ष्मण अपना क्रोध नही रोक सके।

'धक धक धगंतु थर थर करंतु हणु हणु भणतु णं कलि कियंतु
करयल धुणंतु महिणिद्दलंतु विप्फुरियचयणु णिट्ठुरियणयणु ।'

(प० च० २, पृ० ५७)

या पद्मश्रीको चरित्रभ्रष्ट समझकर समुद्रका पारा गरम हो गया—

उब्भड भिउडि भंग-भीसावणु कुविउ कयंतु नहि दुद्धसणु
कोय फुरंत नासु उसिया हरु, कुरूल दिट्ठि न पयड्ड सपिच्छरु ।

आकाशमें अपना विमान अवरुद्ध देखकर, रावण उबल पडा (प० च० १, १०७)।

भयानक—युद्ध और उपसर्गके प्रसगोके अतिरिक्त भी भयानक रसका वर्णन अपभ्रश काव्यमे मिलता है। गर्भवती अजना पर्वत गुफामें अपनी सहेलीके साथ अपमान और लाछनके दिन बिता रही थी, इतनेमे एक सिंह आ पहुँचा—

विहूणिय तणु दुरुग्गिण्णकमु सनि अहणि णाइं जमकालसमु
कुंजर सिर रुहिएरुण णहयरु कीलाल सित्त केसर पसरु
अरि वियड दाढ फाडिय वयणु रत्तुप्पल गुंज सरिस णयणु
खय सायर रव गंभीर गिरु लंगूल दड कंडुइय सिरु
तं पेक्खिवि हरिणाहिवइ अंजण समुच्छ महियले पडइ ।

(प० च० १, १५६)

बीभत्स—युद्धोत्तर विनाशके दृश्याकन और विरक्ति उत्पन्न करनेके लिए इस रसका प्रयोग अधिक मिलता है। मुनियोके उपसर्ग-वर्णनमें भी मुनिपर उपसर्ग हो रहा है—

अण्णइ मसि वण्णइं अयरत्थइ णरसिर मालकवालविहत्थइ
अण्णइं सोणिव महरपियंतइ णच्चतइ घुमत घुलतइं

(प० च० २, ९०)

जीवन-हिंसाके प्रसगमे देखिए—

वसा वीसढं देहि देहा वसाणं
पविट्ठो असाण सासण मसाण
कुमारेण तंतेण दिट्ठं रउद्दम
ललत तमालं सिवा मुक्क सद्दं
महा सूल भिण्णग कुड्ंत चोरं
विहंडत वीरंस हुकार फार ।

(जस० ह० १)

या (कर० च० ११ मे) श्मशानका वर्णन। विरक्तिके लिए बीभत्स-चित्रणके उदाहरण (म० पु० १, पृ० १०७ मे) देखिए।

करुण—करुणभाव अपभ्रश कथाकाव्यमें अधिक है। परन्तु करुण प्राय शान्तका अग होकर आता है। 'करुण' का सम्बन्ध लौकिक प्रसंगोसे होता है। साहित्य मीमासकोने करुण रसकी स्थिति वही स्वीकार की है जहाँ रतिके लौकिक आलम्बनका अत्यन्ताभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति आने पर अपभ्रश लेखक अध्यात्मवादसे काम लेते हैं। वे लौकिक आलम्बनकी हेयता या क्षणभगुरता दिखाकर, करुणाके समूचे वेगको आध्यात्मिक साधनाकी ओर प्रवाहित कर देते हैं। इसलिए करुण रसके प्रसग अपभ्रश कथा-काव्यमें कम हो गये। यह भी आवश्यक नही है कि इष्ट-वियोगमें करुण रस ही हो। अपभ्र श काव्योका अन्त इसीलिए करुणाकी अपेक्षा शान्तमें ही होता है। यह होनेपर भी, पति नायकोका निधन होनेपर, या दूसरी लौकिक और स्वाभाविक घटनाओमे करुण रसकी व्याप्ति है। चन्द्रनखा अपने पुत्रके निधनपर विलाप करती है

कदति रुवति सवेयणिय पिज्जीव जाय णिच्चेयणिय
पुणु दुक्खु दुक्खु सचरिय मण, मुहकायर, दर मउलिय णयण
पुणु उट्ठेवि विहूणइ भुअजुअल, पुणु सिरु पुणु पहणइ वच्छयलु
पुणु कोक्कई धाहहि रडइ पुणु दीसउ णिहालइ पुणु पडइ।

रावणकी मृत्युपर उसके अन्त पुरकी यह अवस्था थी—

हा भत्तार हार मण रजण हा माल यल तिलय णयणजण
हा सूहव सुरहिय सिरसेहर, हा रिउ रमणी कर कगन हर
हा कणकलस विहूसन पल्लव, हा कर फस जणिय रोमंचिय
आलिंगण कीला भूसिय भुय।

यहाँ शृगार करुणका अग है।

वात्सल्य—शृगार और वात्सल्यका स्थायी भाव एक हैं। भेद केवल आलम्बनका है। शृगारकी तरह यह भी व्यापक वृत्ति है, पर आलम्बनके अत्यन्ताभावसे इसके भी सयोग और वियोग दो भेद होने चाहिए। सयोग वात्सल्यकी प्राय सभी अपभ्रश कवियोने (म० पु० ३, कृष्णकी बाल-लीला) (भवि० क० पृ० ५, ६) (णा० कु० च० २२) (कर० च० पृ० १५) व्यजना की है। कुमार भविसका बचपन इस प्रकार हाथो-हाथ बीता—

हत्थि हत्थु भमइ जणविंदहो चरिय सुहावहु सुट्ठणरिंदहो
णारियहिं सइं आंकु लइज्जइ चामर गाहिणिहिं विज्जिजइ
पवर विलासिणीह चुंचिज्जइ अण्णहि पासउ अण्णहिं लिज्जइ ।

उसकी स्वाभाविक चेष्टाओंका वर्णन—

कोमल पयहिं दलइ अण हारइं आ संचिवि तोडइ सिय हारइं

पति इसपर पत्नीसे कहता है—

पिए सावण्ण एहु णउ दीसइ, मंच्छुहु कुलिउ उज्जोउ करेसइ

तब वह हँसकर कहती है—

जो तउ तणइ अंगि उप्पणउ तासु सरीरि होइ किं दुण्णउ

(भवि० क० ७-८)

पतिके ठुकरानेपर पुत्र ही कमलाका सहारा था, भविसके विदेश गमनकी आज्ञा माँगनेपर वह बोली—

एक्क अकादिण कुविय वियप्पें विण्णु अणंतु दाहु तउ वप्पे
अण्णु वि पइं दे संतरु जतहो को महुसरणु हियइ पजलतहो ।

उसे यह भी आशका थी –

तो तउ करइ अमंगल जंत हो, मूलु वि जाइ काहु चिंतत हो

(भवि० क० १७)

इसके बाद कवि वियोग वात्सल्यके करुण चित्र अंकित करता है। बारह वर्षकी कठोर और आतुर प्रतीक्षाके बाद सबके लौट आनेपर भी जब कुमार भविस नही लौटता तो अभागी माँ यह समझने लगती है – 'कुसलु किंपि जाऊविणि मंतिए' फिर वह प्रलाप करती है – (यह विवरणमे आ चुका है)। भविसयत्त कहाका मध्य भाग कमलाके रुदन, विलाप, आकुलता और चिन्ता आदिके उद्‌गारोसे व्याप्त हैं। रामके वन जानेकी आज्ञा माँगनेपर कौशल्याकी यह दशा थी –

हा हा काइ वुत्त पइ हलहर दसरह वस दीव जग सुन्दर
पइ विणु को पल्लंक सुवेसइ रविह दिणु को किदुएण रमेसइ
पइ विणु को हय गयेसहु चढेसइ पइ विणु को अत्थाणु वहसइ ।

(प० च० २, १६)

कृष्णकी बाललीला – नन्द यशोदासे कहते हैं –

हल्लरु हल्लरु जो भण्णइ, तुज्झु दसाएं होसइ उण्णइ

सूरके कृष्ण मणिमय आँगनमे अपना प्रतिविम्ब देखते हैं जब कि पुष्पदन्तके कृष्ण घीके बरतनमें –

घय मायणि अव लोइवि मावइ णिय पडिबिम्बु हिटटु वोल्लावइ
(म० पु० ३, ६५)

गोपियोके साथ उनकी स्वच्छन्द क्रीडा थी –

रगतेण रमत रमते मथिउ घरिउ ममतु अण.ते।
(वही ६४)।

अपने पुत्रकी असाधारण लीलाओसे यशोदा कभी-कभी खीज उठती और कहती – 'मेरी कोखसे तुम राक्षस पैदा हुए हो, तुमने क्रोधमें आकर बैलको क्यो मरोड दिया, तुम भाग्यसे वच गये, लोग खडे खडे तमाशा देखते रहे, तुम कितना सताते हो मुझे, आओ घर चले (म० पु० ३, पृ० ७२)। इसमे क्रोध वात्सल्य उपालम्भकी सु दर व्यजना है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि १०वी सदीमे कृष्ण इन लीलाओके नायक बन चुके थे और उन्हे विष्णुका अवतार भी माना जाने लगा था। डॉ० धीरेन्द्र वर्माने एक जगह लिखा है कि सूरने कृष्णके वैभवका जो इतना वर्णन किया है उसका कारण मथुरासे आगरेका नैकटय है। लेकिन १०वी सदीमें आगरा नही था, तब भी कृष्णकी लीला और वैभवका वर्णन है।

हास्य – हास्य अपभ्रश कथा-काव्यमें नही है। नारद-जैसे इने-गिने पात्रोंके चरित्रमें इसकी योजना है, पर वह रस स्थिति उत्पन्न नही करती, सस्कृत काव्योमे भी हास्य रस नगण्य ही रहा, असलमे 'हास्य' की ठीक अभिव्यजना नाटकमें ही सम्भव थी। विदूषक पात्र भी इसीलिए होता था। प्रबन्ध-काव्यमे ऐसा कोई स्वतन्त्र पात्र नही हो सकता था इसीसे विश्वनाथको यह लिखना पडा कि हास्यके आलम्बनका नायकके रूपमे वर्णन किसी काव्यमे नही होता। केवल आक्षेपसे प्रतीति कर लेते हैं (सा० द० ३, २२०)।

शान्त रस कहा जा चुका है। अपभ्रश कथा-काव्य शान्तमें अवमित होते है। इसका आलम्बन उदात्त या लोकविश्रुत हो, यह आवश्यक नही, महान् या लघु सभी इसके आश्रय हो सकते हैं। अत इनमे महान्के साथ लघुका भी अस्तित्व है। आलम्बन रूपमे ससारकी निस्सारता, क्षणभगुरता, भोगोकी अतृप्तिका वर्णन होता है। विरक्ति, स्मरण, दया, करुणा आदि इसके सचारी है। शान्त रस वही समझना चाहिए जहाँ सच्ची विरक्ति हो और फलकी कामना न हो। जैसे बाहुबलिकी यह उक्ति –

हा कि किज्जइ भुयबल मेरवु ज जायउ सुहि दुण्णय गारउ
रज्जहु कारणि पिउ मारिज्जइ वंधवहुं मि विसु संचारिज्जइ
ऐहु इंदिय छदु विवज्जमि एवहिं पुण्णु ण पाउ समज्जमि ।

(म० पु० १)

भक्तिको अपभ्रश कवि रस मानते है । पुष्पदन्तने साफ लिखा है कि मेरी कविता 'भक्ति-रम' समुच्छलित है। (उदा० गीत तत्त्वके अन्तर्गत है) युग और स्रोतमें भक्तिका ऐतिहासिक परिचय दिया जा चुका है। हमे केवल इतना ही कहना है कि भक्तिके आलम्बन भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोमें चाहे स्वतन्त्र हो पर वे उसमें करुणा, आत्मा, परमात्मा-की एकता और लोकहित भावना समान रूपसे मानते है। यह बात अहिंसा और वेदान्तको माने बिना सम्भव नही। भक्तिका स्थायी भाव रति है, पर उसमें वियोगपूर्वक सयोग होता है जबकि लौकिक रतिमे संयोगपूर्वक वियोग, दोनोमें यही मौलिक अन्तर है। हिन्दी साहित्यमें भक्तिके दो रूप हैं रागानुगा, और विरक्तिमूलक। अपभ्रश कवि विरतिमूलक भक्तिमे विश्वास करते हैं। तुलसीकी दास्य-भक्तिमें लौकिक रतिसे विरति बहुत आवश्यक है। सूरकी प्रेमाभक्तिका अपभ्रश कवियोने उल्लेख नही किया, पर उसके आलम्बन (कृष्ण) की लीलाओका स्पष्ट अकन ये करते है।



अपभ्रंश काव्योंमें अलंकार-योजना

अपभ्रंश साहित्यकी रचनाके पहले ही संस्कृतमें सुबन्धु और बाणभट्ट-की अलंकृत गद्य-कथा लिखी जा चुकी थी। ऐतिहासिक दृष्टिसे भारतीय अलंकार शास्त्रका यह दूसरा स्तर था। पहलेमें यदि रसकी मुख्यता नाटक तक सीमित थी तो दूसरेमे अलंकारको शब्द-काव्य तक। तीसरे स्तरमें दोनोका समन्वय हुआ। दूसरे स्तरमे दण्डी, भामह और वामन हुए। इनमे प्रथम दो आलोचकोका स्वयंभूने उल्लेख किया है। इन्होने रसका विवेचन अपने ग्रन्थोमे नही किया। काव्यमें रस और अलंकारका प्रयोग बराबर होता रहा। अपभ्रंश साहित्यके उत्तरार्धके प्रारम्भमे आनन्दवर्धनने ध्वनि और रसकी मुख्यता प्रतिपादित की। नाटक और काव्यके समन्वयका प्रयत्न भामहके समय ही प्रारम्भ हो चुका था। उदाहरणके लिए भरत मुनि नाट्य शास्त्रमें अलंकारोका वर्णन करते है। और भामह भी काव्यालंकार सूत्रमे काव्यकी चर्चाके अनन्तर नाटकके भेद गिनाते है। दण्डी काव्यादर्शमें काव्य-लक्षणोमे आशीर्वाद, नमस्कार और कथावस्तु-निर्देश आदिको भी गिनाते है। स्पष्ट ही इन बातोका सम्बन्ध नाटकसे था। परन्तु काव्यमे भी ये बाते आवश्यक समझी गयी। अपभ्रंश साहित्यमे भी इसका अपवाद नही। यह सब विकास दिखानेका तात्पर्य इतना ही है कि अपभ्रंश काव्यपर दोनो धाराओका प्रभाव स्पष्ट रूपसे पडा। कवियोके परिचयमे हम देख चुके है कि एक ओर स्वयम्भू और पुष्पदन्त-जैसे अपभ्रंश कवि दण्डी और भामहसे प्रभावित है तो दूसरी ओर भरतमुनिके रस, अलंकारके अतिरिक्त अन्य काव्य-उपादानोका समन्वय भी इनके साहित्यमे है। फिर भी अलंकार-रचनामें ये लोग भामह, दण्डीके अनुसार चलते है, स्वयम्भूने दण्डीसे पहले भामहका उल्लेख किया है। इससे वही पूर्ववर्ती जान पडते है। अलंकारके सम्बन्धमे इन आचार्योंके विचार इस प्रकार है –

भरत कुल चार अलंकार मानते है – उपमा, रूपक, दीपक और यमक (ना० शा० १७ अध्याय), लेकिन इससे यह समझना गलत होगा कि और अलंकार इसके पहले नही थे। भरतने केवल नाटकके लिए

उपयोगी अलंकारोका विचार किया है। यास्कने भी उपमाका उल्लेख किया है। उनके पहले गार्ग्यने उपमाकी यह परिभाषा की थी, 'यत् अतत् तत् सदृश उपमा' वस्तुत: देखा जाये तो वेदोमे रूपक, पुराणोमें अतिशयोक्ति और लोक-काव्योमें उत्प्रेक्षा और उपमाकी बहुलता है। लोक-काव्योकी इसी प्रवृत्तिको देखकर ही शायद भामह और दण्डीने इनका विशेष विवेचन किया है। परन्तु इन आचार्योंके विवेचन क्रमको देखनेसे ऐसा लगता है कि उस समय अलकारोके स्वरूप और सख्याके सम्बन्धमें निश्चित धारणा नही थी। उदाहरणके लिए दण्डीने यमकके बाईस भेद किये हैं, उपमाके चौबोस, किन्तु भामह मालोपमा आदि भेद नही मानते। दण्डीके उपमाके बहुत-से भेद, बादके प्रतीप, अपह्नुति आदि सादृश्यमूलक अलकारोसे मिल्ते जुल्ते है। कहना न होगा आलोच्य साहित्यमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदिकी मुख्यता है। यमक पुष्पदन्तको विशेष प्रिय है। आगे इसकी चर्चा होगी।

उपमा

अधिकाश अपभ्रश कवि उपमानके चुनावमें विशेष भावुकताका परिचय देते हैं। वे उपमानके लोप, निह्नव, अपलाप या विधि-निषेधमें न पडकर उसे भावनाके ऐसे साँचेमें ढालते है कि जिससे वह उपमेयकी भावपूर्ण प्रतीतिमें सहायक हो।

रूप चित्रणमें प्राकृतिक उपमानोकी योजनाकी पद्धति बहुत पुरानी है। अपभ्रश कवि ऐसी योजना विषम प्रसगमे करते हैं। पतिके ठुकरानेपर जसवइकी यह अवस्था हो गयी —

जसवइ पिय वयणिं निठ्ठुरेण, विज्झाइय वणलय जिह दवेण।
तुट्टइ गरुय दुक्खह भरेण, सिरि ताडिय नावइ मोग्गरेण॥
रोवतिए विनडहि उज्जलाइं, असुयइं नाइं मोत्ताहलाइ।
भयभुन्न हरिण जिह दिट्ठ सीह, जरियव्व मुमइ वीसास दीह॥
सा रयणि णं केवंइ खयहु जाइ, वरदाणु सुपत्तहिं दिन्नु नाइ॥
(प० सि० च० ९)

प्रस्तुत वर्णनमें उपमान वस्तुरूपमें भी है और वस्तु व्यापार रूपमें भी। कवि, जसवईकी विपन्न-अवस्थाका वर्णन करनेके लिए कभी दावानलसे दग्ध वनलताकी उपमा देता है और कभी डरी हुई हिरनीकी। कभी वह अमूर्त व्यापारकी उपमा देता है जैसे सुपात्रमें दिया दान नष्ट नहीं होता

वैसे ही वह रात भी पूरी नहीं हो रही थी। और भी उपमा है –

चंदण दुमोव्व सीयल सहाव आरूढ महागुण नाइ भाव।

(वही १२)

मूर्त उपमाओंकी अपेक्षा भावात्मक उपमाएँ अधिक हैं। पतिके रूठनेपर पद्मश्रीकी यह दशा हो गयी। कवि उपमानोंकी झडी लगा देता है।

संकिय वणलय जिह करि रायहु संकिय मंजरि जेम्व दुवाउहु।
संकिय कमलिणी जेम्व मियंकहु संकिय कुल वहु जेम्व कलंकहु।
संकिय गरुडहु जेम्व भुयंगी संकिय वग्घहु जेम्व कुरंगी।

(प० सि० च० २९)

इस प्रसंगमें जितने भी उपमान आये हैं, एक-दोको छोडकर, सब प्रकृति या पशु-पक्षियोंसे लिये गये हैं। अपभ्रंश लोक-काव्यमें यह प्रवृत्ति अधिक थी। इस प्रकारकी उपमाओं-द्वारा कविका लक्ष्य निर्दोष नारीकी निरीह और आशंकापूर्ण अवस्थाकी व्यंजना करना है।

पतिके द्वारा ठुकरायी हुई पद्मश्री एकदम शोभा और श्रीसे विहीन हो गयी। इसपर कविकी उपमाएँ हैं–

वज्जिय विस मंजरि जिह भमरेहि वज्जिय सूर दिट्ठी जिह तिमरेहि।
वज्जिय सुमण-गोट्ठि जिह पिसुणेहिं वज्जिय सीह दिट्ठि जिह हरिणेहिं॥
तिह सयल सोक्ख परिवज्जिय निप्फलइ तारुन्न सिरि॥

(प० सि० च० ३१)

दिग्विजयके अनन्तर भरतका चक्र अयोध्याके भीतर नही गया। इस-पर कवि उपमाएँ देता है—

पइसरइ ण पट्टणे चक्करयणु जिह अबुहंतरे सुकइ वयणु।
जिह बम्भ चारि मुहे काम सत्थु, जिह गोट्टंगणे मणि रयण वत्थु।
जिह किविण-णिहेलणे पणइ विन्दु जिह बहुल पक्खे रुय दिवस चंदु।
जिह कमिणिजणु माणुसे अडव्वे।

(प० च० १–३३)

इन उदाहरणोंसे यह साफ हो जाता है कि प्रस्तुत 'तथ्य' की व्यंजनाके लिए अपभ्रंश कवि अनेक उपमान देता है। ये उपमान उनके मानसिक दृष्टिकोणके बोधक तो हैं ही साथ ही इनसे कविके प्रकृति निरीक्षण, सामाजिक चिन्तन और नैतिक भावनाकी भी झलक मिल जाती है। जैसे युद्धके वर्णनमें यह उपमा है।

उपयोगी अलंकारोंका विचार किया है। यास्कने भी उपमाका उल्लेख किया है। उनके पहले गार्ग्यने उपमाकी यह परिभाषा की थी, 'यत् अतत् तत् सदृशं उपमा' वस्तुतः देखा जाये तो वेदोंमें रूपक, पुराणोंमें अतिशयोक्ति और लोक-काव्योंमें उत्प्रेक्षा और उपमाकी बहुलता है। लोक-काव्योंकी इसी प्रवृत्तिको देखकर ही शायद भामह और दण्डीने इनका विशेष विवेचन किया है। परन्तु इन आचार्योंके विवेचन क्रमको देखनेसे ऐसा लगता है कि उस समय अलंकारोंके स्वरूप और संख्याके सम्बन्धमें निश्चित धारणा नहीं थी। उदाहरणके लिए दण्डीने यमकके बाईस भेद किये हैं, उपमाके चौबीस, किन्तु भामह मालोपमा आदि भेद नहीं मानते। दण्डीके उपमाके बहुत-से भेद, बादके प्रतीप, अपह्नुति आदि सादृश्यमूलक अलंकारोंसे मिलते जुलते हैं। कहना न होगा आलोच्य साहित्यमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदिकी मुख्यता है। यमक पुष्पदन्तको विशेष प्रिय है। आगे इसकी चर्चा होगी।

उपमा

अधिकांश अपभ्रंश कवि उपमानके चुनावमें विशेष भावुकताका परिचय देते हैं। वे उपमानके लोप, निह्नव, अपलाप या विधि-निषेधमें न पड़कर उसे भावनाके ऐसे साँचेमें ढालते हैं कि जिससे वह उपमेयकी भावपूर्ण प्रतीतिमें सहायक हो।

रूप चित्रणमें प्राकृतिक उपमानोंकी योजनाकी पद्धति बहुत पुरानी है। अपभ्रंश कवि ऐसी योजना विषम प्रसंगमें करते हैं। पतिके ठुकरानेपर जसवइकी यह अवस्था हो गयी —

जसवइ पिय वयणिं निठ्ठुरेण, विज्झाइय वणलय जिह दवेण।
तुट्टइ गरुय दुक्खह भरेण, सिरि ताडिय नावइ मोग्गरेण॥
रोवंतिए विनडहि उज्जलाइं, अंसुयइं नाइं मोत्ताहलाइं।
भयभुन्न हरिण जिह दिट्ठ सीह, जरियव्व मुमइ वीसास दीह॥
सा रयणि णं केवँइ खयहु जाइ, वरदाणु सुपत्तहिं दिन्नु नाइ॥
(प० सि० च० ९)

प्रस्तुत वर्णनमें उपमान वस्तुरूपमें भी है और वस्तु व्यापार रूपमें भी। कवि, जसवईकी विपन्न-अवस्थाका वर्णन करनेके लिए कभी दावानलसे दग्ध वनलताकी उपमा देता है और कभी डरी हुई हिरनीकी। कभी वह अमूर्त व्यापारकी उपमा देता है जैसे सुपात्रमें दिया दान नष्ट नहीं होता

वैसे ही वह रात भी पूरी नहीं हो रही थी। और भी उपमा है –

चदण दुमोव्व सीयल सहाव आरूढ महागुण नाइ भाव।

(वही १२)

मूर्त उपमाओंकी अपेक्षा भावात्मक उपमाएँ अधिक हैं। पतिके रूठनेपर पद्मश्रीकी यह दशा हो गयी। कवि उपमानोंकी झडी लगा देता है।

सकिय वणलय जिह करि रायहु सकिय मजरि जेम्व दुवाउहु।
सकिय कमलिणी जेम्व मियकहु सकिय कुल वहु जेम्व कलकहु।
सकिय गरुडह जेम्व भुयगी सकिय वग्घह जेम्व कुरंगी।

(प० सि० च० २९)

इस प्रसंगमें जितने भी उपमान आये हैं, एक-दोको छोडकर, सब प्रकृति या पशु-पक्षियोंसे लिये गये हैं। अपभ्रंश लोक-काव्यमें यह प्रवृत्ति अधिक थी। इस प्रकारकी उपमाओं-द्वारा कविका लक्ष्य निर्दोष नारीकी निरीह और आशंकापूर्ण अवस्थाकी व्यजना करना है।

पतिके द्वारा ठुकरायी हुई पद्मश्री एकदम शोभा और श्रीसे विहीन हो गयी। इसपर कविकी उपमाएँ हैं–

वज्जिय विस मजरि जिह भमरेहिं वज्जिय सूर दिठ्ठी जिह तिमरेहि।
वज्जिय सुमण-गोट्ठि जिह पिसुणेहिं वज्जिय सीह दिट्ठि जिह हरिणेहिं॥
तिह सयल सोक्ख परिवज्जिय निप्फलइ तारुन्न सिरि॥

(प० सि० च० ३१)

दिग्विजयके अनन्तर भरतका चक्र अयोध्याके भीतर नही गया। इस-पर कवि उपमाएँ देता है—

पइसरइ ण पट्टणे चक्करयणु जिह अवुहंतरे सुकइ वयणु।
जिह वम्भ चारि मुहे काम सत्थु, जिह गोट्ठंगणे मणि रयण वत्थु।
जिह किविण-णिहेलणे पणइविन्दु जिह वहुल पक्खे रूय दिवस चदु।
जिह कमिणिजणु माणुसे अटव्वे।

(प० च० १-३३)

इन उदाहरणोंसे यह साफ हो जाता है कि प्रस्तुत 'तथ्य' की व्यजनाके लिए अपभ्रंश कवि अनेक उपमान देता है। ये उपमान उनके मानसिक दृष्टिकोणके बोधक तो हैं ही साथ ही इनसे कविके प्रकृति निरीक्षण, सामाजिक चिन्तन और नैतिक भावनाकी भी झलक मिल जाती है। जैसे युद्धके वर्णनमें यह उपमा है।

साहणइं मि अवरोप्परु भिडन्ति णं सुकइ कव्व वयणइं घडन्ति ।
नयी अनुभूति और उसकी व्यजनामें कविके मनमें शब्दोंकी जैसी हलचल मचती है वैसी ही कुछ हलचल उन दोनो सेनाओंकी भिडन्तमें मची होगी ।
श्लि॰ उपमा : रामके गीतका वर्णन स्वयम्भू श्लेषमें करते हैं—

णव बहुजणणिडालव्व तिलय चारु णिग्घण गयण यलु व मंदतारु ।
संणद्ध वल पिव लयणतालु धनु रिव सज्जीउ पवण्ण वाणु ।
(प० च० २)

नदीमें पडे यन्त्रोंके वर्णनमें कविकी उपमान योजना यह है—
अह सुंदरइं सुकय-कम्माइं व णिग्गलइं सुकित्ति ण हिययाइं व ।
णिउण समासिय सुकइ पयाइं व कारिनाइ कुट्टणि वयनाइ व ।
(प० च० १, १२०)

दशरथके चार बेटे क्या थे, धरतीके चार समुद्र थे—
एम चयारि पुत्त तहो राय हो णाइं महा समुद्द महिमायहो ।
(प० च० २, ३)

सज्जन हृदयकी उपमा इन्हें बहुत प्रिय है—
दिट्ठउ वसंततिलउ उज्जाणउ सज्जण हियउ जेम अपमाणउ ।
लक्खण कहि मि गवेसहि तं जलु सज्जण हियउ जेम जं णिम्मलु
(प० च० ३, ४५)

वर्षाका पानी धीरे-धीरे सब ओर फैलने लगा, इसपर कवि ये उपमान जुटाता है—
पसरइ मेह विंदु गयणंगणे पसरइ जेम सेण्णु समरंगणे ।
पसरइ जेम तिमिरु अण्णाण हो पसरइ जेम बुद्धि बहुजाण हो
पसरइ जेम पाउ पापिट्ठहो पसरइ जेम धम्मु धम्मिट्ठहो
(प० च० २, ६१)

लक्ष्मणको देखकर कपिल ब्राह्मणकी वही दशा हुई जो शेरको देखकर मृगकी होती है या जिनेन्द्रको देखकर समारीकी ।
णट्ठु कुरंगु व वारणवार हो णट्ठु जिणिंदु व भव ससार हो ।
वनमाला आत्मवधके लिए वृक्षपर चढी हुई है । इसपर कविकी उपमा है—
रेहइ दुमे वणमाल किह, धणे विज्जु जिह,
दार्शनिक उपमानोंको योजनाकी प्रवृत्ति अधिक है—

कत्थइ अरहट्ट ममंति केम संसारिय भव संसारे जेम ।
(प० च० २, ८१)

नीतिमूलक और काव्यसम्बन्धी उपमान भी अपभ्रंश कवि प्राय देते हैं—

कत्थइं मालइ कुसुमई खिवेंति सीस व सुकइहे जसु विक्खिरंति ।
कत्थइ लक्खइ सरवर विचित्त अवगाहिय सीयल जिह सुमित्त ।
(प० च० ३, ८३)

पौराणिक उपमा

लक्ष्मणने शक्तिको झेल लिया—

स वि धरिय एंति णारायणेण वामद्धें गोरि व तिणयणेण ।
(प० च० २, ८४)

श्लिष्ट उपमाका एक और उदाहरण यह है। एक मुनिसघ पेड़के नीचे आकर ठहरा। इसपर कवि कहता है—

रिसि रुक्ख व अविचल होवि थिय किसलए परि वेढावेढि किय ।
रिसि रुक्ख व तवण ताय तविय रिसि रुक्ख व आलवाल रहिय ।
(प० च० २, ९४)

राक्षसोके बीच विभीषणको देखकर सीता कहती है—

एहु दुज्जण हो मज्झे को सज्जणु णिंब वण हो ण अब्भन्तरे चंदणु ।
(प० च० २, १६५)

सीताके अखण्ड शीलपर हनुमान्की उक्ति है—

पर पुरुसेहि णहु चित्तु लइज्जइ वालेहिं जिह वायरणु न भिज्जइ ।
(प० च० २, १८७)

रामकी वियोगजन्य कृशता बताते हुए हनुमान् सीतासे कहते है—

वुच्चइ सुंदरि तुज्झ विओऍ झीणु करीव करणि विच्छोऍ ।
झीणु सुधम्मु व कलि परिणामें झीणु सुपुरिस व पिसुणालावें ।
झीणु मयकु व वरपक्खक्खए, झीणु मुणिंदु व सिद्धि हे कखए ।
(प० च० २,१९९)

कुछ विशेष उपमाएँ—

सरजालु विहंगेवि लइउ तेहिं कावेरि सलिलु जिह नरवरे हिं ।
(प० च० २, ११७)

हउ जणियउं ताइ महा सईए तणुरुहु कव्वत्थु व कइमईए ।
(जस० च० १८)

आध्यात्मिक उपमा—

जेम जीउ मोहेण विसालिं तेम राय हउं वेढिउ जालिं।

(जस० च० ४९)

पुष्पदन्तने प्राय उपमाएँ कम दी हैं। जो दी भी हैं वे श्लिष्ट हैं। जैसे—

हत्थि हडा इव घंटामुहल वर नरवईसेवा इव सहल।

वेसा इव दरसिय दप्पणीय।

यहाँ जिनपूजाकी तुलना वेश्यासे करना असगत है। पर पुष्पदन्त अलंकारके फेरमें पडकर प्राय ऐसा कर बैठते है। श्लिष्ट उपमाका एक और उदाहरण महापुराण (२।३६) मे द्रष्टव्य है।

उपमाके प्रयोगके सम्बन्धमें इन कवियोमें निम्नलिखित बातें लक्षित होती हैं —

१. किसी भाव, घटना या अवस्थाकी प्रभावपूर्ण व्यजनाके लिए अनेक उपमानोकी कल्पना।
२. उपमानके चुनावमें कवि स्वतन्त्रताका उपयोग करता है।
३. प्राकृतिक उपमानोके अतिरिक्त पौराणिक धार्मिक और नैतिक उपमान भी ग्रहण करता है।
४. स्वयम्भूकी अपेक्षा पुष्पदन्तमें श्लिष्ट उपमाकी प्रवृत्ति अधिक है।

उत्प्रेक्षा

मगधका वर्णन –

जहिं सुय पंतिउ सुपरिट्ठियाउ णं वण सिरि मरगय कट्ठियाउ।

जहिं उच्छु वणइ ववणाहयाइं कंपीति व पीलणभय गयाइं।

(प० च० १,५)

देशवर्णनमे प्राय· यह उत्प्रेक्षा शैली देखी जा सकती है। पर कवि कभी व्यक्तिगत उत्प्रेक्षा भी देता है—

जहिँ फाडिम वयणाइं दाडिमाइं णज्जंति ताइं णं कइ मुहाइं।

(प० च० १,५)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कविका मुख ऐसा ही था।

तपस्वी वालिके ऊपर रावणका विमान रुक गया—

रिसि तवतेएं थिउ विमाणु णं दुक्किय कण्ण वसेण वाणु।

सुक्के खीलिउ मेहजालु णं पाउसेण-कोयल वमालु।

ण दूसासिएण कुटुम्व दित्तु णं मच्छे धारिउ महापवत्तु।

(प० च० १,१०६)

रावण कैलासके मुखविवरसे निकल पडा। इसपर कविकी यह उत्प्रेक्षा है—

लुअ केसर-उक्खय णह णिहाउ णं गिरि मुह मुएवि गइदु आउ।

(प० च० १,११०)

घमासान युद्धमें धरती, डोलेमें बैठी नव वधूकी तरह मालूम देती है —

खग-उड पवनादोलिय मेइणि डोलारूढी णं वर कामिणि।

(प० च० १,१४४)

पतिसे उपेक्षित अजनाने अपने गहने एक-एक करके उतार डाले—

ढिल्लइ आहरणाइ परियलति णं णेह खडखडइ पडंति।

(प० च० १,१५०)

सीता रामके साथ जानेके लिए अपने भवनसे क्या निकली मानो—

णिय मंदिर हो विणिग्गय जाणइ णं हिमवत हो गंग महाणइ।

णं घटहो णिग्गय गायत्ति ण सद्दहो णीसरिय विहत्ति।

णइ कित्तिसपुरुस विमुक्की णाइं रम्भ णिय वासहो चुक्की।

(प० च० २,१७)

इसमें कविने वैदिक उपमानो की खुलकर उत्प्रेक्षा की है। सचमुच इस घटनासे वह अपने पाठकोको प्रभावित करना चाहता है।

एक जिनमन्दिरमें रामको वृक्ष ऐसे दिखाई दिये—

तहो भवणहो पासेहिं विविह महादुम दिट्ठा।

णं संसार भयेण जिणवर सरणे पइट्ठा।

(प० च० २,१९)

वनमें रामसे मिलनेके लिए कैकेयी पहुँची। इसपर कविकी आशकापूर्ण उत्प्रेक्षाएँ देखिए—

ण भर हो सपय रिद्धिविद्धि णं राम हो गमणहो तणिव सिद्धि।

ण भरहो सुन्दर सोक्ख खाणि ण रामहो इट्ठ कलत्त हाणि।

(प० च० २,२७)

श्लिष्ट उत्प्रेक्षा—

पुणु वि पडीवइ णयरु णिहालिउ णाइ महायणु कुसुमो मालिउ।

णइ सेणु रहवाह अमुक्कउ णाइं विवाह गेहु सचउक्कउ।

(प० च० २,६३)

अटवीमें उडते पक्षी रामको ऐसे दिखाई दिये—

कत्थचि उड्डाविय सउण सय ण अडविहे उड्डेवि पाणगय।

(प० च० २,११५)

निराश चन्द्रनखाके विद्रूप रूपका वर्णन—

णं दावइ लक्खण राम कित्ति णं खरदूषण रावण भवित्ति।
णं णिहियर लोयहो दुक्ख खाणि णं मदोदरिय हो सुपुरिस हाणि।

(प० च० २,१२४)

कपट-सुग्रीवको छोडकर विद्या चली गयी। इसपर उत्प्रेक्षा—

माया सुग्गीउ विसालिए मेल्लइविज्जए वेयालिए।
णं णिद्धणु मुक्कु विलासिणिए णं वरगय लंछणु रोहिणिए।

(प० च० २,१८१)

पुष्पदन्त उत्प्रेक्षामे गंगाका वर्णन इस तरह करते है—

णं सिहिर धरारोहण णिसेणि णं रिसह णाह जसरयण खाणि।

(म० पु० १,२१०)

भरतके चक्रके प्रवेश न करनेपर पुष्पदन्त यह उत्प्रेक्षा करते हैं—

थक्कउ चक्कउ ण पुरि परि सक्कइ कुकइहिं कव्वु व णउ चिम्मक्कइ।
णं कोवाणल जालामंडलु णं पुर लच्छिइ परिहिउ कुंडलु।

(म० पु० २)

रामने सीताका पाणिग्रहण किया, इसपर कविकी यह उत्प्रेक्षा है—

वइदेहि धरिय करि हल हरेण णं विज्जलु धवले जलहरेण।
णं तिहुहणसिरि परम्पएण णं णायवित्ति पालिय-पएण।

(म० पु० २,३९७)

सीताको खोजते हुए रामके अनुचरोको सीताका उत्तरीय मिला, इसपर उत्प्रेक्षा देखिए—

दीसइ वसग्ग विलंबमाणु णं रिउ गयगयणंगण पमाणु।
ण दावइ कंतिहि तणिय वट्ट इह दहमुह मारीयइ पयट्ट।

(म० पु० २,४२८)

लंकाविजयके बाद राम सीतासे मिले—

आणिय मिलिय देवि बलहद्दहु हेम सिद्धि णावइ रस सिद्धहु।
केवल णाण रिद्धि ण बुद्ध हु दिव्ववाणि जाणिय परमत्थहु।
वरकइ-मइ ण पढिय सत्थहु चित्त सुद्धि ण यास मुणिंदहु।
णं संपुन्वा कति छणयंदहु णं वरमोक्ख लच्छि अरहंतहु।
बहु गुण संयय णं गुणवंतहु।

(प० च० २, ५०२)

उपमाके प्रसगमें हमने जिन बातोका निर्देश किया है वे उत्प्रेक्षाके विषयमें भी लागू होती हैं। ये कवि एक साथ कई उत्प्रेक्षाएँ देते हैं। हिन्दी कवि सूरदास भी सौन्दर्य वर्णनमें प्राय ऐसा करते हैं।

रूपक

यह भी अपभ्रश काव्यका प्रमुख अलंकार है। प्रकृति-सम्बन्धी रूपकोका उल्लेख प्रकृति-चित्रणमें है और कुछका युद्ध और वस्तु वर्णनके प्रसगमें। निम्नलिखित उदाहरणमें कवि सहस्रासके अन्त पुरपर कामनगरीका आरोप कर रहा है—

ज पुणु तहो केरउ अन्तेउरु ण पच्चक्खु जे मयरद्धयुरु।
णेउर मुरयहु पेक्खणया हरु कायण्णम्म् तलाउ मणोहरु।
सिर मुहकर कम कमल महासरु मेहल तोरणहं छण वासर।

(प० च० १, ११९)

रूपककी प्रवृत्ति स्वयम्भूमें सबसे अधिक है। एक जगह वह लक्ष्मणपर ही सरोवरका रूपक बांध देते हैं।

णयण कडक्खउ लक्ख सरवरु।

(प० च० २, ४८)

अथवा राम महागज हैं जैसे—

गुल गुलन्तु हल हेइ महग्गउ णावइ गिरि कदरहो विणिग्गउ।

(वही पृ० ४०)

कही सरोवरपर आकाशका आरोप है, जैसे—

ताहिं सरणह तले।

(वही पृ० ५०)

कही नगरको सरोवरका रूप दिया है, जैसे—

तहिं तेहए पुर सरवरे दुज्जय लीलए णाइं पइट्ठ।

(प० च० २, ७८)

अपभ्रश कवि नारी रूपका आरोप प्राय करते हैं, जैसे रामपुरीके वर्णनमें—

पुणु रामपुरि पघोसिय लोएं णं णारिहे अणुहरिय णिओए।

(प० च० २, ६३)

कभी उत्प्रेक्षाका मूल रूपक होता है जैसे—

दिट्ठ महारइ णाइं विलासिणी गिरिवर मणहर सिहर पगासिणी।

आध्यात्मिक रूपक प्राय मिलते हैं जैसे—देह रूपी घरका यह चित्रण है–

पुग्गल परिमारऊ सुत्तु घरेवि कर चलण चयारि खम्भ करेवि।
बहु अत्थि जि अंतहिं ढक्किययउ मासि हु चम्म छुह पंकिय उ।
सिर कलसा लंकिउ संचरइ माणुसु वरभवण हो अणुहकइ।
(प० च० २, ९६)

धर्मरूपी वृक्षका यह वर्णन है—

सो धम्मंधिउ एहउ गिज्जइ खम खभाय तंतुग्गय देहउ।
सद्दव पल्लउ, अज्जउ साहउ ।

इसी तरह वृक्षके दूसरे अंगोका आरोप कर कवि कह देता है—'यह धर्म-वृक्ष जीव दयापति-द्वारा ही रखा जा सकता है' सारे रूपकका मुख्य लक्ष्य है दयाको धर्मका मूल सिद्ध करना। सक्षेपमें वर्णनके लिए रूपकमें सुगमता होती है पर कही व्यर्थ अग-प्रत्यगोका आरोप अरुन्तुद हो उठता है। कभी-कभी विशेष प्रयोजनसे कवि रूपक बाँधते हैं। जब वह रामरूप गजका पुरवर-रूपी सरोवरमें प्रवेश कराता है तो उसका मुख्य लक्ष्य यह बताना भी है कि वह धर्मरूपी अकुशसे निरुद्ध था। धर्मकी मर्यादाका ध्यान बराबर रखते थे। अथवा जैसे पुष्पदन्तने लकापर कमलका आरोप किया है, इसका मुख्य हेतु यही है कि आगे हनुमान् भ्रमर बनकर वहाँ जाते हैं। रूपककी प्रवृत्ति हिन्दी कवि तुलसीदासमें इससे भी अधिक है, विशेषत प्रारम्भमें। परिसख्याका प्रयोग है पर प्राय नगर या देशके वर्णनमें। यह पुरानी पद्धति है। जैसे उप्पल खेडका वर्णन इस प्रकार है—

साहुद्धरणु जेत्थु णंदण वणि णउकंदति कहिं मि दीसइ जणि।
जेत्थु कोउ विणाण णयल्लउ उद्धावणु एक्कु जि कर हुल्लउ।
(म० पु० १, ३४७)

अन्य उदाहरण पउमचरिउ (३, ६७) तथा महापुराण (१,२३५, २,१२७, ४३५) मे देखे जा सकते हैं—

एकावलि

अभिषेकके कलशोका वर्णन है—

अलिझंकारइं सरलइं सदलइं कलसि कलसि सणिहियइ कमलइं।
कमलि कमलि आसीणइं हसइं हंसइ कयकल सर णिघोसइ।
(म० पु० २, १३६)

अथवा ऐरावतके वर्णनमें पउमचरिउ (२, ९२) मे यह द्रष्टव्य है—

जहिं जलहि णाहि विणु पंकयेहि पंकयइ णाहि बिणु छप्पएहिं ।

व्यतिरेक

राजा श्रेणिकका वर्णन—

किं ति पयणु ण णं विरुत्र चक्खु किं सरुहरु ण ण एक्क पक्खु

(प० च० १, पृ० ७)

उल्लेख

जयन्धर राजाका वर्णन—

रूवेण कामु कंतीए चंदु धणवइ धणेण, विहवे इंदु ।

(णा० कु० च० १०)

अनन्वय

आयासु जि आयासहु सरिसु उवमाणु ण तुज्झु को वि सरिसु ।

(म० पु० १,५१)

उदाहरण

णउ दिट्ठ ताह सो तेत्थु केम अण्णाणिएहि सव्वण्णु जेम ।

(म० पु० ७,३९)

या

उप्पाडिउ केस कलाउ किह भवकुरुह मूल पब्भारु जिह ।

(म० पु० २,३९)

निदर्शना

गच्छंतु अहोमुहु तिमिरपंथु ण दावइ णरयहु तणउ पंथु ।

रामहु कलत्तु इह हितु जेण जाए सइ सो मग्गेणे रेण ।

(म० पु० २,४२६)

या

जं सुहु असणेहि रच्चचतए ज सुहु अधारइ उच्चतए ।

जं सुहु सिविण तरु पिच्छतए त सुहु एत्थु नयरि आछतए ।

(भवि० क० ४४)

क्रियासमुच्चय दीपक

सिरु धुणेइ कर मोडइ वलेइ कपए,

अहिलेमि निज्झायइ काम सरेण जपए ।

(प० च० २,१७१)

विरोधाभास

सुपत्तया अवत्तया रसंकिया वसुज्झया ।
सरुनया अरुवया सुगंधया अमधया ।
सकारणा अकारणा ससंभया असंभया ।

(म० पु० २,४१)

श्लिष्ट विरोध

णं केसरि गय मासाहारिय णं परदार गमिण पर दारिय ।

(प० च० २,२५)

स्वभावोक्ति

राम मृगको पकडते हैं, पर वह उन्हें छकाता है—
णव द्वा दल कंदल भरइ तरवर किसलय पल्लव चरइ ।

(म० पु० २)

अतिशयोक्तिका प्रयोग आलोच्य साहित्यमें नहीके बराबर है । केवल रहमान इसके अपवाद हैं । उनके सन्देश रासकमें प्राय यही वर्णन है कि हडबडीमें नायिकाकी करधनी खिसक जाती है और कभी मारे ख़ुशीके स्तन कचुक फाडकर बाहर निकल जाते हैं । प्रियवियोगमें नायिका इतनी सूख गयी है कि,

इक्कत्ति वलियडइ वेवि समाण हत्थ ।
या
जो कालगुलि मंदडउ सो बाहड़ी समाइ ।

(पृ० ३१)

हिन्दी रीतियुगमें यह प्रवृत्ति अत्यधिक दीख पडती है ।

भ्रान्ति

परिपुच्छिउ सुमालि दिणुत्तरु किं णह यलु णं णं रयणायरु ।

(प० च० १,९८)

सन्देह

अहो अहो ताय ताय ससि धवलइं एयइं किंण जलुग्गय कमलइं ।
किं हिम सिहरइं साडेवि मुक्कइं ।

(प० च० १,९१)

शब्दालंकारोंमें श्लेष, यमक और अनुप्रासकी बहुलता है । यह स्वाभाविक भी था । यमक और श्लेषके उदाहरण पुष्पदन्तकी सन्धियोंके

शुरूमें आयी स्तुतियोंमें देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त भोजन, वन, प्रकृति आदिमें श्लिष्ट शैली ही मिलती, बाणके पहलेसे ही यह शैली प्रसिद्ध हो रही थी। गरीब ब्राह्मणकी दरिद्र कुटियाका प्राय सभीने श्लेषमें वर्णन किया है। वह घर मोक्षके समान था क्योंकि—

णिरवेक्खु णिरक्खरु केवलउ णिम्माणु णिरंजणु विम्मलु।
णिव्वत्थु णिरत्थु णिराहरणु णिद्धणु णिब्भत्थु णिम्मणु।

लेख-पत्रका वर्णन प्राय श्लेपमें मिलता है—

महि मण्डले घत्तिउ दिट्ठु किह णावालउ गगा वाहुजिह।
(प० च० ६१)

'गीत' 'तापस' का श्लिष्ट वर्णन अन्यत्र आ चुका है। कई श्लेष अपभ्रंश शब्दोंसे ही बनते हैं जैसे 'लक्खण' को लेकर स्वयम्भूने काफी चमत्कार दिखाया है क्योंकि लक्ष्मण और लक्षणका अपभ्रंशमें एक ही रूप होगा। कतिपय ध्वनियोंके अभावसे इस भाषामें समान स्वरता अधिक है। अनुप्रासके लिए, जैसे—

जिय पउम सविब्भम पउम णयण, पउमच्छि पफुल्लिय पउम वयण।
(प० च० २,८६)

अन्त्यानुप्रास अपभ्रंशकी ही देन है। यह अपभ्रंश छन्दका आवश्यक गुण है। जब कि भामहसे लेकर राजशेखर तक किसीने इसका विचार नहीं किया। विश्वनाथने किया है। हिन्दीमें यह तुकबन्दी कहलाती है। अपभ्रंश साहित्यमें पहेलीका उल्लेख है पर इसका उदाहरण यहाँ नहीं मिला। 'सारंग' शब्दको लेकर अवश्य कुछ प्रदर्शन है, जैसे—

कमल वंजु घेप्पइ सारंगे-णउ मालूरे णीसारंगें।
गमण लील जा किय सारंगे सा कि णासिज्जइ सारंगें।
(म० पु० २,६)

उलटवासियाँ

अपभ्रंश मुक्तककी पूर्वी शाखामें उपलब्ध है। वस्तुत इनके मूलमें विरोधाभास होता है, सांकेतिक अर्थ करनेपर उसका विरोध हट जाता है। शब्द ज्योंके त्यों रहते हैं और कहीं तोड़ मरोड़ कर अर्थ करना पड़ता है।

अपना मांसे हरिणा वैरी खनहन छाड़अ भूकु अहेरी।

तिण न छुअइ हरिण पिवइ ण पाणी हरिण हरिणी णिलय न जाणी।

भुसूकवादके इस अवतरणमे शाब्दिक और प्रतीकार्थ है—

हरिण मृग-मन

अहेरी शिकारी-साधक

हरिणी मृगी-ज्ञान मुद्रा

कवीरमे यह शैली मिलती है——

दूसरे प्रकारके अर्थ विरोधके उदाहरण हमने गीत तत्त्वके प्रसगमें दिये है। लेकिन यह केवल पूर्वी प्रदेशकी विशेषता नही है क्योंकि पछाऊं मुक्तक और चरित कवियोने भी थोडा-बहुत प्रतीक शैलीका अनुसरण किया है। जैसे——

एक्कु चोरु चिरु धरिउ तलारें गीव मुह णासच्छि णविट्ठउ।

सासु लएंतेहु कहिमि ण दिट्ठउ।

(प० च० २,११०)

श्लिष्ट ऊहात्मक उक्तियोसे सन्देश रासकका दूसरा प्रक्रम (उत्तरार्ध) भरा पडा है।



अपभ्रंश काव्योंकी छन्द-योजना

अपभ्रश प्रबन्ध काव्यधारा, सचमुच छन्दकी दृष्टिसे बहुत अधिक समृद्ध है। पर यह समृद्धि एकदम आकस्मिक नही। वह परम्पराका विकास है। अपभ्रश काव्यधाराके पहले प्राकृतमें छन्द काफी विकसित हो चुका था। डॉ० वेलणकरने ऐसे छह छन्द-शास्त्रियोके नाम गिनाये हैं, जो स्वयभूके पहले, छन्दपर कुछ लिख चुके थे। छन्दकोशके लेखक रत्नशेखरने भी अर्जुन और गोशाल नामक छन्दलेखकोका उल्लेख किया है। इसी प्रकार स्वयं स्वयभूदेवने भी गोविन्द और चतुर्मुखके नाम दिये हैं। इनमें अधिकाशकी मूलकृतियाँ उपलब्ध नही, अत यह नहीं कहा जा सकता है कि उसमें मुख्य रूपसे किस भाषाके छन्द है। पर इससे यह स्पष्ट है कि स्वयभूके पहले प्राकृतमें छन्दशास्त्र लिखा जा चुका था। उक्त प्राकृत छन्दकारोमें-से कुछ ऐसे हैं जिनके अवतरणोका उल्लेख स्वयभूच्छन्द-में मिलता है। जैसे चतुर्मुख और गोइन्द। इनके जो अवतरण स्वयभूच्छन्दमें हैं, वे अपभ्रशमे हैं। इससे यह अनुमान भी होना है कि उन्होंने प्राकृतके साथ अपभ्रश छन्दोका भी विचार किया होगा। जब प्राकृत और अपभ्रश साहित्यका समानान्तर विकास हो सकता है, तो छन्दोका भी समानान्तर विकास और उसका अध्ययन सम्भव है। इससे यह भी स्पष्ट है कि अपभ्रश छन्दपर स्वयभूके पूर्व चर्चा प्रारम्भ हो चुकी थी।[1]

अपभ्रश छन्दोके स्रोत दो हैं, एक तो विभिन्न छन्दशास्त्रियो द्वारा प्रस्तुत अपभ्रश छन्दोका विश्लेपण और दूसरे, अपभ्रश काव्यमें प्रयुक्त छन्दोका अनुशीलन। इससे हम सर्वप्रथम पहले स्रोतको लेंगे। अभीतक जो लक्षण ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें कुछमें अपभ्रश छन्दोका विचार हैं

---

१ डॉ० जैनके अनुसार प्राकृतछन्दपर गाथालक्षण सबसे पुराना ग्रन्थ है। इसमें 'शर' आदि सज्ञाओंका प्रयोग मिलता है। पिंगलके विपरीत इसमें गाथाके तीन भेद हैं—पथ्या, विपुला और चपला। ह्रस्व दीर्घके आधार-पर विप्रा, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा भेद किये गये हैं। अक्षर-सख्याके आधारपर गाथाके २० भेद हो सकते हैं। गाथामें मात्राओंकी घटती-बढ़तीके कारण विगाथा, उद्गाथा और गाथिकी भेद होते हैं, इनमें प्रथम तीन आचार्य हेमचन्द्रके अनुसार उपगीति, उद्गीति और गीति माने जाते हैं।—(भारतीय सस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान)

और कुछमें प्राकृत एवं अपभ्रंश दोनोंका। जहाँतक अपभ्रंश छन्दोंकी ऐतिहासिक विकास रेखा खींचनेका सम्बन्ध है, इसके लिए स्वयम्भूच्छन्द और छन्दोनुशासनका सबसे अधिक महत्त्व है। एक तो दोनों ही रचनाएँ, अपने युगके दो प्रतिनिधि विद्वानोंकी हैं, दूसरे उनमें अपभ्रंश छन्दका अलगसे विवेचन है। स्वयम्भूच्छन्द पहलेकी रचना है। डॉ० वेलणकरका अनुमान है कि छन्दोनुशासन स्वयंभूच्छन्दके आधारपर नहीं लिखा गया। भले ही हेमचन्द्राचार्यने उल्लेख न किया हो, पर उनके सम्मुख कुछ और रचनाएँ (स्वयंभूच्छन्दसे भिन्न) थीं, जिनके आधारपर उन्होंने अपने ग्रन्थकी रचना की।

यही नहीं, डॉ० वेलणकरकी यह स्थापना भी है कि स्वयं स्वयम्भूच्छन्दकारने उक्त ग्रन्थोंके आधारपर अपने ग्रन्थकी रचना की। इसी सन्दर्भमें उन्होंने यह प्रश्न भी उठाया है कि स्वयम्भूच्छन्दका लेखक कौन है? स्वयम्भूकवि या दूसरा और कोई?[1] डॉक्टर साहब स्वयम्भू कविको छन्दशास्त्री नहीं मानते। इस सम्बन्धमें उनके तर्क दिये हैं—

१. स्वयम्भूकविके पुत्र त्रिभुवन स्वयम्भूने इस बातका उल्लेख नहीं किया।

२. कवि स्वयम्भूने अपनी रचनाओंके अवतरण नहीं दिये।

३ स्वयंभूच्छन्द इस नामको लेकर यह प्रमाणित करना कि यह स्वयम्भूका है, यह कठिन है।

४ वह न तो छन्दशास्त्री थे और न वैयाकरण ही जैसा कि डॉ० हीरालाल जैनने अपने लेखमें सिद्ध किया है।[2]

यह तो हुआ डॉ० वेलणकरकी स्थापनाका ऋणात्मक दृष्टिकोण। उसका धनात्मक दृष्टिकोण यह है कि स्वयम्भूच्छन्दके लेखक कवि स्वयम्भू न होकर, सम्भवत चतुर्मुख थे। अपने मतके प्रतिपादनमें वे कहते हैं कि एक ओर कवि स्वयंभूने चतुर्मुखको विविध छन्दोंके प्रयोगमें कुशल बताया है, दूसरी ओर छन्दशास्त्री स्वयम्भूने भी लिखा है कि चतुर्मुखने राम-कथापर कोई प्रबन्धकाव्य लिखा है। इससे लगता है कि चतुर्मुख प्रबन्ध कवि और छन्दशास्त्री दोनों थे। स्वयम्भूच्छन्द उन्हींकी

१. देखिए, जर्नल ऑफ बम्बई यूनिवर्सिटी, आर्ट्स् एण्ड ला नम्बर १, नवम्बर ३६, पार्ट III

२. देखिए, नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल न० १, दिसम्बर १९३५ पी० पी० ७४–८४.

रचना होनी चाहिए। अपभ्रंश छन्दके क्षेत्रमें डॉ० वेलणकरके अनुशीलनकी सराहना करते हुए भी, मैं उनकी इस स्थापनासे सहमत नहीं हो सकता। अन्त -बाह्यसाक्ष्य, और सहज तर्कसे जो बात सिद्ध की जा सकती है उसके लिए तार्किक जटिलता उत्पन्न करना सचमुच अनुसन्धानके क्षेत्रमें एकदम गलत प्रक्रिया है। पहले अब हम उन तर्कोंको लेते हैं जिनके आधारपर स्वयंभूच्छन्द कवि स्वयंभूका नहीं हो सकता।

१ त्रिभुवन स्वयंभूने इसका उल्लेख नहीं किया, कोई महत्त्व नहीं रखता। उलटे उसने अपने पिता स्वयंभूके लिए पंचानन कहा है, जिसका लाक्षणिक अर्थ है पाँच विद्याओंमें पण्डित। इन विद्याओंमें एक छन्द-विद्या भी है।

२ स्वयंभूने अपनी रचनाओंके अवतरण नहीं दिये, एकदम निराधार है। वास्तविकता यह है कि स्वयंभूने एक दो नहीं दर्जनों अवतरण अपनी कृतियोंसे दिये हैं।

३ स्वयंभूच्छन्दसे प्रमाणित नहीं होता कि स्वयंभूच्छन्द स्वयंभूका है, कोई अर्थ नहीं रखता। कम-से-कम वह चतुर्मुखका तो नहीं हो सकता। स्वयंभू नामके व्यक्तिका ही होना चाहिए। वह कवि स्वयंभूका ही सकता है, क्योंकि उनके अवतरण उसमें हैं। जो अवतरण उनके अपने हैं, उनपर नाम नहीं है। जो दूसरोंके हैं वे नामसहित हैं।

४ स्वयंभू वैयाकरण नहीं थे, प्रस्तुत समस्यासे एकदम असम्बन्धित प्रश्न है। फिर भी अकेले पद्मचरितके अन्त साक्ष्यपर यह कहा जा सकता है कि स्वयंभू अच्छे वैयाकरण थे। व्याकरण-सम्बन्धी इतनी उपमाएँ पद्मचरितमें हैं कि वे अपनी कल्पनाके लिए विशेष पाण्डित्यकी अपेक्षा रखती हैं। इसके सिवा पद्मचरितकी भूमिकामें कविने जो आत्मलघुता बतायी है उससे भी उनके वैयाकरण होनेका संकेत मिलता है। इन सब बातोंके अतिरिक्त इस महत्त्वपूर्ण तथ्यको नहीं भूलना चाहिए कि लोकभाषा-कवि होनेके नाते इन कवियोंका दोहरा काम था। लोकभाषा-काव्यशैलियोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना एक काम, और शास्त्रीय धारणाओंको आत्मसात् कर उसे अभिव्यक्ति देना दूसरा काम। उन्हें अपनी कवितामें लोकप्रियता, अलंकरण और पाण्डित्य, तीनोंका संगम करना था, ज्ञान उन्हें शास्त्रोंसे उपलब्ध था, अलंकरणके लिए संस्कृतका साहित्य-शास्त्र उनके पास था। पर छन्दके लिए उन्हें अपना ही सहारा था। क्योंकि छन्द

अपनी भाषाकी प्रकृति और गीतात्मकताके अधीन होता है। जिस प्रकार कोई भाषा अभिव्यक्तिमें स्वय अपनी शैली विकसित करती है, उसी प्रकार उसकी लय और गीतात्मकताका भी स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। उनका आकर्षण और रमणीयता, वस्तुत उसीमे निहित रहती है। यही कारण था कि अपभ्रंश कवि छन्दपर पूर्ण अधिकार किये बिना अपनी अनुभूतिको अभिव्यक्ति नही दे सकते थे। अत कवि स्वयभूके लिए छन्दशास्त्री होना जरूरी था। उनके द्वारा छन्दशास्त्री होनेका एक प्रमाण है स्वयभूच्छन्द यह नाम। दूसरा है, उनके द्वारा काव्यमें प्रयुक्त छन्द। चतुर्मुख विविध छन्दोके प्रयोगमें कुशल थे, इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि उन्होने काव्यमें अनेक छन्दोका प्रयोग किया। क्योकि छन्दवैविध्य एक ऐसी विशेषता है जो भारतीय प्रबन्ध-काव्यमें उत्तरोत्तर बढती गयी। यह भी हो सकता है कि चतुर्मुखने भी छन्दपर कोई रचना की हो, पर स्वयभूच्छन्द उनका नही हो सकता।

स्वयभूच्छन्दमे प्राकृत और अपभ्रंश दोनो भाषाओके छन्दोका सोदाहरण विवेचन है। अपभ्रंश छन्दोकी परिभाषाके सन्दर्भमें सबसे पहले छन्दकार स्वयभू स्वरोके लघु-गुरु होनेकी प्रक्रियाकी विस्तारसे चर्चा करते है। फिर उत्साह छन्दकी परिभाषाके बाद 'दुवह' छन्दका विवेचन है। दुवह वस्तुत' हिन्दीका दोहा है। दुवहके तीन भेद किये गये हैं— दुवह, उवदुवह और अपदुवह। इनमें क्रमश सम विषम पादोमें १४-१२, १२-१२, और १२-१४ मात्राएँ होती है। स्वयभूका अपदुवह, दुवहका उलटा रूप है, जो हिन्दीका सोरठा छन्द है। तदनन्तर, मत्ता, मत्त-वालिया, मत्तमधुकरी, मत्तविलसिणी, मत्तकारिणी, रड्डा आदि छन्दोकी परिभाषाएँ दी गयी है। स्वयभू यह भी बताते हैं कि लौकिक पुरुषोकी प्रशस्ति-परक छन्दोको अपभ्रंशमें धवल कहते है। इसके उन्होने भेद-प्रभेद भी किये हैं। बादके अध्यायोमें जाति छन्दोका विवेचन है। जिसमें चतुष्पदी और द्विपदीके भेद-प्रभेदोकी परिकल्पना है। डॉ० वेलणकरके अनुसार द्विपदीके विवेचनमे स्वयभू और हेमचन्द्रमें काफी समानता है। बडी द्विपदियोके बारेमें डॉ० वेलणकरका कहना है कि उन्हें चतुष्पदी या सप्तपदीके अन्तर्गत समझना चाहिए। पर द्विपदीके सम्बन्धमें उनका यह तथ्य बिना किसी हिचकके स्वीकार किया जा सकता है कि वे वाद्यके साथ अवश्य गायी जाती थी। उनमें जो पहली और दूसरी 'यति'का अन्तर

है वह वस्तुत तालके गणको सूचित करनेके लिए है। इसी सन्दर्भमें यह भी ज्ञातव्य है कि मध्यम और दीर्घ द्विपदियाँ, कडवकके प्रारम्भमे आती है। पर छोटी द्विपदीके बारेमे ऐसा कुछ भी स्पष्ट रूपसे नही कहा जा सकता। हो सकता है, 'कहावत' आदिके लिए उनका प्रयोग होता रहा हो। यह भी सम्भव है कि वर्णनात्मक आख्यानोमे उनका प्रयोग कम हो गया हो। इसमे सन्देह नही कि द्विपदी, प्रारम्भसे ही सगीतसे प्रभावित रही है। वह आठ मात्राओके धमाली तालमे गायी जाती थी। उसकी यति सगीतात्मक थी। उसका तालमेल तालसे था। 'यति' सच पूछिए तो एक प्रकारसे सगीतात्मक विराम थी। कुछ विद्वान् प्राकृत गाथाको द्विपदी माननेके पक्षमें है, यह प्राकृतका पहला छन्द माना जाता है। आठवें अध्यायमें स्वयभूने अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योकी कुछ सामान्य विशेषताओका उल्लेख किया है, इनका सम्बन्ध छन्दोसे है। इसमें घत्ता छड्डणिआ और पद्धडिआका एक साथ विचार है।[1] लगता है रासाबन्धसे उनका अभिप्राय ऐसे प्रबन्ध-काव्य (अपभ्रंश) से है जिसमें छड्डणिआ घत्ता और पद्धडिआ आदि सभी छन्द हो। हो सकता है उस समयकी लोक-परम्परामे ऐसी कोई रमणीय लोकप्रिय काव्यशैली प्रचलित रही हो। फिर वह छड्डणिआ घत्ता आदिके भेद-प्रभेदोका विचार करते है। छड्डणिआ सात प्रकारकी होती है, घत्ता तीन प्रकारका होता है। परन्तु पद्धडिआके लिए ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही है। विविध गीत भी हो सकते है।[2] साधारणतया पद्धडिआके सम्बन्धमें उनका विचार है कि उसके एक चरणमे १६ मात्राएँ होती है। इस प्रकार उसके आठ यमक होते है। यमकके आदिमें घत्ता रहता है और अन्तमे छड्डणिआ। इस प्रकार एक कडवक बनता है और फिर कई कडवकोमे सन्धि और सन्धियोम काव्यकी रचना होती है। छड्डणिआ और घत्ताके भेद प्रभेदोसे कई तरहकी सन्धियोकी रचना होती है।[3] सन्धिके आदिके छन्दके विषयमे स्वयभू कहते है कि घत्ता, दुवह, गाहा, अडिल्ल, भत्ता, पद्धडिका, छड्डणि आदिमे से कोई एक छन्द हो सकता है। यद्यपि अपभ्रंशके सभी प्रबन्ध-काव्योमें इस नियमका निर्वाह नही मिलता। हो सकता है स्वयभूकी समकालीन या पूर्ववर्ती काव्य-

---

१ स्वयम्भूच्छन्द श्लोकसख्या ४६, ५०, ५१,

२ वही।

३ वही।

धारामें इस प्रकारका नियम रहा हो। स्वयुभू एक ओर इस बातका उल्लेख करते हैं कि काव्यमे सगीत वाद्य और अभिनयसे युक्त रचनाएँ होती हैं। यह इस बातका (जैसा कि मैने अन्यत्र भी प्रतिपादित किया है) प्रमाण है कि अपभ्र श प्रबन्ध-काव्यधारामे सगीत, वाद्य और अभिनयके तत्त्वोको आत्मसात् कर लिया गया था।[1]

विषय एक होते हुए भी, अपभ्र श छन्द-शास्त्रियोकी विश्लेषण-शैलीमें एकरूपना नही है। कोई एक छन्दका विस्तारसे विचार करता है तो दूसरा किसी और छन्दका। सम्भवत इसका यही कारण हो सकता है कि अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें अपभ्र श कविता अधिक लचीली, सुगम और गतिशील रही होगी। इसलिए छन्दके प्रयोगमें ढीलापन होना स्वाभाविक है। अपभ्र श छन्दके बारेमें एक विशेषता यह उल्लेखनीय है कि वह व्यक्ति नही जातिसे सम्बन्ध रखता है। यह इसलिए भी स्वाभाविक था, क्योकि प्रारम्भमें छन्दका प्रयोग सजीव और सहज होना चाहिए। कहना कठिन है कि प्रारम्भमें अपभ्र श छन्दका स्वरूप क्या था ? अधिकतर सम्भावना यही है कि उसमें मात्रा और अक्षरवृत्त ही रहे होगे। सस्कृतमें जब गणवृत्तका प्रचलन हुआ तो उसमें 'गण' की प्रधानता होने लगी, पर गणका नियन्त्रण भी वस्तुत मात्राओसे होता है। प्राकृत माध्यमसे यह वृत्त अपभ्र शमें आया, पर अपभ्र श छन्दकी प्रकृतिके भीतर ही उसे स्वीकार किया गया। पण्डितोने साधारणतया दो प्रकारके अपभ्र श छन्द स्वीकार किये है—१ प्रबन्ध काव्य-परम्पराके छन्द, २. चारण अथवा मुक्त-परम्पराके छन्द, पर यह विभाजन किसी ठोस आधारपर स्थित नही है। दूसरे, समयकी धारा उनमें परिवर्तन करती रही है। मोटे तौरपर यह माननेमें अवश्य कोई आपत्ति नहीं कि स्वयभू और कवि दर्पणकारने पहली परम्पराके छन्दोका विचार किया है, रत्नशेखर और प्राकृत पैंगलकारने दूसरी परम्पराके छन्दोका। परन्तु प्रस्तुत मान्यताका इतना ही अर्थ होना चाहिए कि अपभ्र श छन्दके सम्बन्धमें अधिक शास्त्रीय दृष्टि

---

१. सधिहिं आइइं घत्ता, दुवइ माहा डिल्ला।
मत्ता पद्धडिआए छड्डणी आवि पटिल्ला।
सगीअ वज्ज अभिणअ सहुत्त तालभेअ मिह सुणनु।
मत्तच्छेदो रुच पचनाल च होइ वव्वमि।
वेहिं रुए हिअ रइअ निचाल न सुणिज्जासु॥

अपनाना ठीक नही । इससे यह अभिप्राय भी ध्वनित होता है कि अपभ्रश कवि छन्दके प्रयोगको लेकर बडे सजग रहे । लोकभाषाकी गतिशीलताको बनाये रखनेके लिए यह आवश्यक भी था । यही कारण है कि उसमें दोनो परम्पराओके छन्द मिलते है । साहित्यिक अपभ्रंश काव्योमें गणवृत्तो-का उसी प्रकार प्रयोग है जिस प्रकार खडी बोली हिन्दीके आदि प्रबन्ध-काव्य प्रियप्रवासमें । पर प्रियप्रवासकारके छन्द-प्रयोगका सबसे बडा दोष है, उसका शास्त्रीयपन । खडी बोलीकी सहज प्रकृति और लालित्य सस्कृत छायासे उसमें बोझिल हो उठा है । यही कारण है कि परवर्ती कवियोने उसका अनुसरण बहुत कम किया । पर यह बात अपभ्रंश कवियोके बारेमें नहीं कही जा सकती । गणवृत्तोके प्रयोगसे न तो उनकी भाषा बोझिल हुई है और न शैली ही शिथिल । श्रीअल्सफोर्डने अपभ्रंश छन्दके दो भेद किये हैं—गणप्रधान और मात्राप्रधान । फिर उन्होने मात्राप्रधानके पाँच भेद किये हैं—१ चारपादका लयात्मक छन्द, २ दोहा आकारके छन्द, ३ केवल लयवाले छन्द, ४ मिश्रित छन्द, ५ घत्ताके आकारके छन्द ।[1] इसी प्रकार प्रयोगकी दृष्टिसे भी भेदोकी कल्पना की जा सकती है । १. मुक्तक रचनाओंमें प्रयुक्त होनेवाले छन्द, २. कडवकरचनामें प्रयुक्त छन्द, ३ कडवकके आदि-अन्तमें प्रयुक्त छन्द । दोहेके बारेमें यह विचारणीय है कि वह अपभ्रशका औरस छन्द माना जाता है, पर अपभ्रश काव्यमें उसका प्रयोग बहुत ही कम हुआ है । हाँ, मुक्तक-परम्परामें वह अवश्य मुक्त रूपसे प्रयुक्त है । पुष्पदन्तके महापुराण भाग १९.५ की एक टिप्पणीसे जान पडता है कि स्वयभूकी पद्धडियामें लिखी हुई रामायण बहुत प्रसिद्ध थी । स्वय महाकवि स्वयभूने भी रिट्ठणेमिचरिउकी भूमिकामें लिखा है कि चतुर्मुखने छड्डुणिय, दुवइ, ध्रुवक आदिसे जडित पद्धडियाकी रचना की है । पद्धडियासे उनका अभिप्राय सम्भवत रासाबन्ध या प्रबन्ध-काव्यसे है, परन्तु डॉ० भायाणीने इस उल्लेखके आधारपर पद्धडियाको कडवकका प्रमुख छन्द सिद्ध करना चाहा है । बहरहाल यह कहना तो कठिन है कि कड़वकरचनाका कौन प्रमुख छन्द था और कौन अप्रमुख ? इसका विचार हम कडवकके प्रसगमें करेंगे । फिर भी इस सन्दर्भमें दो बातें ध्यान देने योग्य है । एक तो यह कि अपभ्रशमें छन्द प्राय व्यक्ति नही जाति है । दूसरे, यह कि प्रयोगभेद-

---

१ अपभ्रंश स्टेडेन १९३७ पृ० ४६ ।

से छन्दके नाममें परिवर्तन सम्भव है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपभ्रंश छन्दोंमें 'यति' प्राय संगीतात्मक होती है, लोकभाषाके छन्दोका अपभ्रंश छन्दोपर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त प्रयोगभेदसे अपभ्रंश छन्दोके धवल, मंगल आदि नाम होते हैं। उदाहरणके लिए जैन-प्रार्थनाओ और स्तुतियोंमें 'धवल और मंगल' शब्द आते है।

धवलमंगलगानरवाकुले जिनगृहे जिननाममहं यजे।

अर्थात् धवल और मंगल गीतोकी ध्वनियोसे भरपूर जिन-मन्दिरमें मैं जिनके नामकी आराधना करता हूँ। छन्दोऽनुशासनमें भी इसी अर्थमें ये शब्द प्रयुक्त हैं। वस्तुत लौकिक महापुरुषोकी प्रशस्ति करनेवाले गीत धवल कहलाते थे, और आध्यात्मिक महापुरुषोकी प्रशस्ति-परक-गीत मंगल। जिनेन्द्र भगवान्‌का व्यक्तित्व दोनो दृष्टियोसे महान् था, इसलिए उनके सम्बन्धमें दोनो गीत-विधाएँ प्रयुक्त होती थी। सच पूछिए तो अधिकाश अपभ्रंश चरितकाव्य एक प्रकारसे धवलमंगलगान ही है। आगे चलकर हिन्दीमें धवलगानवाले चरितकाव्य अलग लिखे गये और मंगलगानवाले काव्य अलग। हिन्दी साहित्यके इतिहासका चारणयुग धवलकाव्य है और भक्तियुग मंगलकाव्य। वैसे मंगलकाव्योकी बंगालमें एक परम्परा मिलती है।

कड़वकरचना

साधारणतया एक कडवकमें कुल आठ यमक, या १६ पंक्तियाँ होनी चाहिए। इसका अर्थ हुआ चार छन्द। स्वयभूने प्राय इसका पालन किया है। उसके बाद घत्ता देनेका नियम है, परन्तु आगे चलकर न केवल यमकोकी संख्या बढ़ी, किन्तु कडवक रचनामें विविध छन्दोंका भी प्रयोग होने लगा, आगे हमने महापुराणसे इसके उदाहरण दिये हैं। उसमें वर्णवृत्तोंका भी प्रयोग है। स्वयभूने भी ऐसा किया है। पउमसिरि चरिउ में मुख्य पद्धडिया है पर वदनक भी है। करकण्ड चरिउ और जसहर चरिउका अनुकरण है। णायकुमार चरिउ और जसहर चरिउमें एक ही कविकी कृतियाँ होनेसे यही बात है। मुक्तक काव्योमें प्राय. 'दोहा' है, पर गीत-काव्योमें 'पद' के अतिरिक्त रसिक और कुन्दका भी प्रयोग है। यह प्रचलित गीतकाव्यका अनुकरण होना चाहिए। सन्देश रासक खण्डकाव्य है, पर उसमें छन्दोंकी विविधता है। उसमें वस्तुत कथाका [illegible] अनुकरण अधिक है। सन्धि और कड़वकके प्रारम्भमें या कड़वकके अन्तमें भी कई

तरहके छन्दोका प्रयोग है। आगे हम इस बातके विचारका अवसर पायेंगे कि घत्ता कोई खास छन्द नही, एक विशेप रूपमें प्रयुक्त किसी भी छन्दको घत्ता कहा जा सकता है। इसी तरह सन्धिके प्रारम्भमें आनेवाले विभिन्न छन्दोको ध्रुवक कहते हैं, परन्तु कडवकके प्रारम्भमें आनेवाले स्वतन्त्र छन्दका कोई खास नाम नही था, विभिन्न छन्द अपने ही नामके प्रयुक्त होते हैं। स्वयभू छन्दके आठवें अध्यायसे ऐसा मालूम होता है कि कडवकके प्रारम्भका छन्द घत्ता और अन्तका छन्द छड्डिनी कहलाता था। परन्तु आलोच्य प्रबन्ध-काव्योमें इसका एक भी उदाहरण नहीं मिला, अत जवतक किसी और स्रोतसे इसका समर्थन नही होता तबतक यह कथन विश्वसनीय नही माना जा सकता। कडवकके प्रारम्भमें छन्द देनेकी प्रवृत्ति पुष्पदन्तमें सबसे अधिक है। इसमें उन्होने उल्लाला, आवली, मलयविलसित, मलयमजरी, नन्दिनी, रुचिता आदि छन्दोका प्रयोग किया है।

कड़वकका मुख्य छन्द

सन्धि कडवकोके समूहसे बनती है और कडवकमें चार पद्धडिका होता है, परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि कडवकका मुख्य छन्द क्या है, जैकोबी और अल्सफोर्ड इन चार छन्दोको मुख्य छन्द मानते है। पद्धडिका, अडिल्ल, वदनक और पारणक। उपलब्ध साहित्यके आधारपर अल्सफोर्ड[1] इसका समर्थन विशेप रूपसे करते है। उनका यह मत छन्दोनुशासनपर अवलम्बित है। हेमचन्दने लिखा है—

सन्धिके आदि और कडवकके अन्तमें ध्रुव, ध्रुवा या ध्रुवम या घत्ता होता है। कडवकके समूहको सन्धि कहते है, और चार पद्धडिकादिके समूहको कडवक कहते हैं। उसके अन्तमें निश्चित रूपसे ध्रुवक होता है। ध्रुवा या घत्ता उसके नामान्तर हैं। उसके तीन भेद हैं—षट्पदी, चतुष्पदी और द्विपदी। कडवकके अन्तमें प्रारब्ध अर्थके उपसहारके लिए छड्डुणिका आती है। प्रारब्ध या प्रकरणके आयत्त अर्थको, कडवकके अन्तमें, भगिमासे कहनेमें षट्पदी, चतुष्पदी, आदि ही छड्डुणिआ कहलाती

१ पउम चरिउ भूमिका 'मीटर' शीर्षक।

है। इस कथनके आधारपर कुछ विद्वानोंका अभिमत है कि उक्त चार छन्दोंमें कडवककी रचना की जा सकती है, परन्तु उनमें एक पद्धडिका होनी चाहिए। दूसरे शब्दोंमें इसका यह अर्थ हुआ कि तीन छन्दोंके साथ एक पद्धडिका भी हो। श्रीअल्सफोर्डके अनुसार ये तीन छन्द है—अडिल्ल, वदनक और पारणक।

इस सम्बन्धमें प्रो० भायाणी काफी विचार-विमर्शके बाद निम्नलिखित निष्कर्षपर पहुँचे है—

१ इस बातका निश्चित पता चलता है कि कडवक चार छन्दोंसे बनता है, चाहे यह पद्धडिया हो या अन्य कोई।

२. स्वयभूने पद्धडियाके प्रत्येक चरणमे १६ मात्राएँ मानी हैं। इसका उल्लेख किया जा चुका है।

३ कविदर्पण, पृ० ३९ में 'पद्धडिया-चउक्क' लिखा है, इससे भी स्पष्ट है कि 'चार पद्धडिका' होनी चाहिए।

४ यह परिभाषा प्रारम्भिक अपभ्रश काव्योंमें अवश्य मिलती है, पर बादमें ऐसा कोई नियम नही रहा।

५ कडवकरचनामें पद्धडिका बन्ध ही कहने लगे। इससे यही सिद्ध होता है कि कडवकरचनामें किसी भी छन्दका उपभोग किया जा सकता है।

घत्ता

कडवककी समाप्तिको सूचित करनेवाले छन्दका नाम घत्ता है। इसके ध्रुवा, ध्रुवक या छड्डुणिया भी नाम हैं। कडवकके अन्तमें इसका होना अपभ्रश काव्यमें बहुत जरूरी है। इतना प्रसिद्ध छन्द होते हुए भी इसके स्वरूपका प्राचीन छन्द-लक्षणकारोंने व्यवस्थित विचार नहीं किया।

---

१ सन्ध्यादौ कडवकान्ते च ध्रुवं स्यादिति ध्रुवा, ध्रुवकं घत्ता वा।
कडवकसमूहात्मकः सन्धिः, तस्यादौ चतुर्भिः पद्धटिकाद्यैः छन्दोभिः कडवकम्। तस्यान्ते, ध्रुवं निश्चितं स्यात्, इति ध्रुवा ध्रुवकं घत्ता वेति संज्ञान्तरम्। सा च त्रेधा, षट्पदी, चतुष्पदी, द्विपदी च। कडवकान्ते प्रारब्धार्थोपसंहारे, आद्ये च छड्डणिका, प्रारब्धस्य प्रकरणादन्यस्य अर्थस्य कडवकान्ते भंगिमान्तरेण अभिधाने षट्पदी चतुष्पद्यावेव छड्डणिका संज्ञे, न केवलं ध्रुवादि संज्ञे, छड्डणिका संज्ञे चेति—अर्थात्, छन्दोनुशासन अध्याय ६०।

घत्ताकी अन्तिम मात्राको निश्चित करनेका कोई खास नियम नहीं है, उसे ह्रस्व या दीर्घ किया जा सकता है।

श्री अल्सफोर्डने हरिवंशपुराण-काव्यके स्वसम्पादित संस्करणमें घत्ताके दो भेद किये हैं—

१ शास्त्रीय, २ वस्तुत व्यवहारमें प्रचलित।

आचार्य हेमचन्दने घत्ताका एक भेद दुवई माना है, और उसका बहुत विस्तारसे विचार किया है। इसमें २८ से ४० मात्राएँ तक हो सकती हैं। इसके कोई ६४ भेद-प्रभेद उन्होंने सोदाहरण गिनाये हैं। डॉ० भायाणीके अनुसार इनका स्वयंभू और पुष्पदन्तने सम्भवत घत्ताके रूपमें प्रयोग नहीं किया। उनका विचार है कि दुवई, चतुष्पदी आदिके प्रयोगमें थोड़ा अन्तर था। यह किस आधारपर था यह बताना कठिन है। पिंगल-के अनुसार (१७१ पृ०) घत्ताका लक्षण है—प्रतिपंक्ति ३१ मात्राएँ, यति १०।८ अन्तिम दो लघु-लघु, परन्तु यह वास्तवमें हेमचन्दका छड्डुणिका है। छन्दोनुशासनमें लक्षण इस प्रकार है। अर्थात् ४ मात्राके सात गण, तथा तीन मात्रा। १० और ८ मात्रापर यति। इसमें अन्तिम तीन मात्राओंको ह्रस्व दीर्घ होनेके विषयमें कुछ भी संकेत नहीं है, परन्तु पूर्वान्वयसे यही सिद्ध होता है कि अन्तिम दो ह्रस्व हों, अत दोनोंकी योजना हुई।

घत्ता पिंगल १०।८।१३ अन्तिम दो लघु।

छड्डुणिआ हेमचन्द १०।८।१३ अन्तिम दो लघु।

यह कहा जा चुका है कि ध्रुवा, ध्रुवक आदि भी घत्ताके ही दूसरे नाम हैं। जब भंगिमाविशेषसे किसी अर्थको (कडवकके अन्तमें) कहते हैं तो वह छड्डिणी कहलाती है। इससे स्पष्ट है कि 'घत्ता' के कई नाम हैं।

घत्ता क्या है—अब देखना यह है कि 'घत्ता' किसी खास छन्दका नाम है, या छन्दोंके विशेष प्रयोगका। इसके दो आधार हो सकते हैं—लक्षणकार क्या कहते है और उपलब्ध काव्योंमें इसका क्या स्वरूप है।

१—हेमचन्दने घत्ताके तीन भेद किये हैं—षट्पदी, चतुष्पदी और दुवई। इनका छठे अध्यायमें विस्तारसे विचार किया है। छड्डुणिका (पिंगलका घत्ता) को उन्होंने दुवईका एक भेद माना है। इसी तरह षट्पदी और चतुष्पदीके भी कई भेद उन्होंने किये है। उनका यह भी कहना है कि इन सबका कडवकके अन्तमें प्रयोग होता है, अत ये सो घत्ता

हुए। इसीलिए पिंगलका घत्ता छड्डुणिआ है और वह दुवईकी एक जाति है, इसका जब कडवकके अन्तमें प्रयोग होता है तो घत्ता कहलाता है; लेकिन दुवई आदिके अन्य भेदोको भी इस रूपमें प्रयुक्त होनेपर 'घत्ता' ही कहते हैं। स्वयभूके इस कथनसे भी कि 'चतुर्मुखने छर्दनिका द्विपदी और ध्रुवकोसे जडित पद्धडिया दी' यही बात पुष्ट होती है, यहाँ पद्धडियाका तात्पर्य कडवकसे है। उसके अन्तमें घत्ता रूपमें छर्दनिका, द्विपदी और ध्रुवक आते हैं, ध्रुवक घत्ताका ही नाम है। दुवईसे तात्पर्य उसकी सभी जातियोसे है। छर्दनिका छड्डुणिआ ही है जो हेमचन्दके अनुसार दुवई-का ही एक भेद है। इसका अलगसे नाम गिनानेकी आवश्यकता इसलिए हुई क्योकि इसका घत्तामें अधिक प्रयोग होता होगा, इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रारम्भमें कडवकके अन्तके छन्दका नाम निश्चित नही था। छड्डुणिआकी इस लोकप्रियताको देखकर ही शायद पिंगलकारने उसे 'घत्ता' नामसे अलग छन्द ही मान लिया, पर उनकी बात अधिक प्रामा-णिक नही मानी जा सकती, क्योकि वह अनेक हाथोका सग्रह-ग्रन्थ है (प्राकृत पैंगलम् १९०२, भूमिका ७ पृ०)[1] फिर उसके टीकाकारने (पृ० १७१ में) साफ लिख दिया है 'अथ द्विपदी घत्ता छन्द' अर्थात् दो पदवाला घत्ता छन्द।

२ उपलब्ध काव्योसे भी यही बात प्रकट होती है कि पिंगलवाले घत्ताके सिवा दूसरे छन्दोका भी प्रयोग ठेठसे उनमें होता आ रहा है। आगे हम इसके उदाहरण देंगे। डॉ० द्विवेदीने घत्ता रूपमें प्रयुक्त जिन छन्दोके उदाहरण दिये हैं वे अन्तसमा चतुष्पदीकी जातियाँ हैं। इसमें १०।१३ पर यति होती है। पउमसिरि चरिउकी पहली सन्धिमें घत्ताके लिए षट्पदीका प्रयोग है। भविसयत्तकहामें घत्ताके लिए चतुष्पदीके कई रूप प्रयुक्त हुए हैं, जैसे कुसुम निरन्तर (१७) विभ्रमविलसितवदन (१६) इत्यादि। इनका हेम॰ चन्दने चतुष्पदीके अन्तर्गत विचार किया है। इन सबका घत्ता रूपमें प्रयोगका विघटन है। यथार्थमें देखा जाये तो ध्रुवक, चतुष्पदी, षट्पदी और दुवई

---

१ इट सीम्स टू बी नाट दी कम्पोजीशन ऑफ़ ए सिंगल पर्सन, बट ए कम्पा-इलेशन फ्रॉम सेवरल आर्थरस्। वस्तुत. प्राकृतपैंगल, एक सग्रहात्मक छन्दो-ग्रन्थ है। प्राकृत अपभ्रंश और अवहट्टके लोकप्रिय छन्दोका परिचय देना इसका उद्देश्य है। मुख्यतया अपभ्रंशोत्तर कालके छन्दोका सद विवेचन करता है।

तथा इनकी जातियाँ दो पादोंके ही छन्द हैं। हेमचन्द सम्भवत मात्रा छन्दोंका यही विकासक्रम दिखाना चाहते हैं। उदाहरणके लिए ध्रुवक दो पादका छन्द है। छ० आ० के अनुसार इसके प्रत्येक चरणमें ७ से लेकर १७ मात्राएँ हो सकती हैं। मात्राओंकी वृद्धिसे उनके गणक्रममें परिवर्तन होना अनिवार्य है। लेकिन जब इन्ही ध्रुवोंके चरणोंको अनुप्रास और मात्राके आधारपर तीन पादोंमें विभक्त कर दिया जाता है तो वही षट्पदी छन्द बन जाता है। मान लीजिए किसी ध्रुवकके एक चरणमे १७ मात्राएँ हैं, तो उसमें गणक्रम इस प्रकार हो सकता है—

१ – ६ + ४ + ४ + ३ = १७ या २ – ४ + ४ + ४ + ५ = १७।

इसमें भी १, २, ४ और ५ पदोंकी मात्राएँ ज्योंकी त्यों रहती हैं, ३ और ६ की मात्राओंकी वृद्धि होती है, बढनेकी अधिकतम सख्या १७ हो सकती है। इस प्रकार १, २, तथा ४ और ५वें पदो की मात्राए ९ तक बढायी जा सकती हैं। इस प्रकार षट्पदीकी कई जातियाँ और उपजातियाँ बन जाती हैं। निम्न योजनासे यह बात स्पष्ट हो जायेगी। मान लीजिए किसी षट्पदीके प्रत्येक पादमे २४ मात्राएँ हैं और उनका गण विभाजन यह है–

प्रथम पाद	१	२	३
	७ +	७ +	१० = २४
	४	५	६
	७ +	७ +	१० = २४

इसमें पदसख्या १,२,४ और ५ ज्योंकी त्यों रहेगी, परन्तु ३, ६ मे मात्राएँ बढायी जा सकती है। दूसरे पादमें भी यही क्रम समझना चाहिए। हेमचन्दके अनुसार इन सबका घत्ताके रूपमें प्रयोग हो सकता है।

चतुष्पदी

इसका दूसरा नाम वस्तुक है। इसमें भी वस्तुत दो पाद होते हैं, परन्तु प्रत्येक पादको अनुप्रास और मात्राओंके आधारपर दो पदोंमें विभक्त कर देते हैं। नियम यह है कि किन्ही दो पदोंमें समानता होनी चाहिए। इसके विषम पद (१ और ३)में ७ से १६ तक मात्राएँ बढायी जा सकती हैं और समपदों (२ और ४) में ८ से १७ तक। इस तरह इसके ५५ भेद हो सकते हैं। सर्वसमा चतुष्पदीमें चारों पद समान होते हैं। इसके अन्तर्गत मुख्य छन्द ये हैं—

ध्रुवक	मात्रा ९	(५ + ४)
शशांक वदना	१०	(८ + २)
मारकति	११	(४ + ५ + २) या (४ + ४ + ३)
महानुभाव	१२	
अप्सरोविलसित	१३	
पारणक	१५	
पद्धडिका	१६	
रगड ध्रुवक	१७ आदि।	

द्विपदी

इसके अन्तर्गत हेमचन्दने (छन्दोनुशासन अध्याय ७ में) २८ मात्राओ-से लेकर ४० मात्राओ तकके भेदोका विचार किया है। इस प्रकार ध्रुपदी-ध्रुवाके ६४ भेद होते हैं। वह यह भी लिखते हैं कि षट्पदी ध्रुव विद्वानोकी गोष्ठीमें बहुत ही वरिष्ठ मानी जाती है[1]। मगलगानमें जब द्विपदीका प्रयोग होता है तो वह ध्रुवका कहलाती है नही तो द्विपदी। (मगलैव ध्रुवा प्रोक्ता द्विपदाऽन्यत्र कीर्त्यते)। यह तो हुआ २८ या उससे अधिक मात्राओकी द्विपदी छन्दोका विचार। परन्तु इससे कम मात्राओ-की भी द्विपदी हो सकती है। हेमचन्दने चार मात्रासे लेकर १२ मात्राओ-की द्विपदियोका विचार किया है।

विजया — ४ मात्रा
दैवका — ५ ,,
गण — ६ ,,

सात मात्राकी द्विपदीमें गणक्रम वदलनेसे छन्द भी वदल जाता है—

जैसे— ४ + ३ = स्वर द्विपदी
५ + २ = अप्सरा

मात्रा ८
५ + ३ – मदनविलम्बित
४ + ४ – करिमकर भुजा
३ + ६ + ९ – पुष्पमाला, इसका दूसरा नाम तोमर भी है

१२ मात्राओ तक 'दुवई'का विचार करनेके अनन्तर लेखकने कह दिया है कि ३० मात्राओ तक इस छन्दका विस्तार समझ लेना चाहिए।

---

१ 'विदग्ध गोष्ठी वरिष्ठा षट्पदी ध्रुवा।— छन्दोनुशासन ३८ पृ०

दूसरे शब्दोंमें मात्रिक छन्दोके विकासका संक्षिप्त सूत्र इस प्रकार है—

१ मात्रिक छन्द दुवईसे शुरू हुआ, परन्तु यमकका होना उसमे आवश्यक था।

२. सात मात्राओके चरणवाली दुवईमें गणोके विकल्प होने लगे। इस आधारपर छन्दका नाम भी अलग हो गया। १२ मात्राओ तक यही क्रम चला।

३ चरणमे मात्रा अधिक बढनेपर अनुप्रास और मात्राओके अनुपातसे उसके दो पद बना दिये गये। 'चतुष्पदी' या चार चरणवाले मात्रिक छन्दोका विकास इसी तरह हुआ। पादोकी समानता या असमानताको लेकर यह चतुष्पदी चार प्रकारकी कहलायी। अर्धसमा, अन्तरसमा, विषमा और सर्वसमा। इनके भी कई भेद-प्रभेद हैं।

४ अधिक मात्राओवाले पादके दोकी जगह तीन पद करनेपर षट्पदीका विकास हुआ। विभाजनका आधार पूर्ववत् है। इसके अन्तर्गत भी अनेक छन्द आते हैं।

५ २८ मात्राओ या उससे अधिक मात्राओवाली दुवईका विचार, यति और गुरु लघुके आधारपर भी किया गया। इस जातिके भी कई छन्द बने।

६ चतुष्पदी (दुवई) का भी घत्तामे प्रयोग होता है। पद्धडिका, चतुष्पदी है। छन्दोनुशासनमें उसकी पदयोजना इस प्रकार है—

१ और २ पाद — ४ + ४ + ४ + ग० ल० ल०

३ और ४ पाद — ४ + ४ + ४ , ल० ल० ग०

पउमचरिउकी ३४वी सन्धिके ११वें कडवकमे 'घत्ता'की पद योजना यह है—

४ + ४ + ४ + , ग० ल० ल० चारो पादोमे।

इसीके कडवक ६मे घत्ताकी पदयोजना इस प्रकार है—

४ + ४ + ४ + , ग० ग० १ और २ चरणमें

४ + ४ + ४ , ग० ल० ल० ३ और ४ मे

छन्दोनुशासनमें इसीलिए केवल यह उल्लेख है कि इसमें चार मात्राओके चार गण होना चाहिए। गणक्रम क्या हो इसका कोई निर्देश उसमें नही है, परन्तु पिंगलकारने आदर्श पद्धडियाका जो लक्षण दिया है उसके अनुसार पदयोजना यह होगी—

४ + ४ + ४ , ल० ग० ल०

कडवक-रचनामे प्राय यह पद्धडिया आदर्श मानी गयी है। घत्ताके रूपमें इस भेदका उदाहरण पउमचरिउकी उक्त सन्धिमें नही मिला। शायद कडवक-रचनामें अत्यधिक प्रसिद्ध होनेसे पिंगलकारने 'इस भेद' का विशेष रूपसे उल्लेख कर दिया। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार छड्डणीका घत्ताके नामसे। इससे सहज यह जाना जा सकता है कि पिंगलकार अपभ्रश काव्यमें प्रयुक्त प्रसिद्ध छन्दोको चुन-चुनकर रखनेके पक्षमें हैं। अत घत्ताके सम्बन्धमें इन सारी बातोंका निष्कर्ष यह है—

क कडवकके अन्तमे आया छन्द घत्ता कहलाता है।

ख मुख्य रूपसे दुवई, चतुष्पदी और षट्पदी इसके तीन भेद है।

ग किन्तु इन छन्दोका अन्यत्र भी प्रयोग किया जा सकता है, पर कडवकके अन्तमें आनेपर इन्हें घत्ता कहते है।

घ घत्ता रूपसें इन विविध छन्दोका प्रयोग स्वयंभूके पहले भी प्रचलित था।

ङ 'इनके कितने ही भेद-प्रभेद किये जा सकते है पर उनका आधार 'दो पाद' ही होता है।

च पिंगलका घत्ता और हेमचन्दका छड्डणी एक ही छन्द है।

छ दुवई चतुष्पदी और षट्पदीके भेद-प्रभेद मुख्य रूपसे निम्न कारणोसे होते हैं—

१ मात्राकी वृद्धि। २. मात्रागणोके क्रममें परिवर्तन। ३ ह्रस्व दीर्घके विनिमयमें परिवर्तन। ४ यमक और अनुप्रासमें परिवर्तन।

आलोच्य काव्यमें प्रयुक्त छन्दोका स्वरूप और प्रयोग-परिचय भी यहाँ आवश्यक है।

पद्धडिया

इसके दो अर्थ है – खास छन्द और इस जातिके सभी छन्द साधारणतया १६ मात्राओंके उन सभी छन्दोको पद्धडिया कह सकते है, जिनका कडवकमें प्रयोग होता है। किसी भी प्राचीन लक्षणकारने इसकी स्पष्ट व्याख्या नही की। पिंगलके अनुसार (पृ० १२५) प्रत्येक चरणमें चार मात्राओके चार गण हो और अन्तिममें जगण हो – यह प्राय. सभी अपभ्रंश काव्योकी कडवक-रचनामें प्रयुक्त है। डॉ० भायाणीका मत है कि १६ मात्रिक पादवाले छन्दोंसे निर्मित काव्यको रासाबन्ध भी कहते थे।

सम्भव है 'पद्धडिया' का अधिक प्रयोग होनेपर इसे पद्धडिया वन्व कहा जाने लगा हो। इसमें आठ मात्रापर हलकी-सी यति होना आवश्यक है। वदनकमें यह आवश्यक नहीं, गणयोजनामें छूट वरती गयी है। पद्धडियाके ४+४+४ (लघु, गुरु, लघु) इस रूपके सिवा दूसरे रूपोंके उदाहरण भी अपभ्रंश काव्यमें विरल नहीं, जैसे पउम चरिउ सन्धि ७ के अन्तिम कडवकका यह रूप मिलता है।

१, २, ३ पंक्तियोंमें उक्त रूप हैं, परन्तु ४ पंक्तिमें अन्तिम गण-क्रम है ल०ल०ल०ल०। ५ पंक्तिमें ल०ग०ल० है पर ६ पंक्तिमें ल०ल० ग० और ७ में ल० ग० ल०। ८ में भी यही क्रम है। इससे स्पष्ट है कि पिंगलकी आदर्श पद्धडियाका प्रयोग सर्वत्र नहीं है। एक विशेष बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि किन्हीं दो पंक्तियोंका ही गणक्रम ठीक मिलता है। द्विपदीमें यह होना आवश्यक था, चतुष्पदीमें नहीं। जब यह क्रम चार पादोंमें मिलता है तो उसे चतुष्पदी या पद्धडिया आदि कहते हैं, परन्तु हमारा अनुमान है कि अपभ्रंश कवि दो पंक्तियोंकी समानतापर ही कड-वककी रचना करते हैं। इससे ८ यमककी जगह हमें कहीं-कहीं ८ यमक तथा १ पंक्ति और यानी कुल १७ पंक्तियाँ मिलती हैं। पंक्तियोंकी यह संख्या कम-बढ़ भी हो सकती है। स्वयंभूने आठ यमककी बात इस-लिए लिखी होगी क्योंकि वह छन्दमें चार पाद अनिवार्य मानते होंगे, आगे चलकर हम देखेंगे कि वर्ण-वृत्तोंके प्रयोगमें भी अपभ्रंश कवि केवल दो पादों या पंक्तियोंमें ही समानता दिखलाते हैं, पूरे वर्ण छन्दका प्रयोग उन्होंने अनिवार्य न समझा।

वदनक

कविदर्पणने 'आदि शब्दात्' इसकी टिप्पणीमें लिखा है कि इसके अन्तर्गत और भी छन्द आते हैं। जैकोबीने इसका खूब विस्तारसे विचार किया है। वे और अलसफोर्ड इसे अडिल्ल कहनेके पक्षमें हैं। जब कि कवि-दर्पणकार और स्वयंभू इसे वदनक कहते हैं। आचार्य हेमचन्द्रने इसे अडिल्ल-का एक रूप माना है। इसकी गणयोजना यह है—

६+४+४, ल० ल०

इसमें अन्तिम दो मात्राएँ लघु होनी चाहिए। यदि इन्हीं अन्तिम दोको दीर्घ कर दिया जाये तो यह चौपाई बन जाती है। तुलसीदासने राम-चरितमानसकी रचना इसी छन्दमें की है, पर मात्राएँ इसमें भी १६ होंगी।

पुष्पदन्तने इसका खूब प्रयोग किया है।

अडिल्ल

वदनकके अन्तिम लघु वर्णोंमें यम कर देनेसे अडिल्ल बन जाता है। ६+४+४ (२ लघु यमक) दो चरणोमे यमक होनेपर अडिल्ल कहलाता है और चारो चरणोमे होनेपर मडिल्ल। पिंगलमें भी यही परिभाषा है।

पारणक

१५ मात्राओका छन्द है। इसकी रचना पद्धडियासे मिलती है। उसका अन्तिम गण बदलनेसे यह बन जाता है। स्वयंभूके अनुसार गणक्रम यह होगा ४+४+४ (ल० ल० ल०)। स्वयभूके अनुसार १६ मात्राके छन्दका ही पद्धडिया बन्धमें प्रयोग होता है। फिर भी पारणकका प्रयोग उन्होने किया है क्योकि इसमें अधिक अन्तर नहीं है। यह पद्धडियाका ही विकसित रूप है।

मदनावतार

यह अन्तरसमा चतुष्पदोके अन्तर्गत है। पुष्पदन्तने इसका खूब प्रयोग किया है। १०वी सदोके लेखकोको यह खूब प्रिय था। गणक्रम ५+५+५=२०। अन्तिम गण इसमें हमेशा दोर्घ होगा। इसे कामिनी मोहन भी कहते हैं।

विलसिनी

३+३+४+३, इसमें अन्तिम गण ग० ल० होगा। लेकिन स्वयभूने जो उदाहरण दिये है उनमें यह गणक्रम भी घटता है (५+५+३+ ल० ग०) यह क्रम भूषणगलतिकका भी है। अतः परिभाषाके विषयमें कुछ कहना कठिन है।

परभणी

१२ मात्राओका छन्द है। चार गण होते हैं, प्रत्येक गणमें यह क्रम होगा—ल० ग० उदा० प० च० १७वीं सन्धि कड १६।

सिंहावलोकन

प्रतिचरण १६ मात्रा चार गण कुल गणकी अन्तिम दो मात्रा गुरु होनी चाहिए। पिंगल २९६।

प्लवङ्गम

यह २१ मात्राका छन्द है – ६ + ६ + ६, ल० ग० = २१ मात्रा कुल (पिंगल २९८)

करिमाभुजा

यह दुवईका एक भेद है। प्रति चरण ८ मात्रा, गण ४ + ४ = ८ उदाहरण पउम सिरि चरिउ पृ० ३।

स्कन्धक

प्रथम पक्तिमें ३२ मात्राएँ, सभी लक्षणकार इसकी परिभाषामे एक-मत हैं। छन्दोनुशासनके अनुसार चार मात्राओके आठ गण इसमें होने चाहिए। यह गीतिके ढगका है। सन्देश रासकमें इसका जो उदाहरण है उसमें ३० मात्राएँ हैं। प्रोफेसर भायाणीका तर्क है कि ३० मात्राके छन्द-को भी स्कन्ध कहनेकी प्रथा थी। हरिभद्रका धूर्ताख्यान इसीमें है।

मोत्तियदाम

३२ मात्रावाले स्कन्धकमें बारह और आठपर यति देनेपर यह छन्द बनता है। करकण्ड चरिउमें इसके खूब उदाहरण मिलते हैं।

दुवई

इसके सम्बन्धमें काफी मतभेद है। इसका एक छन्दके रूपमें भी विचार है और उसके कई भेद-प्रभेद भी हैं। प्रोफेसर भायाणीकी धारणा है कि अपभ्रश काव्योंकी सन्धिके प्रारम्भमें यह दो पादोंमें प्रयुक्त होती थी और गीतिकाव्यमें चार पादोंमें।

पिंगलके अनुसार (१५२-१५३ पृ०) इसका क्रम है ६ + ४ + ४ + ४ + ६ = २८ मात्रा कुल, अन्तिम गणका अन्तिम अक्षर होना चाहिए।

रासा या आभाणक

यह सन्देश रासकका मुख्य छन्द है। परिभाषामें मतभेद है। गण-क्रम है, ६ + ४ + ४ + ४ + ३ = २१ मात्रा कुल। परम्पराके अनुरोधसे अन्तिम तीन मात्राएँ लघु होनी चाहिए, पर बादमें गणभेद होने लगा।

कुन्द

छन्दोनुशासनके अनुसार इसका लक्षण है। ४ + ५ + ५ (जगण, ग०ग०) = कुल २२ मात्राएँ, परन्तु उव० क० रा०में टीकाकारने जिस

कुन्दको वस्तुक छन्दका भेद माना है उसमें 'कुन्द'की 'जगण + ग०ग०' यह विशेषता नही है। वह वस्तुत' रासा होना चाहिए। रासा और रासवलय प्राय एक है। थोडा गणभेद होता है। छन्दोनुशासनमे 'कुन्द' रासाके अन्तर्गत है और रासावलय वस्तुके अन्तर्गत। अत उक्त टीकाकारने प्रमादसे 'रासा' को 'कुन्द' कह दिया। रासावलयका 'वस्तु प्रकरण' में विचार हेमचन्दने तीन कारणोसे किया जान पडता है। १ पादोकी समानता, २. जगणका अभाव, ३ अन्तिम लघु होना। हमारा विचार है कि वस्तु-प्रकरणके छन्द भी रासा जातिके हैं। केवल इनमें पास समान है और अन्तिम लघु होता है। इसीसे अडिल्ल, वदनक आदि भी इसी जातिके हैं। इसीसे कोई-कोई इन्हें चतुष्पदी वस्तुक कहते है। 'रासक' मुक्तक काव्यमें अधिक लोकप्रिय रहा है। अडिल्लके बारेमें डॉ० भायाणीका कहना है शास्त्रीय आलोचक इसे वदनकका एक भेद मानते है। अन्तमें यमक होना चाहिए। शायद चार पादोके अच्छे छन्दमें आभीरी भाषा और यमक होनेपर उसे अडिल्ल कहनेकी एक परम्परा थी। (सं० रा० पृ० ५)

चउपइय

इसे हेमचन्द वस्तुक भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत कई भेद हैं। पहले दो पादोके समान शेष दो पाद हो तो यह छन्द हो जाता है। पिंगलके अनुसार यह लक्षण है। चार मात्राओ ७ गण, अन्तिम गुरु = ३०। १८ और १२ पर यति।

दोहा

प्रत्येक पक्तिमें १३ + ११। इनमें गण ६ + ४ + ३, और ६ + ४ + १ होते हैं।

चूडिल्लय

दोहे ही का विकसित रूप है। उससे ५ मात्रा अधिक होती है। यही चूडा कहलाती है (पि० २७५) क्रम होगा ल० ग०ल०ल०ग० अन्तिम अधिक मात्राओका। कुल एक पक्तिमें २९ मात्राएँ।

फुल्लय

इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है पर यह वृत्तजातिसमुच्चयके उत्फुल्लकके समान है। ४ + ४ + ४ + ४, ग०ग० पर गण क्रम भेद है।

कलहंस

२४ मात्राका छन्द है। १० और १२ पर यति, पिंगलमे यह नही है। छन्दोनुशासनमें है।

रमणीक

५ + ५ + ५ + ४ + ल० ग० (वृ० जाति स०) स० रा०से इसका समर्थन होता है।

पुष्पामाला

१२ मात्राका दुवई छन्द।

३ + ६ + ३ उदा० कर० च० १० कड० १७।

जंभेटिया

दुवई छन्द। ४ + ५ = ९ उदा० प० च० ४८ सन्धि।

चारु

५ + ५ = १० प० च० ४८। कड० ११।

छड्डिणी

घत्तामें इसका उल्लेख आ चुका है।

रासा

छन्दोनुशासनके अनुसार लक्षण यह है—

४ + ५ + ५ + ४, ग० ग०। १४ और ४ पर यति। अन्तमें नगण, प्रस्तारसे इसके कई भेद हैं। ऊपर इसका विचार हो चुका वै।

मिश्रितछेद

वत्थु या वस्तु काव्य + उल्लाला = वस्तु कहलाता है, इसका दूसरा नाम छप्पय है। सन्देश रासकमें दो रूप है—

१ काव्य + उल्लाला, २ रासा + उल्लाला।

खडखडय

परिभाषामें मतभेद है। वृत्तजातिसमुच्चयके अनुसार भ्रमरावलि गाथा। इसका एक नाम अवचूरित भी है।

रड्डा

इसका नाम मत्ता भी है। ५ पाद होते हैं। इसका दूसरा अंश

दोहा होता है। पिंगलके अनुसार, १ १५,२ १२,३.१५,४ ११,५ १५ मात्राएँ होती है। बादमें दोहा देनेसे रड्डा बनता है। इसे राजसेना भी कहते हैं।

उल्लाला

६ पदका छन्द है। प्रथम चार पदोमे २४ मात्राएँ होती हैं, अन्तिम दो दलोमे क्रमश. २८ + २८ = ५६ मात्राएँ होती हैं। अन्तिम दलोके गणोमें मात्रा क्रम होगा। चार मात्राओके पहले तीन गणोमें ६ गुरु हो, उसके बाद तीन मात्राके गणमें १ गुरु, फिर ६ मात्राके गणमें ३ गुरु, और उसके बाद चार मात्राके गणमें २ गुरु, फिर तीन मात्राके गणमें १ गुरु इस प्रकार १३ गुरु और २ ह्रस्व कुल मिलाकर एक दलमें २८ मात्राएँ हुईं (पिं० ११८ श्लोक) १५ + १३ = २८ लघु दीर्घका क्रम आवश्यक है। इसमें कई जातियाँ होती हैं।

लयात्मक छन्द

डोमलिया यह चारण छन्द प्रतीत होता है, पर वर्णवृत्तकी तरह प्रयुक्त है इसमें ८ सगण होते हैं, ८ अक्षरपर यति होती है, यतिका आधार लय ह है, अत क्रम ल० ल० ग० न होकर ग० ल० ल० होगा।

घत्ता रूपमें प्रयुक्त-मात्रिक छन्द

छड्डिणीका विचार हो चुका है।

अभिसारिका – दुवईके ढगका छन्द है। एक पादमे २२ मात्राएँ, क्रम ९ + १३। यह मगलाचरणमें भी आता है। छन्दोनुशासनके अनुसार अन्तरसमा चतुष्पदोका एक भेद है।

मन्मथतिलक – विषम पाद ८, सम १४ मात्राएँ—

१–३ २–४

कुसुमनिरन्तर – वि० ९ स० १४, उदा० पउम चरिउ ११ सन्धि।

नवपुष्पन्धय – वि० ११, स० १४।

विभ्रमविलसित – वि० ११ स० १३।

किन्नर मिथुन विलसित – वि० ११, स० १५।

वर्णवृत्त

मुक्तक काव्य और कडवक रचनामें इन वृत्तोका उपयोग है। पुष्पदन्तमें यह प्रवृत्ति अधिक है, परन्तु स्वयम्भूमें भी है। सन्देश रासकके

आधारपर डॉ० भायाणी वर्ण-छन्दोकी भाषामें प्राकृत प्रभाव मानते हैं, परन्तु इन कवियोके वर्ण वृत्तोकी भाषामे यह बात नही।

मालिनी – न न म य य, उदा० (स० रा० छ० १००)

नन्दिनी – यह तोटक है। ४ सगण उदा० (स० रा० १७१)।

भ्रमरावली – ५ सगण, उदा० उक्त १७३।

चामर – ज र ज र ज उदा० (म० पु० २ १८४)

मल्लिका – र० ज० थ० ल०। म० पु० २ १८३-१८३।

कमला – न न स (म० पु० २ ४८७)

सखणारी – २ यगण – म० पु० १ (१४४) २ १०५,१०९,१७०, ३१६, ३ १६१, प० च० रा० ४४ कड० ५।

लक्ष्मीधरा – चार रगण – भवि० क० ४ १३।

मन्दरा – २ मगण – भवि० क० ४-३।

जमक – न ल० ल० ५ अक्षरका वृत्त (म० पु० १, पृ० २०, ३,७४)

पमाणिआ – ज, र – म० पु० १ पु० १४१,३७७,३९५, २ ९२,२५१
प० च० स० ४४ कड० ५ उत्तरार्ध,

परन्तु म० पु० १,२०३ के आधेमें यह है, और बाकी आधेमें 'स न' वाला छन्द है। विविध वृत्तोसे कडवक-रचनाकी प्रवृत्ति भी थी। कभी-कभी दो ही पंक्तिका वर्णवृत्त मिलता है। इससे जान पडता है कि अपभ्रंश कवि दो पंक्तियोके आधारपर ही वर्णवृत्ताकी रचना करनेके पक्षमें थे। कडवक रचनाके लिए यह आवश्यक भी था।

मौक्तिक दाम – ४ जगण (म० पु० १ पृ० ४०९)
समाणिआ – ज० ग० (म० पु० ४०,४१ पृ०)
भुजगप्रयात – ४ यगण (म० पु० ९९,११०,१४१)
सम्माणिया – य ज ग (म० पु० २,१२२)

देशके नामपर छन्द

अपभ्रंश छन्दोंमें कुछ देशके नामपर नाम है, पिंगलमें इनका उल्लेख है।

आभीर – पिंगल १७७ के अनुसार, प्रति चरण ११ मात्राएँ, अन्तमें जगण आवश्यक।

सुन्दरि गुज्जरि णारि, लोअण दीह विसार।
पीण पयो हर भार, लोलइ मोत्तिय हार॥

सोरठा – सौराष्ट्रसे इसका सम्बन्ध जोडा गया है। दोहासे ठीक विपरीत। स० १३, दिन ११।

मरहट्ठ – इसका सम्बन्ध महाराष्ट्रसे माना जाता है।

गण क्रम ६ + ४ + ४ + ४ + ४ + ४ + , ग० ल०
यति १०,८,११ (पिंगल २०८)।

जइ मित्त धणेसा ससुर गिरीसा तइ विहु पिंधण दीस।
जई अभि अह कंदा, णिमलहि चन्दा तइ विहु भो अण वीस॥
जइ कणय सुरगा गोरि अधगा, तइ विहु डाकिणी संग॥
जो जसुहि पिआवा देव सहावा, कवहु ण हो तसु भग॥

निष्कर्ष

इस विवेचनके ये निष्कर्ष हैं—

१. छन्दकी दृष्टिसे यह साहित्य समृद्ध है। यह समृद्धि छन्दोकी अनेकता और विविधतासे है।

२ मात्रिक छन्दोके विकासमें 'दुवई' ही मूल है।

३. अनुप्रास, यमक और मात्रा गणभेदसे उसके अनेक भेद-प्रभेद हुए।

४. विषय और प्रयोग-भेदसे भी एक ही छन्दका नाम बदल जाता है।

५. इनमें 'लय और गेय'के पुटका ध्यान रखा गया प्रतीत होता है।

६ अन्त्यानुप्रास इसमें आवश्यक है। मात्रिक ही नहीं वर्ण-वृत्तोमे भी यह अनिवार्य है। अत लोकभाषामें वर्ण-वृत्तोका प्रयोग पुराना है।

७. विषय और प्रसंगके अनुसार ही छन्द बदलते हैं। जैसे—स्तुति, द्वन्द्वयुद्ध, लीला-वर्णन, प्रेम प्रसगमें छोटे छन्दोका व्यवहार है। पहाड, युद्ध, नगर वर्णन आदिमें यथासम्भव बडे छन्दोका व्यवहार है।

८ अधिकाश हिन्दी छन्द अपभ्रंश छन्दोके निकले, गीतमूलक पदोंमें भी अन्त्यानुप्रास और दो पक्तियोकी समानता आवश्यक है।

अपभ्रंश मात्रिक छन्दोका आधार भी यही है। सिद्ध कवियोमें पद-परम्परा मिलती है। अपभ्रंश छन्दोमें सगीतका पुट पुष्पदन्त और स्वयभू-ने दिया है। उदाहरणके लिए प० च० सन्धि, ४९ और ५६ के पहले कडवकके छन्दोकी गति क्रमश सगीतके स्वर और वाद्योके लयपर ही चलती है। वस्तुत वे नृत्यगीत है।



अपभ्रंश काव्योंका प्रकृति-चित्रण

प्रकृति शब्दका 'नेचर'के अर्थमें प्रयोग नया है[1]। दण्डीने महाकाव्यमें कतिपय प्राकृतिक दृश्योके वर्णनका विधान किया है जैसे पर्वत, ऋतुशोभा, समुद्र, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदिका वर्णन। परवर्ती साहित्य-मीमासकोने इसे ही दोहराया है। केवल राजशेखरने कुछ नवीनतासे इसका विचार किया है, वह भी काव्यविभागके भीतर इसका विचार करते है। वर्णनके सिद्धान्त और शैलीकी आलोचनाकी अपेक्षा दो-तीन बातें उन्होने महत्त्व-पूर्ण कही है—

(क) सभी ऋतुओंका एक साथ वर्णन आवश्यक नही।

(ख) इनका प्रसगके अनुसार वर्णन बदल सकता है।

(ग) प्रकृति-चित्रणकी चार अवस्थाएँ है – सन्धि, शिशु, प्रौढ और अनुकृति। (का० मी० पृ० २५८)

आगे चलकर हम देखेंगे कि ये तथ्य आलोच्य प्रकृति-चित्रणमें बहुत हद तक घटते है। इधर यह शिकायत भी बढती जा रही है कि मनुष्य प्रकृतिसे दूर हटता जा रहा है, मैं समझता हूँ मनुष्य प्रकृतिसे दूर तो नही हुआ, हाँ उसका दृष्टिकोण अवश्य बदला है। अब उसका दृष्टिकोण, सौन्दर्य-वादी न होकर उपयोगितावादी अधिक है। काव्यमें प्रकृति-चित्रण, बहुत कुछ कविकी मन स्थितिपर अवलम्बित रहता है। आचार्य शुक्लजीने काव्य (विशेषत प्रकृति-चित्रण) में अर्थग्रहणकी अपेक्षा बिम्बग्रहणपर अधिक जोर दिया है (चि० भ० भाग २, पृ० १, २) उन्होने इस बात-पर भी दु:ख प्रकट किया है कि सस्कृत महाकाव्यो-जैसा स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण हिन्दी साहित्य (प्राचीन) में नही है, वह आलम्बन रूपमें प्रकृति-चित्रणके बहुत बडे आन्दोलनकर्ता भी थे।

यहाँ ज्ञातव्य यह है कि सस्कृत काव्योमें प्रकृति-चित्रण शुद्ध परिस्थिति-योजनाके लिए था, उद्दीपन रूपमें प्रकृति-चित्रण नाटकोमें ही था, लेकिन जब दृश्य और श्रव्य काव्योकी धाराएँ मिली, तो 'रस'के उद्दीपनके लिए

---

१. प्रकृतिके अर्थ—त्रिगुण-प्रकृति, स्वभाव, प्रजा मन्त्री और योनि।
—वि० लो० को० पृ० ४७।

प्राकृतिक योजना भी वैसी होने लगी। उत्तरकालीन संस्कृत महाकाव्य इसके प्रमाण हैं। हिन्दी रीतिकालपर इसका प्रभाव काफी पडा, इस बातको ध्यानमें रखकर शुक्लजी निम्नलिखित तर्कोंके आधारपर प्रकृतिके स्वतन्त्र चित्रणपर जोर देते हैं—

१ प्रेम दो प्रकारका है—प्रेममूलक और साहचर्यमूलक। दूसरा अहेतुक है।

२ जीवनकी तरह परिस्थिति भी भावका आलम्बन है, और वह दृश्य ही है, अत यह भी हमारे भावका आलम्बन हुआ।

३ पूर्वजोसे वासना रूपमें यह संस्कार हमें मिलता है।

४ अत भाव भी रसके बराबर हो सकता है (चि० म० २ पृ० ३४)। परन्तु इस विषयमें हमारी विप्रतिपत्ति यह है—

१ प्रेमका आधार चाहे जो हो पर साहचर्यमूलक प्रेम भी स्वार्थ-सहित होता है।

२ परिस्थिति भावका आलम्बन बनती है, पर जीवनकी ही अपेक्षा-से। अत इससे रहित परिस्थिति जड है। व्यक्तिके आलम्बनमे मनुष्यकी भावना जितनी विकसित होती है उतनी जडको आल-म्बन मानकर नही।

३ परम्परा बद्ध होनेसे ही कोई भाव स्थायी भाव नही कहा जा सकता। देखना यह चाहिए कि उसकी स्वाभाविक सत्ता मानव मनमें है या नही।

४. 'प्रकृति प्रेम' अलग भाव नही रतिका आलम्बनगत भेद है, पर यह भेद भाव दशा तक ही हो सकता है।

शुक्लजीके प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी विचारोंमें रीतिकालकी प्रतिक्रिया अधिक है, उन्होने स्वतन्त्र प्रकृति चित्रणके प्रसगमें 'मेघदूत'का उदाहरण दिया है। परन्तु वहाँ भी 'आषाढके प्रथम दिनके प्रथम मेघका दर्शन' ही कारण है। प्रकृति वहाँ विशेष मानवी भावनाकी ही सहचरी बनकर आयी है। वह उसे जगाती भी है और उकसाती भी। प्राकृतिक परिस्थिति और प्राकृतिक दृश्यमें वही अतर है जो परिस्थिति और घटनामें। समय चक्रके कारण प्रकृतिमें जो परिवर्तन आते है वही दृश्य कहलाते है। इनका प्रभाव मानव मनपर भी पडता है। अत उद्दीपन रूपमें प्रकृतिका चित्रण नितान्त रूपसे उपेक्षणीय नही। फिर मनुष्यका

स्वभाव यह भी है कि वह प्रकृतिसे प्रभावित ही नही होता, किन्तु अपने मनकी भावनाका आरोप उसपर करता है। यदि उसमे उपदेश प्रबल है, तो वह उपदेशका आरोप उसपर करेगा, यदि वह रहस्यवादी है तो रहस्य-वादका। अलकारवादी है तो प्रकृतिमें वह अलकरण खोजेगा। लेकिन इनको हम अलग-अलग प्रकृति-चित्रणके भेद नही मान सकते। इधर हिन्दीके सयाने आलोचकोमें भेद-प्रभेदकी प्रवृत्ति बढती जा रही है। श्री गुलाबरायजीने ये भेद माने हैं – आलम्बन, उद्दीपन, अलकार, उपदेश, मानवीकरण, ईश्वरीसत्ता या रहस्यवाद (सि० अ०)। परन्तु मैं प्रकृति-चित्रणको अधिकसे अधिक तीन विधाएँ माननेके पक्षमे हूँ। १ – शुद्ध प्रकृति चित्रण, २ – उद्दीपन, ३ – आरोपित। इसमें भी शुद्धके दो भेद है—यथातथ्य और पृष्ठभूमिके रूपमे। हिन्दी आचार्योंके शेष भेदोका समाहार, आरोपितवादमें हो जाता है, क्योकि उपदेश, अध्यात्म, रहस्य आदि इसी आरोपके प्रतिफल है। कुछ लोग इसी रूपमें प्रकृति-चित्रण मानते हैं, पर वह काव्यकी एक शैली है न कि प्रकृति चित्रणकी विधा। आगे मैं अपने मतको स्पष्ट करूँगा।

शुद्ध प्रकृति-चित्रण

अपभ्रश काव्योमें यथातथ्य चित्रणके कम उदाहरण है, जो हैं भी उनमें प्रकृतिके व्यापारोका सूक्ष्म निरीक्षण कम है। ये कवि मुख्य रूपसे वन, उद्यान, ऋतु, पर्वत आदिका वर्णन करते हैं। ऋतुओमे वर्षा, वसन्त और शरद्‌का वर्णन है। ग्रीष्म, हेमन्त और शिशिरका वर्णन नही है। इन ऋतुओके मेलसे कहीं-कही प्राकृतिक दृश्योकी सुन्दर योजना भी है, परन्तु अलकरणके भारसे उनका स्वरूप निखर नही पाता। रामकी यात्रामें गम्भीर नदी मिली उसका स्वाभाविक चित्रण यह है –

> परिहच्छ मच्छ पुच्छच्छलंति फेणावलि तोय तुसार देंति।
> कारडडिम्भ उम्भिय सरोह वरकमल करम्बिय जलपओह।
> हंसावलि पक्ख समुल्हसंति कल्लोल वोल आवत्त दिंति।
> सोहइ वहु वणगय जूह सहिय डिण्डीर पिण्ड वरिसंति अहिय।
> उच्छलइ वलइ पडिखलइ धाइ मल्हन्ति महागय लीलणाइं।
>
> (प० च० २, २१)

दण्डकवनकी शोभा रामने इस रूपमें देखी –

> कत्थवि पचाणणगिरि गुहेहिं मुक्तावलि विक्खिरंति णहेहिं।

कत्थवि उड्डाविय सउण-सय ण अडविहे उड्डेवि पाण गय।
कत्थवि कलाव णच्चंतिवणे णावइ णट्टावा जुवइ जणे।
कत्थवि हरिणहिं भयभीयाइ ससार हो जिह पव्वइयाइं।
कत्थवि णाणाविह रुक्खराइ ण महि कुल वहु अहे रोमराइ।
(प० च० २, ११५)।

प्रस्तुत वर्णनमे मुख्य उत्प्रेक्षा है, पर कल्पनाएँ सुन्दर और स्वाभाविक हैं। नर्मदाके वर्णनमें कुछ प्रकृतिका उग्रभाव दर्शनीय है –

करिमयर-कराहय उहय तड तड यड पडन्ति ण वज्झझड।
झडभीम णिणाएँ गीढमय भयभीय समुट्ठिय चक्कहय।
(प० च०, २, ५३)

वनका भी उग्र रूपमे वर्णन देखिए—

कहिंजि भीम कद्दरो झरत णीर णिज्झरो।
कहिंजि रत्त चदणो तमाल ताल वद्दणो।
कहिंजि दिट्ठ छारया लवत मत्त मोरया।
कहिं जि सोह मंडया धुणत पुच्छदंडया।
(प० च० २, ८७)

तिलय दीपके वनका स्वाभाविक चित्रण—

कत्थइ पाणियाइ अवमाणियाइ करिजूह डोहियाइ।
कत्थइ णिज्झराइ पडिरव कराइ जलरेणु भूसियाइ।
(भवि० क० पृ० २२)

उद्यानकी शोभाका यह यथातथ्य वर्णन है—

वाय दोलण लीला सारो तरुसाहाए हल्लइ मोरो।
सोहइ घोलिर पिंछ सहास्रो ण वण लच्छि चमर विलासो।
दिण्ण हसेणं हसीए चंचु चुवतीए।
फुल्लामोय वसेण भग्गो वेयइ कामिणीयाए लग्गो।
(ज० स० ११।)

पृष्ठभूमिके रूपमे प्रकृति चित्रण अपभ्रंशकाव्योंमें अत्यधिक है, ऐसे प्रसगोमें प्रस्तुत भावकी अनुभूतिके अनुकूल प्राकृतिक वातावरण उत्पन्न करना ही मुख्य लक्ष्य होता है। जलक्रीडा और दाम्पत्यरतिकी व्यजनामे 'वसत वर्णन' ही पृष्ठभूमिके रूपमे आता है। जैसे—

डोला-तोरण-वारे पईहरे-पइट्ठु वसंतु वसंतसिरी-हरे।
सरुइ-वासहरंहि रव-णेऊरु-आवासिउ महुअरि अन्तेपुरु।
कोयल कामिणीउ उज्जाणेहि सुय सामंत लयाहर थाणेहिं।
पंकय छत्त दंड सर-णियरेहिं, सिहि साहुलउ महीहर सिहरेहिं।
कुसुमा मजरि-धय साहारेहिं दवण गंठिवाल केयारेहिं।
वाणर मालिय साहाबंदेहि महुअर मत्त मयरन्देहि।
मंजु ताल कल्लोला वासेहिं गुंजा अहिणव पालमहणासेहिं।
एम पइट्ठु विरहि विद्धन्तउ गयवह-वम्मेहिं अंदोलंतउ।

(प० च० १, ११४)

प्रस्तुत वर्णनमें वसन्त राजा ठाठसे प्रवेश करते हैं। पर यह प्रसग राजा सहस्रकिरणकी जलक्रीडाकी भूमिकाके रूपमें है। अन्तमें कवि 'वियोगियो के सताये जाने' का भी सकेत कर देता है। अन्तमें 'रेवा' का सुन्दर दृश्य देखकर, राजाको ध्यान हो आया 'सो वसन्तु सा रेवा तजलु'। यहाँ पृष्ठभूमिके रूपमें आये प्रकृति-चित्रणमें अलकरण और उद्दीपन भी अन्तर्भुक्त हैं।

एक दूसरे जलक्रीडा-प्रसगमें भी 'वसन्त' का वर्णन आता है—

पइट्ठु वसंत राउ आणंदे कोइलकलकल मंगल सद्दें।
अलिमिहुणेहिं वंदणेहि पढंतेहिं, वरहिणवाणरेहिं णच्चंतेहि।
अदोला सय तोरण वारेहिं ढुक्कु वसतु अणेय पयारेहि।

(प० च० २, ४४)

इसके पहले कवि सजधजके साथ किसी राजाके नगर-प्रवेशका वर्णन कर चुका है। 'वसन्त प्रवेश' पर भी उसने उसी रूपका स्वाँग आरोप कर दिया है। कथाकी चलती धारामे पिछले वर्णनका प्रभाव कविके मस्तिष्कमें रहना स्वाभाविक है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति स्वयभूमे अधिक है। कवि पुष्पदन्त भी राम और सीताकी रतिक्रीडाके लिए 'वसन्त' ही पसन्द करते हैं—

सोहइ वसतु जगि पइसरंतु अहिणव साहारहिं महमहंतु।

(म० पु० २, ३९७)

कवि धाहिल भी पद्मश्री और समुद्रदत्तका गन्धर्व-मिलन वसन्तमें करवाते हैं (प० सि० च० पृ० १५)। वात्सल्य विप्रलम्भकी व्यजनामें भी 'वसन्त' ही पृष्ठभूमिका काम देता है। वसन्तमें घर-घर उत्सवकी धूम मची है।

घरि घरि मगलइ पघोसियाइ घरि घरि मिहुणइ परिआसियाइं ।
घरि घरि चच्चरि कोऊहलाइ घरि घरि अदोलयसोहलाइं ।
घरि घरि वत्थाहरण सोह घरि घरि आइद्ध महा जसोह ।
(भवि० क० ५६)

सब लोग आ गये, पर कमलाका बेटा भविस नही आया -- पद्मश्री सुहाग रातके लिए जा रही है । पृष्ठभूमिके रूपमें प्रकृति वहाँ भी है—

अत्थमिउ दिवायरु सञ्झ जाय थिय कणय घडिय न भुयण भाय ।
(प० सि० च० २५)

इसके बाद कुछ वीभत्स चित्रण है । फिर प्रकृति अपने मधुर अचलमे सब कुछ समेट लेती है । अपभ्रश कवि सन्ध्याके पहले भागका वर्णन कुछ वीभत्स ही करते है ।

अलंकृत शैली

अलकरणके रूपमें प्रकृति-चित्रण एक बात है, और अलकार रूपमें दूसरी बात । एकमे प्रकृति-चित्रणके लिए अलकारोका उपयोग होता है, और दूसरेमे अन्य वर्णनोके लिए प्रकृति अलकारके उपादानोका काम देती है । एकमे प्रकृति प्रस्तुत है, दूसरेमें अप्रस्तुत । दूसरेको प्रकृति-चित्रणको विधा मानना ठीक नही । क्योकि वहाँ वर्णनीय कुछ और ही है । प्रकृति केवल उपमान रूपमें आती है । लेकिन ये उपमान, प्रकृतिको छोडकर अन्यत्रसे भी लिये जा सकते हैं । यदि मुखकी तुलना चन्द्र या कमलसे की जाती है, तो उसमें प्रकृतिसे तात्पर्य नही, जहाँ प्रकृति-वर्णनमें अलकारोका प्रयोग हो उसे अवश्य अलकृत शैलीमें प्रकृति-चित्रण मान सकते हैं । यह यथासम्भव सभी विधाओमें हो सकता है । अपभ्रश काव्योमें रूपक शैली-मे प्रकृति-चित्रण बहुधा मिलता है, उसके बाद उत्प्रेक्षामें । वसन्तरूपी राजा जगतरूपी घरमें प्रवेश कर रहा है—

सुप्पहाय दहि-अस रवण्णउ कोमल कमल किरणदल छण्णउ ।
जयहरे पइसारिउ पइसन्ते णावइ मगल कलसु वसंते ।
फग्गुण खलहो दूउ णीसारिउ जेण विरहिजणु कहविण मारिउ ।
जेण वणफ्फइ पइ विम्भाडिय फलदल रिद्धि महफ्फर साडिय ।
गिरिवर गाम जेण धूमाविय वणपट्टण णिहाय सताविय ।
सरि पवाह मिहुणइ णासतइ जेण वरण घण णियलेंहिं घित्तइ ।

जेण उन्मुयवि जन्तेंहिं पीलिय, पत्त मण्डव णिरिक्क आवीलिय।
जासु रज्जें पर रिद्धि पलासहो तहों सुहुमहलेंवि फग्गुणमासहो।
(प० च० १, ११४)

सामन्त युगमें सामन्त राजा अपने प्रतिद्वन्द्वीको हराकर, किस तरह सजधजके साथ प्रवेश करता था, इसी बातके आरोप-द्वारा कविने यहाँ फागुनकी पराजयपर वसन्त-प्रवेशका वर्णन किया है। 'वसन्त नरेश'के प्रवेशका उल्लेख ऊपर भी किया जा चुका है। फागुन और वसन्तके युद्धमें दो ऋतुओंकी सन्धि-अवस्थाका चित्रण है। कवि पुष्पदन्त भी उपवनमें वसन्त प्रभुके आगमनका जोरदार वर्णन करते हैं (म० पु० १, पृ० ४४०)। उसमें भी प्राय इन्ही रूपोंका आरोप है।

मानवीकरण

प्रकृति-चित्रणमे मानवी प्रसगोके आरोपकी प्रवृत्ति भी इन काव्योंमें अधिक है। राम-लक्ष्मणके विन्ध्याचलमे पहुँचते ही सूरज डूब गया, इसपर कवि निशापर कुटिल नारीका आरोप करता है। जैसे—

वरि सग्ग वत्थ सीमन्त वाह णक्खत्त कुसुम सेहर सणाह।
किंत्तिय चच्चंकिय गंढवास मग्गव भेसइ कण्णावयंस।
वहुलंजण ससहर तिलयतार जोण्हा रंखोलिर हार भार।
ण वच्चेवि दिट्ठि दिवायरासु णिसि वहु अल्लीण णिसायरासु।
(प० च० १, ११३)

या नर्मदापर अभिसारिकाका आरोप—

वसन्तमे कामकी रतिकी तरह भोली-भाली मदमाती रेवा बाला प्रिय (समुद्र) से मिलने चल पडी, फौरन उसने अपने-आपको सजा लिया—

घव घवति जे जलपब्भारा तेजि नाइ णेउर झंकारा।
पुलिणइ जाहिं बेवि सच्छायइ ताइ जे उड्ढणाइं णं जायइं।

इसी तरह वह समस्त अलकरण कर लेती है। (प० च० १, ११५)

रातपर वधूका आरोप हिन्दीके छायावादी कवियोको बहुत प्रिय है। इस आधारपर मानवीकरण भी प्रकृति-चित्रणकी एक विधा मानी जाती है। परन्तु वास्तवमें उसके मूलमें रूपक है। 'धीरे-धीरे क्षितिज से आ वसत रजनी' (आ० क० पृ० ४८) महादेवीजीके इस गीतमें यही आरोप है। या कवि निरालाकी 'सन्ध्या सुन्दरी' कवितामें। एकमें प्रिय 'समुद्र' है, दूसरेमें समूचा विश्व। मानवीकरण दोनोमें है। प्राचीन कवि

ऐसे मानवीकरणमें दोनो पक्षोपर यह आरोप करते हैं। जब कि छाया-वादी कवि एक ही पक्षपर आरोप कर उसपर अपनी भावनाका आरोप कर देते हैं। प्राचीन कवि अन्य उपमान प्रकृतिमे ही ग्रहण करते हैं। छायावादी कल्पित उपमान भी गढ़ते हैं। रूपकमें प्रकृतिका चित्रण करना स्वयभूको अधिक प्रिय है। जैसे वह दण्डक अटवीपर विलासिनीका आरोप करते हैं—

दिट्ठ महाडइ णाइ विलासिणी गिरिवर थणहर सिहर पगासिणी।
पचाणणणह णियर वियारिय दीहर सर लोयण विप्फारिय।
कुंदर दरि मुह कुहर विहूसिय तरुवर रोमावलि उद्धसिय।
चंदण अगरुाध डिविडिक्किय इन्दगोव कुकुम चच्चिक्किय।
अवहइ किं वहुणा वित्थारें ण नच्चइ गयपय सचारें।

वह मुनिसुव्रत भगवान्‌का पाठ भी कर रही है—
उज्झर मुर वप्फालिय सद्दें वरहिण थिर सरिट्ठिय छद्दे।
महुअरि तिअ उवगीय वमालें अहिणव पल्लव कर संचालें।
सीहोरालि समुट्ठिय कलयलु णाइ पढइ मुणिसुव्वय मगलु।
(प० च० २, १०५)

हिन्दी कवि केशवने भी पचवटीको धूर्जटी वनाकर नचाया है (राम-चन्द्रिका)।

ग्रीष्म और वर्षाके युद्ध रूपकका एक नमूना यह है—
ज पाउसु णरेंदु गलगज्जिउ धूलीरउ गिम्भेण विसज्जिउ।
गपिणु मेहविन्दे आलग्गउ तडिकरवाल पहारेंहि भग्गउ।
ज विवरम्मुहु चलिउ विसालउ उट्ठिउ 'हणु' भणतु उण्हालउ।
धग धग धग धगन्तु उद्धाइउ हस हस हस हसतु सयाहउ।
जल जल जल जलतु जालावलि फुलिंग मेल्लतउ।
धूमावलि धय दडुब्भेप्पिणु वरवाउद्दिल खग्गु कड्ढेप्पिणु।
मेह महागय घड विहडन्तउ ज उण्हालउ दिट्ठु भिडतउ।
(प० च० २, ६१)

अतमें पावसराजने ग्रीष्म राजको पछाड दिया।

यह भाव जायसीके 'चढा असाढ गगन घन गाजा' में थोडे फेरसे आया है। (पद्मावत १५२)। पर कवि पुष्पदन्त प्रकृतिका चित्रण उत्प्रेक्षामें करते हैं। जैसे चन्द्रोदयके वर्णनमें वह कहते हैं—

ता उइउ चंदु सुरवइ दिसाइ गिरि कलसु व पइसारिउ णिसाइ ।
णं पोसा करयल लहसिउ वोमु णं तिहुयण सिरि लायण्णधामु ।
ण अमय विंदुसंदोह कंदु जस वेल्लिहि केरउ नाइं कंदु ।
माणिय तारा सय वत्त फंसु णं णहसरि सुत्तउ रामहंसु ।

(म० पु० १, ६८)

इसी तरह सूर्योदयका वर्णन है—

ता उग्गमिउ सूरु पुव्वासइ रइरंगुव्व दरिपउ कामासइ ।
किं सुय कुसुम पुंजु णं सोहिउ, ण जगभवणि पईवु पवोहिउ ।
चारु सूरु वंसुहु ण कंदउ लोहिउ ससि रोसेण दिणिंदउ ।

इसके वाद सूरजकी किरणें लाल रगमें मिलकर खिल जाती है ।

मिलियउ सोहइ विद्दुम महियलि मिलियउ सोहइ कंकोल्लीदलि ।
मिलियउ सोहइ रत्तइ सयदलि मिलियउ सोहइ रमणीकरयलि ।

(म० पु० १, २८१)

यह विश्लेषण प्राय कठिन है कि प्रकृति-चित्रणमें कवि कहाँ किस विधाका कितना उपयोग करेगा। जहाँ यह अलकृत शैली औचित्य और अनुभूतिके अनुकूल है, वहाँ ठीक है। परन्तु कही चमत्कारके लोभसे ये कवि विद्रूप चित्रण भी करने लगते हैं। जैसे – प्रात कालीन सूर्यपर यह उत्प्रेक्षा है –

णं वाडवग्गि णहसायरासु ण दिसिणिसियरि मुह मास गासु ।
णं ताहि जि केरउ अहर बिंबु णं णिम्मि वहुवहि पयमग्गूलंबु ।

(म० पु० १, ७०)

स्वयभूने भी रातपर राक्षसीका आरोप किया है –

रिसि णिसियरि दम्म दिसहिं पधाइय महि गयणोट्ठ उसेवि सपाइय ।
गह णक्खत्त दत उद्दन्तुर उवहि जीह गिरि दाढा भासुर ।
घण लोयण ससि तिलय विहूसिय संझा लोहिय दित्त पदीसिय ।

(म० च० २, ५२)

परन्तु इमी रातको लक्ष्मण कल्याणमालाको छोडकर चल देते हैं। अत. उमके लिए यदि रात राक्षसी लगी हो तो कोई आश्चर्य नहीं। इसलिए यह वर्णन एकदम निराधार नही, फिर भी ऐसे वर्णन स्वयभूने कम हो किये हैं। पुष्पदन्तमें यह वात वहुत है। सूर्यके लाल विम्वपर कविकी कल्पना है –

कुंकुम कुसुमा मेलु व रत्तउ णं चउपहर रहिर रस लित्तउ ।

(म० पु० १, ५५५)

श्लिष्ट चित्रणमें प्रकृतिकी और भी दुर्दशा हुई है। कही सरोवरपर आकाशका आरोप है (प० च० २, ४९) तो कही रामपर सरोवरका (वही) । श्लेपमूलक तुलनामें भी यही वात है जैसे जिन और उपवन, समुद्र या सेना, तथा सीता और वनस्थलीकी आपसमें ये कवि श्लेपसे तुलना करते हैं । जैसे रिसभ जिन और गिरिराजकी तुलना —

गिरि सोहइ चुयमहु आसवेंहिं जिणु सोहइ रुद्धहिं आसवेहिं ।
गिरि सोहइ वियलिय णिज्झरेहि जिणु सोहइ रम्मइ णिज्जरेहिं ।

(म० पु० ५८६)

इसमें केवल शब्द समानता और यमक है — सीताके यौवनकी वनसे तुलना —

वणु दीसइ णच्चिय णीलगलु सीयहि जोव्वनु मयगलु ।
वणु दीसइ णिम्मल भरिय सरु सोयहि जोव्वनु णिरुमहुरसरु ।

इसका आधार है 'वण' और 'जोव्वण'की समानता । (म० पु० २,४१२)। इम तरह राम और पहाडकी तुलना है (म० पु० २, ५०४) । ऐसी तुलना पुष्पदन्तमें बहुत है । रामायण और णदणवणुकी समानता देखिए—

दिट्ठउ णदणुवणु केहउ महु मावइ रामायणु जेहउ ।
जहिं चरति मीयण रयणीचर, चउ दिसु उच्छलति लक्खण सर ।

(वही)

उद्दीपन

शृगारके मयोग और वियोग पक्षमें ही प्राय प्रकृतिके उद्दीपन रूपमें चित्रणकी प्रथा रही है । उसमें भी ऋतु वर्णन चन्द्रोदय आदि व्यापारोका ही अधिक वर्णन रहता है । पर वन, उपवन, ऋतुके बिना मानवी भावनाको उद्दीपन करनेमें असमर्थ हैं । जहाँतक अपभ्रंश कवियोका सम्बन्ध है वे वात्सल्यके प्रमगमें भी प्रकृतिका उद्दीपन रूपमें वर्णन करते हैं । दूसरे षड्ऋतु पद्धतिको किसी भी प्रबन्ध कविने नहीं अपनाया, स्फुट रूपमें वे वमन्त, शरद् या वर्षाका उल्लेख करते है, चक्रवाक-जैसे पक्षियोकी चेष्टाएँ भी उद्दीपन रूपमें अकित की गयी है । मयोगकी क्रीडा और वियोगकी पीडा दोनोंमे वमन्तका अधिक वर्णन है फिर भी यह

वर्णन पृष्ठभूमि रूपमें है, असल बात यह है कि उद्दीपनकी दृष्टिसे अपभ्रंश काव्यके नायकोंको प्राकृतिक व्यापार उतना आकृष्ट नहीं करते जितना नायक-नायिकाका रूप या सौन्दर्य। यही कारण है कि इसमें चन्द्रमाको कोसने या कोइल, मोर, दादुरको डाँटने-डपटनेके प्रसंग नहींके बराबर है। रहमानकी बात छोड़िए। प्रायः देखा यह गया है कि ये कवि प्रारम्भ करते हैं प्राकृतिक पृष्ठभूमिसे, पर अन्त करते हैं उद्दीपनमें। पहले इसका उदाहरण (प० च० १, ११४) आ चुका है। वर्षावर्णन (प० च० २) के अनन्तर कवि संकेत करता है —

घणु गज्जउ विज्जुवि विप्फुरिउ णडउ सिहंडी वि मूढमइ।
विणु सीयइ, पावसु राहवहु भणु कि हियवइ करइ रइ।

शरद्‌का आना भी उन्हें अच्छा नहीं लगा —

णउ रुच्चइ रामहु वट्टमाणु पिय विरहउ किच्छें धरइ पाणु।
(म० पु० २, ४६४)

वसन्तके प्रवेशसे चारो ओर मादकता फैलने लगी —

वज्जइ वीणा पिज्जइ पाणं पियमाणुसचित्तं साहीणं।
गिज्जइ महुरं सरु सराल दढपेम्मं पसरइ असरालं।
परिमल पउरं पोसिय रामं वज्झइ फुल्लिय मल्लिय दामं।
गंध कयबय छउय वियारे णेवर कलरव णच्चिय मोरे।
सुप्पइ दवणय विरइयगेहे पुप्फत्थरणे ममिय दुरेहे।
संधइ कामो कुसुम खुरप्पं णासइ तावस तव माहप्पं।
अणुणिज्जइ रूसंति पियल्ली दाविज्जइ कंदप्प सुहेल्ली।
सरजल केलीसिरा सरीरो जत विमुक्कसकुंकुम णीरो।
(म० पु० २, ३९९)

सन्देश रासकमें प्रकृतिचित्रणमें उद्दीपन और ऊहात्मक उक्तियाँ अधिक हैं। (देखो प्रक० २) फिर भी कुछ प्राकृतिक उक्तियाँ स्वाभाविक हैं। वियोगिनी कहती है, क्या उस देशमें चन्द्रमा नहीं उगता —

किं तहि देसि णहु फुरह जुण्ह णिसि णिम्मल चंदह।
अह कलरउ, नकुणंति हंस फल सेवि रविंदह।
(वही, पृ० ७३)

यह सूरके 'घन गरजत नहिं उन देसहि (भ्रमर गीत सार पद २८०)

से तुलनीय है। वह प्राकृतिक व्यापारोका मधुर उल्लेख करते है। शरद्‌मे घर-घर आनन्द है, पर उसे प्रियका दुख है—

अच्छइ घरि घरि गीउ रवन्नउ ऐगु इकट्ठु कट्ठु मह दिन्नउ।

(१८०)

या वसन्तमें सखियां खेलमें मस्त है—

पगुरणिहिं चच्चिउ तणु विचित्तु मिलि सहीयहि गेउगिरंति णित्तु।

(२-२)

चच्चरिहिं गेउ झुणि करिवि तालु नच्चीयइ अउव्व वसन्त कालु।

(२१९)

जायसीके पदमें—

सखि झूमक गावैं अंग मोरी हों झुराव विछुरी मोरी जोरी।

(पद्मावत १५२)

यह ध्यान रखना चाहिए कि रहमानने कही-कही प्रकृतिका यथातथ्य मार्मिक चित्रण किया है। ग्रीष्मका चित्र देखिए—

जम जीहइ ण चचलु नहयलु लहलहइ
तउ तेउ यउ धर तिउइ न तेयह भरु कहइ।

(१३२)

वर्षाका वर्णन—

मच्छर भय संचडिउ रत्नि गोयगणिहि
मणहर रमियइ नाहु रगि गोयगणिहि।
हरियाउलु धरवलउ कयविण महमहिउ
कियउ मगु अंगगि अणगिण मह-अहिउ।

(१४६)

लेकिन इसके बाद वह उद्दीपनमें बदल जाता है।

आरोपित वाद

हिन्दीके आचार्योके द्वारा मान्य प्रकृति-चित्रणकी विधाओको मै कविके अपने दृष्टिकोणका आरोपमात्र मानता हूँ। यह ठीक है कि प्रकृति मनुष्य-को प्रभावित करती है पर साथ ही मनुष्य भी अपनी भावनामें प्रकृतिको रगता है। कवि नीतिवादी है तो उसके प्रकृति-चित्रणमें यह नीतिवाद अवश्य झलकेगा। यही है उपदेश रूपमें प्रकृति-चित्रण। यथार्थमें यह

प्रकृतिका उपदेशमे वर्णन नही है। अपितु कवि अपने खास दृष्टिकोणसे उपमान रूपमे ऐसी बातें कहता है कि प्रस्तुत वर्णन-द्वारा उसकी भावना व्यक्त हो जाती है। वस्तुतः यह आरोपित चित्रण है। उदाहरणके लिए वर्षावर्णनमे कवि कहता है—

दद्दर रडेवि लग्ग णं सज्जण णं णच्चंति मोर खल दुज्जण।
णं पूरंति सरिउ अक्कंदें णं कइ किलिकिलंति आणंदे।
णं परहुय विमुक्क उग्घोसें णं वरहिया लवंति परिओसें।

(प० च० २, ६२)

यह प्रभातका प्रसग है, कवि कहता है—

विच्छाव कंति ससि अत्थमइ सकलं कहं किं थिरु उदउ होइ।
मउलंति कुमुय महुयर मुयति थिरनेर मलिण कि कहपि हुंति।

(प० सि० च० २६)

सवेदना रूपमें प्रकृति-चित्रणकी विधामे भी भावनाका आरोप ही है। इसीसे प्रकृति-चित्रणमें रस्किनने सवेदनाको हेत्वाभास माना है। विशेष मानसिक स्थितिमें मनुष्यसे जड चेतन ज्ञान लुप्त हो जा सकता है। सीताके वियोगमें राम कहते है—

रे हंस हंस सा हंस गमण पई दिट्ठी कत्थइ विउल रमण।
चगउ चिम्मक्कहु सिक्खिओसि महुं अकहंतु जि खल कि गओसि।

(म० पु० २, ४२८)

इसी प्रकार वह कुजर सारग आदिसे भी कहते है क्योकि वे सीताके अगोके उपमान है। पवनकुमार भी अजनाके वियोगमें यह सब पूछता है (प० पु० १, १५९)। ये प्रसग तुलसीके 'हे खग मृग हे मधुकर सेनी' इस वर्णनसे तुलनीय हैं। कवि धाहिल परित्यक्ता पद्मश्रीकी भावनाका तादात्म्य प्रभातसे करता है—

पद्मश्रीके तेजकी तरह आकाशसे तारे टूट-टूटकर गिर रहे थे। उसके इन्द्रिय-सुखकी तरह तम नष्ट होता जा रहा था। उसके हृदयके मोहकी तरह मुर्गेका स्वर फैल रहा था। आकाशमें चन्द्रमा फीका हो गया। चकवा भी शोकमें व्याकुल। उसके नेत्रोकी तरह, कुमुद सकुचित हो रहे थे। उसकी आशाकी तरह दिशाएँ दूर-दूर तक फैलती जा रही थीं। उसके हृदयके सन्तापकी भांति सूरज निकल रहा था। (प० सि० च० ३०)

रहस्यवाद

इस रूपमे प्रकृति-चित्रण भी आरोपवाद ही है। मानवीकरणमें आरोप मुख्य होता है, चित्रण गौण, इस बारेमें हम छायावादी दृष्टिकोणका विचार कर चुके हैं। गुलाबरायजीका कहना है कि 'प्रकृति-प्रेमको सार्थकता देनेके लिए दो ही बातें मुख्य हैं या तो उसे मानवी रूप दिया जाये, या उसका आधार परमात्मा माना जाये। (सि० अ० १५६) पर हमारी समझमें यह आवश्यक नही। इन मुख्य दो बातोंके बिना भी प्रकृति-प्रेमकी सार्थकता हो सकती है। इनमे एक बातका सम्बन्ध छायावाद-से है, और दूसरीका रहस्यवादसे, पर ये सब आरोपमात्र है। एक ओर तो हम प्रकृतिके स्वतन्त्र अस्तित्वको मानते हैं, और दूसरी ओर उसे ईश्वरका अंग बनाना चाहते हैं, साहित्यिक दृष्टिसे, प्रकृति-प्रेमके लिए ऐसा कोई दार्शनिक बन्धन मानना उचित नही, प्रकृतिपर चेतनताका आरोप भावात्मक दृष्टिकोण है, और उसका आधार ईश्वर मानना दार्शनिक। यदि कोई अध्यात्मवादी है तो वह दूसरे कोणसे भी प्रकृतिको देख सकता है। जैसे प्रकृति-चित्रणके प्रसंगमें आध्यात्मिक संकेतका एक उदाहरण यह है—

पुणु कोइलु कलसद्दें मज्जइ ण वसंत पहु पडइउ वज्जइ।
रुणुरुणंतु अप्पाणु ण चेयइ महुअरु महु पिएवि णं गायइ।
ता परमेसरु मणि मीमंसइ अम्हारउ वणु अण्णुजि दीसइ।
कालें कटइयउ अंकुरियउ पल्लवियउ कुसुमोलिहिं भरियउ।
फलिउ फला वलीहि ण पणवइ एहि सयलहु लोयहु परिणइ।
(म० पु० २।१३५)

हरे-भरे नन्दन वनको देखकर, द्रष्टाको आत्माके वनकी क्षणभंगुरता याद आ गयी क्योंकि वह क्षणिकताका विश्वासी है। यदि वह ईश्वर-प्रेमी हो तो उसमें प्रेमकी झलक देख सकता है।

परिगणन रूपमें किये गये प्रकृति-चित्रणमें कोई कलाकी बात नहीं, फिर भी अपभ्रंश काव्यमें यह विरल नही। सन्देश रासक (पृ० २४), पउमचरिउ (१,२४, २,२५) भविसदत्त कहा (तिलयद्वीपवर्णन) में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं। हमारा अनुमान है कि प्राचीन भारतमें उद्यान लगानेकी जो प्रथा थी, उसीसे लोकभाषा प्रबन्ध काव्योंमें वृक्षोंके नाम गिनानेकी प्रथा चल पड़ी।

प्रकृति चित्रणकी इस आलोचनामें हम कविकी भावदशा और कथाकी

नाजुक स्थितिकी उपेक्षा नही कर सकते। एक उदाहरणसे यह स्पष्ट होगा। रावण सीताको उठाकर लंकाके नन्दन वनमे ले गया, परन्तु वहाँकी बाह्य प्रकृति अपने शासककी अन्तरग प्रकृतिके विरुद्ध हो उठी, इस प्रसगमें पुष्पदन्त इतने उत्तेजित हो उठते हैं कि वह घटना उनके सम्मुख हुई होती तो शायद वह कलमकी जगह कुठार उठाकर हमला कर देते। जब उसे कुछ नही मिला तो वह वहाँ पशु-पक्षियोको ही मोरचेपर लगा देता है –

रावण कि आणिय परजुवइ तरु चुय सिण्हंसुएहि रुवइ।
वणु णाइं करइ साहुद्धरणु हा पत्ताउ णारि रयण-मरणु।
अलि कण्णासण्णउ रुणुरुणइ पहु एउं अजुत्तु णाहं भणइ।

हंसावलि लवइव लोय पिय मइं जेही तेरी किरि सिय।
मा मइलहि माणिचि एह तिय मा णासहि लंकाउरिहि सिय।
अंबउ लोहिय पल्लव ललिउ णं णिव अण्णायसिहिं जलिउ।
चंदणु पुणु विसहर दक्खवइ पडिवक्ख वाण माणु व थयइ।

(म० पु० २, ४२३)

मुझे अभीतक प्रकृतिके इस सहज मानवी और उग्र रूपका ऐसा चित्रण देखनेमें नही मिला। हिन्दी आचार्योंकी, प्रकृति-चित्रणकी विधाओंमें इसे अन्तर्भुक्त नही किया जा सकता। अत ऐसे प्रसंगमें यही मानना चाहिए कि कवि प्रकृतिपर अपनी भावनाका आरोप कर रहा है, क्योकि यह रामकथाका अधिक करुण और निरोह मोड है, इसमें प्रकृतिका समग्र रूप ही अभिप्रेत है, वियोगमें रामको सीताके अगोके प्राकृतिक उपमानोको देखकर, जो भ्रान्ति होती है, या उन्हें कोसने लगते हैं, यह न भ्रम है और न प्रकृतिका अनादर, केवल भावनाका आरोप है।

(प० च० २, १४५)

सक्षेपमें अपभ्रश काव्यमें प्राय सभी विधाओमें प्रकृति-चित्रण मिलता है, फिर भी पृष्ठभूमि और अलकृत शैलीके रूपमें वर्णनकी मुख्यता है। प्रकृतिके उग्र और मधुर दोनो रूपोका अकन है। बहुत थोडे स्थलोपर अरुचिकर चित्रण है। फिर भी प्राकृतिक वस्तुओके प्रति उपालम्भ और अतिशयोक्ति प्रबन्ध कवियोमें नही है। प्रकृतिकी अवस्थाओका चलता वर्णन इनमें अवश्य है। पर 'बारह मासा और षड्ऋतु' पद्धतिका इनमें

अभाव है। तुलसीदासमे भी यही बात है। केवल रहमानके प्रकृति-चित्रणमें अतिशयोक्ति, षड्ऋतु वर्णन, उपालम्भ आदि पद्धतियाँ मिलती है। भावनाके आरोपकी प्रवृत्ति इनमें सबसे अधिक है। किसी दार्शनिक वादका आरोप तो ये प्रकृतिपर नही करते, पर प्रकृति-चित्रण और निरीक्षणसे दार्शनिक तथ्य अवश्य निकालते हैं। हिन्दी कवि पन्तमें यह बात है। अलकृत शैलीमें रूपक और श्लिष्ट योजना अधिक हैं। रूपकके मूलमें तीन कारण हो सकते हैं –

१ सामन्त युगका प्रभाव, युद्ध या राजाके आरोपोका कारण यही प्रभाव है।

२. काव्य-कथाके पूर्व वर्णनोका प्रभाव, इसमे कवि किसी घटनाका पहले अकन कर चुकता है। बादमें प्रकृति-चित्रण करनेपर उसका आरोप कर देता है।

३ रूपक शैली इन्हें प्रिय थी।

श्लिष्ट योजनामें यद्यपि कुछ तुलनाएँ असगत हैं, या अधिक हृदय-ग्राही नही हैं, फिर भी कई स्थल सुन्दर हैं। उदाहरणके लिए रावण सीताको चित्रकूटमें अकेली देखता है, चित्रकूटको उस रमणीयतामें सीता-का यौवन उसे और भी आकर्षक जान पडा, मानो दोनो एक-दूसरेके पूरक हैं। पुष्पदन्तके सम्मुख समस्या है कि वह कैसे दोनोका एक साथ वर्णन करे। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकमें या तो भेद हैं, या फिर किसी एककी मुख्यता। श्लिष्ट शैलीमें इसका हल हो गया।

वणु दीसइ णच्चिय णीलगलु सीयहि जोव्वणु मण णीणगलु।
(म० पु० २, ४१८)

रामके लकाविजयके अनन्तर पीठगिरिपर पहुँचनेपर यही शैली उनके वर्णनमें प्रयुक्त हैं। (म० पु० २, ५०८)

इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति-चित्रण आलोच्य काव्यमें अत्यन्त अपेक्षित है और दो-चार अपवादोको छोडकर सुरुचिपूर्ण भी।

□

अपभ्रंश साहित्यमें वर्णित समाज और संस्कृति

अपभ्रंश साहित्यमें जिस समाज और संस्कृतिकी झलक है – उसका अपने युगसे कितना सम्बन्ध है, यह निश्चित रूपसे बताना कठिन है। फिर भी उस युगकी मुख्य प्रवृत्तियों और मान्यताओंका प्रभाव इसमें देखा जा सकता है। इधर हमारे देशमें साहित्यिक कृतियोंके सांस्कृतिक अध्ययनकी प्रवृत्ति बढ़ रही है। परन्तु इस विषयमें विशेष सावधानी बर्तनेकी आवश्यकता है। आलोच्य साहित्यमें जो सामाजिक और सांस्कृतिक अवस्था अंकित है, उसकी रूपरेखा इस प्रकार है—

परिवार

समाज चार वर्णोंमें विभक्त था। इनमें भी कितनी ही जातियाँ थीं। इन जातियोंकी उत्पत्तिके विषयमें कई मत थे। पुष्पदन्तका कहना है कि (म० पु० १, पृ० ८८) रिसभ जिनने लेखक, लुहार, कुम्हार, तिल-पीडक (तेली), चमार आदि की रचना की। यथार्थमें इन जातियोंका विकास इससे भी पूर्व हो चुका था। समाजकी मुख्य संस्था थी परिवार। अधिकतर सम्मिलित परिवार प्रथा थी। इसीलिए, अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यमें सम्मिलित कुटुम्बमें चलनेवाली प्रतियोगिता, सास-बहूकी कलह, आदिका वर्णन मिलता है। पउमसिरि चरिउकी कथावस्तुका आधार यही पारिवारिक अवस्था है। सास-बहूके झगड़ेके सम्बन्धमें तो कवि स्वयंभू यह लिखते हैं (प० च० २, १५५) कि दोनोंका बैर अनादिसिद्ध है, वैसे ही जैसे दुष्टका सुकविकी कथासे, या हिमपातका कमलिनीसे। नारी-का चरित्र सन्देहकी वस्तु था, अंजनाको उसकी सास, एक कल्पित सन्देह पर पीटकर निकलवा देती है। उसके माता-पिता भी उसे ठुकरा देते हैं। (प० सि० च०) बहु-विवाहकी पुरुषोंको खुली छूट थी, इससे भी परि-वारमें कई उलझनें उठ खड़ी होती थीं। भविसकी करुणगाथाका आधार यही प्रथा है। अपनी स्थितिको सुरक्षित बनाये रखनेके लिए सौतोंमें शीत युद्ध चला ही करता था। नागकुमारकी कहानीका विकास इसी संघर्षसे होता है। कृष्णकी दोनों पत्नियों – सत्यभामा और रुक्मिणीमें यह शर्त थी कि जिसके बेटेकी पहले शादी होगी वह दूसरीके सिरके बाल कटवा देगी

(म० पु० ३, १७१)। किसीकी बहुत-सी सुन्दर पत्नियाँ होना भी उस युगमें असीम पुण्यका फल समझा जाता था।

गृह-संस्कारोंमें चूडाकर्म आदिका उल्लेख है। बच्चोंको गहने पहनानेकी प्रथा खूब थी। इन्द्रने प्राय सभी तीर्थंकरोंके कान स्वयं छेदे थे। विवाह-संस्कार धूम-धामसे होते थे (देखें वस्तु-विवरण) और पुरोहित ब्राह्मण ही बनते थे। विवाह प्राय माता-पिताकी सहमतिसे धर्मानुसार होते थे। कुलदेवीकी स्थापना आवश्यक समझी जाती थी। इसके अतिरिक्त गन्धर्व और प्रेम-विवाहोंकी तो भरमार ही थी। वैसे आलोच्य साहित्यमें परिवारोंकी सम्पन्नताका चित्रण है, पर दरिद्र ब्राह्मणकी कथा बराबर आती है। अर्थकी बहुधा निन्दा मिलती है। इन सब कारणोंसे यही प्रकट होता है कि उस कालमें राजन्य और वैश्य परिवारोंकी स्थिति अच्छी थी, साधारण जनता विपन्न ही थी।

राजनैतिक अवस्था

राजनैतिक दृष्टिसे इस साहित्यमें एक ऐसी अवस्थाका चित्र है जिसमें अनेक राज्यतन्त्र है। यद्यपि सार्वभौम सत्ता स्थापित की जाती है, पर वह अधिक टिकती नही। युद्धोंकी भरमार, ऐसे राजधर्मकी सूचना देती है कि जिसमें राजाके आदर्श बहुत ऊँचे है, पर शासक उनका ध्यान नही रखते। प्रत्युत प्राय उनका दुरुपयोग भी कर बैठते है। राज्य व्यक्तिगत स्वार्थोंकी पूर्तिका साधन बन जाता है। अपभ्रंश साहित्यमें वर्णित युद्ध, राजपूत कालका सही चित्रांकन करते है। कन्याकी प्राप्ति या अपहरण, व्यक्तिगत शक्तिका प्रदर्शन, बढ-चढकर डींग हाँकना इत्यादि बातें, उस युगकी विशेषताएँ कही जा सकती है। राज्यके आदर्श जो भी हों, पर वे नीतिसे अवश्य अनुप्राणित थे, फिर भी ये वर्णन प्राय बँधे-बँधाये हैं। उनमें कुछ तो नैतिक आदेश है और कुछ कूटनैतिक बातें। जैसे रावणकी बढती हुई शक्ति देखकर इन्द्र एकान्त मन्त्रि-परिषद्में मन्त्रणा करता है। शुक-सारिकाका प्रवेश भी उस भवनमें निषिद्ध था। मन्त्रणाके मुख्य विषय हैं (प० च० १ पृ० १३७)—

१ साम, दाम, दण्ड और भेदमें-से किसे अपनाया जाये।
२ पचांग मन्त्रका विचार।
३ मन्त्रि-परिषद्में कितने सदस्य हों।

भारद्वाजका मत है कि एक भी मन्त्री नहीं होना चाहिए। लेकिन दूसरे

नीतिशास्त्री इसका विरोध करके निम्नलिखित संख्या निर्धारित करते है – विशालाक्ष – १, पाराशर – २, पिशुनाचार्य – ३, कौटिल्य – ४, मनु – १२, शुक्राचार्य – १६, भृगुनन्दन – २० ।

इसपर इन्द्र अपना निर्णय यह देता है कि एक हज़ार मन्त्रियोंके बिनाठीक मन्त्रणा नही हो सकती । यह परामर्श अर्थशास्त्र (पृ० ४५) से मिलता-जुलता है । शेष दो बातोपर निर्णयकी अपेक्षा रावणसे सन्धि कर लेनेका प्रस्ताव हो गया ।

एक कूटनीतिज्ञमे पुष्पदन्त और स्वयभू निम्नलिखित बातें आवश्यक मानते हैं (प० च० पृ० १२८) । वह उत्साह, मन्त्र और राजशक्तिसे युक्त हो । चार विद्याओ, छह गुणो, छह करबलो और सात प्रकारकी प्रकृतिसे युक्त हो । सत्रह व्यसनोसे रहित हो । बुद्धि और शक्तिसे सम्पन्न हो । छह अन्तरग शत्रुओका नाश करनेवाला और अठारह तीर्थोंका पालन-कर्त्ता हो । इससे यही जान पड़ता है कि राजदूतको उस समय काफी अधिकार और शक्ति प्राप्त थी । राजाकी दिनचर्याके मुख्य अग अठारह प्रकारके विनोद थे । प्रत्येकको पूरा करनेमें आधा प्रहर समय लगता था । ये विनोद इस तरह हैं –

१ प्रजाकी खोज-खबर और अन्त पुरका रक्षण ।
२ कन्दुक क्रीडा व दरबारकी व्यवस्था ।
३ स्नान, देवार्चन, भोजन, परिधान और विलेपन ।
४. द्रव्यनिरीक्षण और उपहार-प्रत्युपहारोकी देख-भाल ।
५. लेखवाचक, शासनहर और दूतोको निपटाना ।
६ स्वेच्छासे विद्या-विनोद, या अभ्यन्तर मन्त्रणा ।
७ सेना, रथ, गज और अश्वोका निरीक्षण ।
८ सेनापतिसे सम्भाषण ।

रातकी चर्या यह है—

१ गूढ पुरुषोके साथ विचार-विमर्श ।
२ स्नान, आसन या नरपतियोसे भट ।
३ जय तूर्यका सुनना, अन्त पुरमें प्रवेश ।
४ शयन, और अपनी सुरक्षाकी व्यवस्था ।
५ नगाडोंकी ध्वनिसे उठना, शास्त्र-स्वाध्याय करना ।
६ अपने राज्यकी चिन्ता और मन्त्रियोसे मन्त्रणा ।

७. शासनहरोंको आज्ञा देना और वैद्योंसे बातचीत।

८ रसोइयासे बातचीत, नैमित्तिक और पुरोहितोंसे भेंट करना।

(प० च० १, १२९)

पुष्पदन्तने लगभग इसी दिनचर्याका वर्णन किया है। (म० पु० १, ४३३)। विशेष बात यह है कि वह, धार्मिक चर्चा, कामशास्त्र और तन्त्र मन्त्रके अध्ययनका विशेष रूपमें उल्लेख करते हैं।

दूतका महत्त्व आलोच्य साहित्यमें बार बार अंकित है। पउम चरिउ (१, १३२) में दूतके सज-धज और शानसे जानेका उल्लेख है। अर्थशास्त्र-में लिखा है कि दूत यान, वाहन, नौकर-चाकर और उत्तम सामानके साथ शत्रुके देशमें प्रवेश करे (अध्याय १६ पृ० ४८)। महापुराण (२, १६२) में दूतोंके लक्षण गिनाये हैं, इन दूतोंका स्वागत भी खूब किया जाता था, क्योंकि सन्धि-विग्रहके सारे अधिकार इनके हाथमें रहते थे। दूतका नाम प्राय चित्रांगद ही मिलता है। रावण-इन्द्र-युद्ध, या पोदनपुर और भविस-कुमारके युद्धमें दूत ही चुनौती देकर जाते हैं। दूतके इतने महत्त्वका कारण, इस युगके युद्धोंकी बहुलता ही है।

राजनैतिक उपदेश

प्राय दो प्रसंगोंमें आते हैं—(१) राजकुमारोंको शिक्षा देते समय (२) राजनैतिक मन्त्रणाके अवसरपर। उल्लेख बहुत हैं पर उनमें विचार एक-से हैं। अत एक दो अवतरण ही हम काफी समझते हैं। चक्रवर्ती भरत (म० पु० १, ४३४) सामन्तों और नरेशोंकी सभामें क्षात्रवृत्तिका जो आदर्श रखता है उसपर थोडा-बहुत धार्मिक रंग भी है। वह कहता है कि धर्मसे प्रजाका पालन करना राजाका कर्त्तव्य है। अकारण प्रजाका वध करना यमकृत्य है। जिस प्रकार गोपाल अपने गोमण्डलकी रक्षा करता है उसी प्रकार राजाको पृथ्वीका पालन करना चाहिए। नृपचरितके ये पाँच आदर्श वह रखता है —

(१) अपने कुलका पालन, (२) बुद्धि ठीक रखना, (३) अपनी सुरक्षा-की चिन्ता, (४) प्रजा-पालन और (५) संयम।

इसके अतिरिक्त राजाको प्रमादरहित और उद्योगशील होना चाहिए। दुष्टोंकी संगतिसे दूर रहना चाहिए। वह अंतरंग-बहिरंग शत्रुओंपर विजय प्राप्त करे। इन्द्रिय-जय और व्यसनोंका त्याग आवश्यक है। कुलहीन और बुद्धिहीन मन्त्रीकी नियुक्तिसे प्रजाका अकल्याण होना

हैं। इसके बाद वह कुछ नैतिक बातोंका उपदेश करता है। णायकुमार-चरिउमें राजाका आदर्श दीन जनका उद्धार माना गया है (पृ० ९०)। हमारा अनुमान है कि स्वयंभूके विचार अर्थशास्त्रपर अवलम्बित हैं और पुष्पदन्तके नीतिवाक्यामृतपर। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि इस ग्रन्थके लेखक सोमदेवसूरि पुष्पदन्तके थोडे पहले हुए थे और जैन भी थे।

राज्यतन्त्र होते हुए भी कई बातोंमे राजाके अधिकार सीमित थे। उसे जनताकी आवाजका आदर करना पडता था। भविसदत्त कहा में बन्धुदत्तके धन और स्त्री-हरणके अपराधपर राजा नागरिकोंकी सलाह लेता है। पहले वह धन और स्त्री वापस कराकर, बन्धुदत्त और उसके पिता धनवईको छोडनेकी आज्ञा देता है। पर यह मालूम होनेपर कि बन्धुदत्तने वधू भविष्यानुरूपापर जबरदस्ती करनेकी चेष्टा की, वह पिता पुत्रको जेलमें बन्द करवा देता है। इसपर प्रजामे रोष बढ गया, उसने हडताल कर दी, दूतने आकर उसे यह रिपोर्ट दी—'घर-घरमें काम-काज बन्द है, लोगोंकी आँखोंमें आँसू हैं, बच्चे बूढे अपने घरोंमें हैं। बाजारमें लेन-देन ठप्प है। आपकी मुद्राका चलन बन्द है।' (भवि० क० पृ० ७०)। अन्तमे नागरिकोंके परामर्शसे राजाको धनवईको छोडना ही पडा, यह बात अवश्य है कि वह नगरसेठ था। आलोच्य कालमें नगर-सेठका पद महत्त्वका था। ये सेठ विदेश-यात्रासे काफी धन लाते थे और राजाको कीमती उपहार देते थे। बन्धुदत्त और भविस, दोनोंने यात्रासे लौटकर उपहार दिये थे। अटवीराज्य और भीलराज्योंका भी इस साहित्यमे उल्लेख है, (म० पु० १, २३१)। राम भरत और नाग-कुमारको इन भीलोंके सम्पर्कमें आना पडा था। भीलोंका उत्पात रोकने-के लिए जनकने रामको बुलाया था।

शिक्षा-दीक्षा

अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योंमें शिक्षाका जो वर्णन है। उसका सम्बन्ध सामन्त समाजसे था। जन-साधारणकी शिक्षा-व्यवस्थाका पता उसमें नहीं मिलता। राजपुत्र पहले गुरुके घर ही पढने जाते थे। पर आलोच्य-कालमें राजभवनमें ही उनकी शिक्षा-दीक्षाकी व्यवस्था थी। अत राजगुरुका पद महत्त्वपूर्ण हो गया। प्राय सभी शास्त्रों और कलाओंकी शिक्षा देनेका उल्लेख है, जिसमें भरतको निम्नलिखित विद्याओंमें पारगत किया था (म० पु० १, पृ० ७६)—काले (स्याही) अक्षर,

गणित, संगीत, नाटक, नर-नारीके लक्षण, विविध आभूषण, कामशास्त्र, मन्त्र-तन्त्र, रत्न-परीक्षा, गज और अश्वकी शिक्षा, विविध आयुधोंका संचालन, देश-देशकी भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान, कवि वचन और अलंकारोंका अध्ययन, ज्योतिष, छन्द, तर्क, व्याकरण, मल्लयुद्ध, वैद्यक, लोक-व्यवहार, चित्रकर्म, लेपकर्म और काष्ठकर्म। इतने अध्यापनके बाद, उन्होंने नीतिशास्त्रका उपदेश दिया। नागकुमारको भी लगभग यही शिक्षा दी गयी (णा० कु० च० पृ० २४)। उसे वनस्पति-विज्ञान भी पढ़ाया गया। कुमार भविसने भी उपाध्यायके घर जाकर इन्हीं विद्याओंका अध्ययन किया (भवि० क० ८)। ब्राह्मी और सुन्दरी (रिसभकी पुत्रियाँ) को काव्यकी शिक्षा विशेष रूपसे दी गयी—संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश, छन्द, शास्त्र-निबद्ध कलाएँ, सर्गबद्ध गाथा, और गीत वाद्य। इससे इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि राजकुमारियोंको उस युगमें काव्यकी शिक्षाका विशेष महत्त्व था। संस्कृत काव्यके अतिरिक्त लोक-भाषा साहित्य भी उन्हें पढ़ाया जाता था। इस काव्यके कई भेद थे। जैन उपाध्याय भी पढ़ाते थे। 'गणेशाय नमः' की जगह 'ओं नमः सिद्धानाम्' शिक्षाके प्रारम्भमें कहा जाता था।[1] वट-वृक्षके अलंकृत वर्णन (प० च० २, ६०) से यह भी प्रमाणित होता है कि उस समय लोक-भाषा (अपभ्रंश ११) की पढ़ाई भी होती थी। एक रूपकमें कवि कहता है कि वट रूपी उपाध्याय विविध पक्षियोंको कक्का, किक्की, कुक्कू, केक्कई कोक्कउ आदि पढ़ा रहा था। बारहखड़ीकी यह पद्धति लोक-भाषाकी वर्णमालासे सम्बन्ध रखती है। संस्कृत वर्णमालासे नहीं। क्योंकि इसीके कुछ बाद अपभ्रंशका यह नमूना आता है। राम लक्ष्मणको पुकारते हैं—

ताम हलाउहु कोक्कइ लग्गउ सो भो लक्खण आउ कहिं गउ।
(प० च० २, पृ० ७०)

विवाह

आर्ष विवाहके सिवा गन्धर्व विवाह और विजातीय विवाह भी होते थे। मानवेतर जातियोंमें विवाहप्रथा अपेक्षाकृत शिथिल थी। विवाहोंमें धूम-धामका ध्यान रखा जाता था। साधारणतया वरकी बारात वधूके घर जानेका नियम था। परन्तु विशेष परिस्थितिमें पिता लड़कीको लड़के-

---

१ डॉ० आल्टेकरका लेख (१० द० अ० ग्र०)

के घर ले आता था। कई प्रदेशोंमें (खासकर दक्षिणमें) मामाकी लडकीसे विवाहकी प्रथा थी। दहेजकी प्रथा थी। स्वयंभू और पुष्पदन्तने ससुरके अर्थमें 'मामा' शब्दका प्रयोग किया है। इससे इनके दक्खिनी होनेकी बात पुष्ट होती है। जो भी हो स्वयंवरकी प्रथा थी। इन दिनों यह भी एक युद्धका कारण था। यह सब होते हुए भी बहुत-से विवाह विचित्र ढग और भविष्य वाणीसे भी तय कर लिये जाते थे। स्वयवर दो प्रकारके थे, एक लडकी स्वय वरण करती थी, दूसरेमें वरका चुनाव परीक्षा-द्वारा होता था। कही यह परीक्षा अत्यन्त क्रूर थी। इसमे बेचारे कितने ही युवकोकी जान चली जाती थी। लक्ष्मणको जितपद्माको पानेमें कठिन शक्तियां झेलनी पडी थी। गन्धर्व, वानर और राक्षस जातियोंमें विवाह सम्बन्ध अधिक खुला था। वेश्या नृत्यका विवाहो[१] में आम रिवाज था।

आमोद-प्रमोद

इसके दो रूप थे, एकका सम्बन्ध राजसमाजसे था और दूसरेका जन-साधारणसे। राजसमाजमे जलक्रीडा, सगीत, वनक्रीडा और नृत्य प्रेक्षण-का अधिक शौक था। प्रदर्शन शास्त्रीय भी होते और कच्चे भी। अपभ्र श कवि, सगीतके भेद-प्रभेदोको चर्चा विशेष रूपसे करते हैं। उदाहरणके लिए महापुराण (१, ९४-९७) मे सगीतका जो वर्णन है वह नाटय-शास्त्र (अध्याय ४, ५, ११, २८, ३१ और ३३) से तुलनीय है। रिसभकी विरक्तिमें 'शान्त रस' को छोडकर शेष रसोका नाटयाभिनय किया गया। स्वयभूने भी (प० च० १, १८) इसका उल्लेख किया है।

साधारण जनतामे चर्चरी, रासलीला, दोलाक्रीडा आदिका अधिक प्रचार था। विवाहके प्रसगमे हँसी-मजाक, चुहुलबाजी खूब चलती थी। नटोके प्रदर्शन भी इस कालमें खूब पसन्द किये जाते थे। राम स्वय नट बने थे। वीणाका आम रिवाज था, सुन्दर लडकियोको रिझानेके लिए यह जादूका काम करती थी। जुआ मनोविनोदका महत्त्वपूर्ण अग था। बाप-बेटे, पति-पत्नी और राजा-प्रजामें खुलकर द्यूत-क्रीडा होती थी, नागकुमारने जुएमें धन जीतकर अपनी माँके गहने बनवाये थे, द्यूत-गृह भी होते थे। जुएके द्वारा ही रतिवेगाने अपने खोये पति करकण्डुका पता

---

१. देखो विवाह प्रकरण।

लगाया। नागकुमारको जुएकी भी शिक्षा दी गयी थी। मल्लयुद्ध इस युगमें दिलचस्पीका विषय था।

लोकाचार और अन्धविश्वास

विशेष पुरुषों और राजाके स्वागतमें खास आयोजनकी चाल खूब थी। दिग्विजयसे लौटनेपर राजाके दर्शनके लिए जनता उमड़ पड़ती थी। भरत जब लौटकर आया तो अयोध्यामें उत्साहकी लहर दौड़ गयी। केशरका छिड़काव होने लगा, कपूरकी रंगोली पूरी जाने लगी। दूर्वा, दही और सरसों (सिद्धार्थ) से स्वागतकी तैयारी होने लगी। अशोकके पल्लवोंके तोरण सजाये जाने लगे। घर-घरमें भरतकी स्तुति सुनाई पड़ने लगी। द्वारपर मंगल-कलश रख दिये गये (म० पु० १, पृ० २६२)। हनुमान्के किष्किन्धा पहुँचनेपर ऐसा ही स्वागत हुआ, (प० च० २, पृ० १९६)। किसीको विदाई देते समय भी दूर्वादिका उपयोग होता था। भविसके प्रवास प्रसंगपर उसकी माँने डबडबाये नेत्रोंसे उसे बिदा किया (पृ० २०)। पुत्रके लिए मनौती करनेका उल्लेख अनेक बार आया है। नन्दको मनौती करनेपर देवीने पुत्र होनेका वरदान दिया था। परन्तु हुई लड़की। तब वह उसे देवीके आगे फेंकने गये, रास्तेमें उग्रसेनने अपना बेटा कृष्ण देकर वह लड़की ले ली (म० पु० २, ८६)। जैन श्रावक पुत्र-प्राप्तिके लिए रत्नोंकी जिन-प्रतिमा बनवाते थे। खोटे सपनेका फल टालनेके लिए जीवबलि की जाती थी, जसहरकी माँने ऐसा ही करना चाहा था (जस० च० ३३ पृ०)। इस युगमें शकुन-अपशकुनमें जनताका विश्वास घना था। क्योंकि इस साहित्यमें इनका अधिक उल्लेख है साधारणतया इतने शुभ-अशुभ शकुनोंके नाम आये हैं इनका उल्लेख वैदिक-साहित्य गृह्यसूत्र और संस्कृत-काव्योंमें भी है (ह० सा० अ० १३५)

अपशकुन

(१) साँपका रास्ता काटना, (२) बाल खोलकर स्त्रीका रोना। (३) बायाँ नेत्र फड़कना (४) रक्तस्नान और रसा भोजन करना। (५) धरतीका काँपना (६) घर और मन्दिरका लोट-पोट हो जाना। (७) असमयमें महामेघोंका गरजना (८) आकाशमें धड़का नाचना। संख्या १ और तीनके सिवा, ये अपशकुन और (प० च० १, ७१) हैं।

(१) दक्षिण पवनका चलना (२) कौएका विरस बोलना। (३)

सियारका रोना (४) नाकके दक्षिणभाग हवा निकलना। (५) आकाश में नये ग्रह दिखाई देना (६) सियारका लँगडाकर चलना।

(प० च० २, पृ० १३६)

इसीके पृ० २४९ पर सख्या १, २, ३, के अतिरिक्त गधेके रोनेका भी उल्लेख है। महापुराण (३, पृ० ६५) में ये अपशकुन अकित है—

(१) स्त्रीका मरघटमें रोना (२) नक्षत्रोका टूटना। (३) सपनेमें राजक्षत्रका भग्न दीखना (४) दिशाओका जलता दिखाई देना।

शुभ शकुन ये है —

दर्पण, शख, कमल, दिगम्बर, मुनि, सफेद छत्र, भ्रमर, अश्व, चामर, सालकार स्त्री, दहीका घडा लिये हुए सुन्दर सुकुमारी, धुँआरहित आग, अनुकूल हवा, कौएका मधुर बोलना। (प० च० २, ८३)।

(१) बाएँ अग और भुजाका फडकना (२) मृगका दाँयी ओर भागना (३) दाई आँख फडकना (स्त्रीकी) (४) पुरुषकी बायी आँख फडकना

(भवि० क० पृ० ५३)

किसीके आगमनको जाननेके लिए कौएको उडानेका भी प्राय विश्वास था, भविसकी प्रतीक्षामें उसकी माँ ऐसा ही करती है। यक्ष-राक्षस और भूतलीलामें इस युगका पूरा विश्वास था। पद्मश्रीको भूतकी करनीसे ही अपने पतिसे वचित होना पडा था। देवीकी हिंसक और क्रूर साधना कौलमतका आलोच्य कालमे अधिक प्रचार था। जसहर चरिउमें उसका वीभत्स चित्रण है। (देखें वस्तु-विवरण) जैनोमें पद्मावती, सुदर्शनी देवीका बहुत महत्त्व था। कवि पुष्पदन्त स्वय अपना पुराण प्रारम्भ करनेके पहले यक्षकी आराधना करते हैं। चण्डमारीका कल्ट बहुत प्रभावशाली था। तिलक द्वीपसे प्रस्थान करते समय सार्थवाहदल जलदेवीकी पूजा करता है (भवि० क० ४९)। तन्त्र-मन्त्रकी खूब धाक थी। युद्धमें जो विद्याएँ प्रयुक्त होती थी वह तन्त्र-मन्त्रसे ही साधी जाती थी। यह सब होते हुए भी भक्तिकी सरसधारा इस कालमें धीरे-धीरे विकसित हो रही थी। दार्शनिक मतोके विवेचनमें हमने इसका विचार किया है। साम्प्रदायिक सघर्षके बीच सहिष्णुताका भाव बढ रहा था। आर्थिक स्तर और रहन-सहनके विषयमें हमें कोई विशेष जानकारी इस साहित्यसे नही मिलती। फिर भी इतना निश्चित है कि साधारण जनता अपने श्रमका फल अधिक नही पाती होगी। राजन्य वर्ग और श्रेष्ठी-वर्ग सम्पन्न

था। प्रभावशाली ब्राह्मण भी मजेमें थे। राजनीतिमें वे बढ़-चढ़कर भाग ले रहे थे। पर साधारण बनिया किसान और ब्राह्मण गरीब थे। दरिद्र किसानों और ब्राह्मण परिवारोंका उल्लेख बराबर मिलता है (देखें, वस्तु-तत्त्व), बाजार सजे हुए होते थे, और उनमें सब तरहकी वस्तुएँ उपलब्ध थीं। पर यह आश्चर्यकी बात है कि आजकी तरह पहले भी वस्तुओंमें मिलावट की जाती थी। हनुमानने किष्किन्धाके बाजारमें 'तेल मिश्रित घी' लक्षित किया था (प० च० २, १९७)।



अपभ्रंश काव्योंमें चर्चित दार्शनिक मत

काव्यमें दार्शनिक तथ्योके प्रतिपादनकी प्रथा अश्वघोषके बुद्ध चरितसे मिलती है। उसमें सरल शैलीमें बुद्धके सिद्धान्तोका विवेचन है। गुप्त-कालमें दार्शनिक खण्डन-मण्डनकी प्रवृत्ति बहुत जोरोसे चली। काव्य भी इससे अछूता नही रह सका। बाणभट्ट भी विभिन्न दार्शनिक मतोका उल्लेख 'हर्षचरित' में करते हैं। अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्योमें दार्शनिक खण्डन-मण्डन बराबर मिलता है। संस्कृत काव्योकी भी यही दशा है। सोमदेवका यशस्तिलक इसका सुन्दर उदाहरण है। जहांतक आलोच्य काव्योका सम्बन्ध है उनमें सभी दर्शनोकी विस्तृत आलोचना नही मिलती। पशुबलि, वैदिक कर्मकाण्ड और ब्राह्मणोको आलोचना अधिक है। इनके कारणका आगे हम विचार करेंगे। पुष्पदन्तमे यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है। एक साथ सभी दर्शनोकी आलोचना किसीने नही की। मुख्य रूपसे चार्वाक, क्षणिकवाद, मीमासा और साख्य दर्शनोका ही खण्डन मिलता है। जैसे जसहर चरिउमे एक कोतवाल (तलवर) का जैन साधु-से विवाद हो गया। उसने सक्षेपमें निम्नलिखित प्रश्न रखे—

१ जिस तरह तपसे मोक्ष मिलता है, उसी तरह युद्धमें शत्रुको मारनेसे भी मिलता है।

२ इन्द्रिय सुख ही सब कुछ है।

३ शरीरको कठोर यातना देना ठीक नही।

मुनिका उत्तर यह था—

१. जीव और कर्म अलग-अलग हैं, कर्मके कारण जीव नाना रूप ग्रहण करता है।

२ पुण्य और इन्द्रिय सुख कर्म सापेक्ष्य है, अत उपेक्षा करने योग्य हैं।

३ इसलिए आत्मसुखके लिए तपका आचरण आवश्यक है, इसलिए मैं तप करता हूं।

इसपर तलवरने यह तर्क दिया—

१. बिना जीवके मोक्षका प्रयत्न करना, सीगमे दूध निकालना या छतके विना छाया करना—जीव और देह एक है, वैसे ही जैसे फूल और उसकी सुगन्ध।

मुनिका उत्तर था—

गन्ध जैसे फूलसे तेलमें उतर आता है वैसे ही जीव भी देहसे अलग है।

तलवरने फिर आशंका की—

वह अलग नहीं दिखता, जब दिखाई देता है तब शरीर ही।

तब मुनिने कहा—एकका विषय दूसरा ग्रहण नहीं कर सकता। यह नियम है, आँख देख सकती है, सूँघ नहीं सकती, कान सुन सकते है, देख नहीं सकते। आत्मा सूक्ष्म तत्त्व है। उसे स्थूल ज्ञानसे नहीं जाना जा सकता, हाथीकी सूँड राई नहीं उठा सकती। अतः हम आत्माको शुद्ध ज्ञानसे ही जान सकते हैं, कर्मसे मुक्त होनेपर ही यह शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। इसीलिए मैं तप करता हूँ (वही पृ० ६१)। फिर वह कहते है कि जीव सर्वथा नित्य नहीं है क्योंकि उस अवस्थामें कर्मबन्ध नहीं हो सकता और न अनित्य ही है, वह शुद्ध भी नहीं है। इसलिए जबतक राग-द्वेषसे दृष्टि दूषित है तबतक, आत्मज्ञान असम्भव है। वस्तुत द्रव्यकी दृष्टिसे वह नित्य है और पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य।

विज्ञानवाद[1]—बौद्धोंका यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। यदि चेतनको क्षण-क्षणमें परिणमनशील माना जाये तो उसे वेदनाका अनुभव कैसे होगा। वासनासे यदि ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाये तो वह क्षण-क्षणमें नष्ट होती रहती है। और फिर वह उन पाँच स्कन्धोंसे भिन्न नहीं है। अतः चेतनकी सत्ता माननी पड़ती है। (वही पृ० ६३)। चेतनकी सिद्धि हो चुकनेपर प्रश्न यह उठा कि मुक्ति कैसे सम्भव है, तलवरने वैदिक दृष्टिसे मांस-भक्षण और पशुबलिसे मोक्षका समर्थन किया। इसके विरोधमें मुनिने यह कहा—

कुमारिल भट्टका वचन अत्यन्त अशुद्ध और धर्मके विपरीत है। परन्तु असली चिह्न उनकी पशुहिंसामें हैं, वह कहते है कि जीव वधसे दो फायदा हुआ—एक शील कुलका और दूसरे ब्राह्मण कुलका। मछली मारना, खाना यदि शुद्धिका कारण हो तो फिर 'बकु' को ही महामुनि समझना चाहिए। नदीके किनारे चरते हुए उन्हींका भक्ति करना चाहिए। अन्य मुनिकी क्या आवश्यकता है। (वही पृ० ६६)।

---

[1] बाह्य आभ्यन्तर जड़ चेतन जो भी जगत् है, वह सब विज्ञानका परिणाम है। (पौ० द० ८६)।

आगे वह कहते है कि ब्राह्मणका विश्वास करना ठीक नही, वह गौको पूजता है और दूसरे जीवोका वध कराता है। (वही पृ० ६६)। उक्त अवतरणमें मुख्य रूपसे चार्वाक नैयायिक क्षणिकवादी बौद्ध और मीमासकोके मतोका खण्डन है, तर्ककी अपेक्षा युक्ति अधिक है। चार्वाकका विरोध इसलिए है कि वह जीव नही मानता, नैयायिक और बौद्धका इसलिए विरोध है कि वे नित्य मानते है उसे या क्षणिक। मीमासाके विरोधका कारण स्पष्ट है। णायकुमार चरिउमे भी दार्शनिक मतोके उल्लेख है।

१ बौद्धोका क्षणिकवाद नही बन सकता। क्योकि उसमें कपडे पहनो, भोजन करो आदि वाक्य नही बन सकते, यह ठीक है कि परमाणु मिलकर घट-पट बनते हैं पर उनका ज्ञान कैसे हो सकता है। शून्यवाद भी ठीक नही क्योकि सब यदि शून्य मान लिया जाये तो मुक्तिकी फिर क्या आवश्यकता है (पृ० ९४)।

२. निर्गुण ब्रह्म या शिवको सृष्टिकर्ता मानना ठीक नही, क्योकि वह निष्क्रिय है, यदि वह सिद्ध है तो उन्हें सृष्टिसे क्या प्रयोजन, यदि वह कामजयी हैं तो स्त्रीमे आसक्त क्यो है, यदि पवित्र हैं तो परवध क्यो करते है (पृ० ९६)।

वेद—वेद प्रमाण नही हो सकता क्योकि वह स्वार्थ और हिंसाको प्रेरणासे रचित है। (पृ० ९७)

ब्रह्म—वह एक और नित्य नही है, क्योकि एक अनेक नही हो सकता।

सांख्य—यदि साख्यका पुरुष निष्क्रिय और शुद्ध है तो प्रकृतिसे उसका बँधना और छूटना कैसे बनेगा। (पृ० ९८)

चार्वाक—यदि जीवन पच महाभूतोसे ही बनता है तो जो एक-दूसरेके विरोधी हैं, वे एक जगह नही रह सकते।

राजा महाबलिके चार मन्त्री थे, जो चार दर्शनोका प्रतिनिधित्व करते थे। पहले मन्त्री धर्मबुद्धिने राजाको तपकी सलाह दी। चार्वाक और बौद्ध मन्त्रीके उत्तर-प्रत्युत्तर पहले-जैसे हैं। विशाल मन्त्रीने मायावादका समर्थन किया। (म० पु० १) यह ध्यान रखना चाहिए, इस समय तक आचार्य शकर अपने अद्वैतवादका प्रचार कर चुके थे। संक्षेपमें मन्त्रीने ये तर्क दिये—

"यह ससार मृगतृष्णा, स्वप्न या इन्द्रजाल है। लेकिन जिसकी यह माया है, वह दिखाई नही पडता। गुरु-शिष्यका सम्बन्ध केवल एक व्यवहार है। परमार्थमें यह कुछ भी सत्य नहीं, परलोककी साधना करनेवालापर उस सियारकी कहानी चरितार्थ होती है, जो मुँहका मास-खण्ड छोडकर, पानीमें तैरती मछलीको पकडने दौडा। इतनेमे आकाशसे चील झपटकर वह टुकडा उठा ले गयी, मछली भी अपनी जगह जा छिपी। ऐसे ही मनुष्य भी दोनो ओरसे हाथ धो बैठता है। नरकके भयसे शरीरको कष्ट देना भी व्यर्थ है। यह वैसा ही हुआ जैसे आकाश गिर पडेगा इस भयसे टिटिहरा टाँग ऊपर करके बैठ गया।"

इसका स्वयबुद्धिने यह उत्तर दिया—

जब कारण और कार्य नही है तो वज्रपातके समय भय क्यो होता है। जब न शब्द है, न तुम, न मैं और न अन्य वस्तु है, तो फिर इष्ट अनिष्टकी प्रतीति क्यो होती है।

कवि स्वयभूने बहुत थोडेमे दार्शनिक खण्डन मण्डन किया है। रामको वनवासमे जाते हुए एक तापस वन मिला, उसमें निम्नलिखित साधु उन्हे दिखाई दिये—

तावस केवि दिट्ठ जड धारिय, कुजण कुगाम जेम जड धारिय।
केवि तिदडि केवि घाडी सर, कुविय णरिंद जेम घाडीसर।
केवि रुद्द रुद्दकुम्म हत्था, मट्ठु जेम रुद्दकुम्म हत्था।

(प० च० २, २८)

इसमे जटाधारी, त्रिदण्डी, घाटोसर और रौद्र साधुओंका निर्देश है। बाण-भट्टने भी वर्णन किया है कि हर्षने दिवाकर मित्रके आश्रममें कई सम्प्र-दायोंके साधु देखे थे, डॉ० अग्रवालने उनकी विस्तृत व्याख्या की है। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि ये सब साधु उस आश्रममें रहते ही थे। नैषध, प्रबोध चन्द्रोदय आदिमे तपोवनका ऐसा ही वर्णन है, इसलिए यह मानना पडता है कि यह भी एक साहित्यिक प्रथा थी, उससे आधार—इतना ही कहा जा सकता है कि इन साधुओंका भारतमे अस्तित्व था। पर वे एक ही आश्रममें थे, यह सिद्ध नही होता।

दार्शनिक विवेचनका दूसरा प्रसग है दण्डक राजाकी कहानी। एक बार वह शिकार खेलने गया। एक जैन साधुको देखकर कहा राजा—तप करना व्यर्थ है, क्योंकि जीवन और शरीर दोनो अनित्य है।

मुनि नयवादसे यह उत्तर देते हैं—

यदि तुम क्षणिक मानते हो तो क्षण शब्दका उच्चारण ही नही बनता, क्षणिकसे क्षणिक क्षणान्तर, अघटित अघटमान और अघटन्त, शून्यसे शून्य वचन, शून्यासन आदिकी कल्पना नही बन सकती। अत: सब बौद्ध शासन व्यर्थ है। (प० च० २, १०९)। तब राजाने कहा—जब सब नित्य है तो तप करनेसे क्या।

मुनिका यह उत्तर था—हमारे मतमें यह आपत्ति नही उठायी जा सकती, क्योकि हम नास्ति-अस्ति दोनो पक्ष मानते है।

तब राजा जैन हो गया।

इन अवतरणोका विश्लेषण करनेपर हम इस निर्णयपर पहुँचते है कि अपभ्रश कवियोने न तो बाणभट्टकी तरह दार्शनिक सम्प्रदायोकी लम्बी-चौडी सूची दी है और न सोमदेवकी तरह अधिक दार्शनिक खण्डन-मण्डन किया। शुष्क दार्शनिक चर्चा इन्हें अधिक पसन्द नहीं। स्वयभूने केवल चार ही सम्प्रदायोका श्लेषमें उल्लेख किया है, क्षणिकवादका भी खण्डन वह बहुत थोडेमें ही करते है। पुष्पदन्तने चार्वाक, मीमासा, मायावाद और क्षणिकवादकी चर्चा की है। इसका मुख्य कारण इन विचारधाराओका जैन-साधनासे सीधा टकराना था। जैन दर्शनमें मोक्ष चरम पुरुषार्थ है। वह जीवके अस्तित्वको माने विना सम्भव नही। उसे क्षणिक और नित्य भी होना चाहिए। फिर वह अहिंसक साधनामे ही ऐसा कर सकता है, उक्त खण्डन-मण्डन इसी बातको लक्ष्यमें रखकर है। ऐतिहासिक दृष्टिसे भी इस युगमें वेदान्त और मीमासा ही दर्शन क्षेत्रमें प्रधान थे। चार्वाकका विरोध कुछ रूढ है। कुमारिल भट्ट इसी युगमें हुए और वैदिक क्रियाकाण्डका जैन साधनासे सीधा विरोध था, अत उसके प्रति उग्र विचार है, वेदान्त और जैन दर्शनमें कई बातें समान हैं। पर मायाके आधारपर ससारको झूठा मानना इन्हे स्वीकार्य नही, वेदान्तकी ब्रह्म-कल्पनासे भी इनका विरोध है।

इस दार्शनिक विवेचनके अतिरिक्त जीव, हिंसा, ईश्वर-कर्तृत्व और ब्राह्मणवादका विरोध भी ये कवि करते है। पर धार्मिक दृष्टिसे, सामाजिक दृष्टिसे नही। १०वी सदीमें यद्यपि वैदिक यज्ञोकी प्रथा नही थी, अधिकतर स्मार्त धर्मका प्रचार था, राज्यके स्मार्त आचारके लिए ब्राह्मणो-

को दान दिया जाता था[1]। प्रसिद्ध मुसलिम इतिहासलेखक अलबरुनीको भी यही बताया गया था कि अब पुराने यज्ञ नही होते (य० ति० इ० क० पृ० ३०७) । अश्वमेधकी जो पुनरावृत्ति गुप्त युगमें हुई थी, उसका अन्त उनके युगके साथ हो हो गया था । फिर भी एकदम लुप्त नही हुए थे (देखो युग और स्रोत)। सातवी सदीमें देवी उपासना देशके कई भागोमें कई रूपोमें अधिक प्रचलित थी । डॉ० हान्दिकीने अपने ग्रन्थमें इसका सप्रमाण विस्तृत विवेचन किया है (य० ति० इ० क० ३९२) । भारत ही नही बृहत्तर भारतमे भी इसका प्रचार था । इस उपासनाका हिंसासे घनिष्ठ सम्बन्ध था । वाममार्गी कौल और कापालिक जीवहिंसा ही नही नरबलि भी देते थे । इसलिए इनका विरोध आवश्यक हो गया । महापुराण (२, ६९) में नारद-पर्वतक आख्यानमें यज्ञकी व्यर्थता सिद्ध की गयी है। जसहर चरिउका पूरा कथानक हिंसा और वैदिक क्रियाकाण्डके विरोधसे भरा है । शिव और ब्राह्मणोपर आक्षेपका कारण भी यही जीवहिंसा है। जैसे—

हा, हा ब्राह्मण हिंसा कराते हैं । राजाओको यह राजवृत्ति उन्होंने सिखायी । श्राद्धपक्षमें यह स्पष्ट देखा जाता है कि ब्राह्मण मास खाते हैं । दूधसे धोनेपर भी ईंट कभी सफेद नही हो सकती । (म० पु० १, १०५) ।

यदि 'पशु' होमनेके बाद स्वर्ग जाता है तो अपने-आपको क्यो नही होमते—

पसु सग्ग गच्छति दीसति सकयत्थ ।
तो अप्पय तत्थ होमेवि मतेहिं ।
सहु पुत्त कतेहिं गमिज्जइ सग्गु ।
भुजिज्जइ भोग्गु ।

(म० पु० २, ३८)

इन्हें हिंसाप्रिय देव भी मान्य नही, वे शिवका विद्रूप चित्रण करते हैं—

सरुहरकत पयाउय दत ककाल
हत्थे सूल खट्टकवाल करवाल ।

---

१ वैदिका अप्याचारा राजसूयाश्च मेधा दया समुच्छिद्यमाना दृश्यते, यत इदानीं नानुष्ठीयन्ते, पूर्वं चतुष्पादधर्ममासीत् सम्प्रति जीयते यज्ञे दानैक्यात्' (न्या० मु० अध्या० २) ।

काटहि खाला किंकिणी माला झणझणिया
पासे रामा मुद्धा रामा धणधणिया ।
मह रावाणं मिठ्ठं खाणं मृग मासं
दाढाचंडं कुद्धे ताडं जणतास ।

(म० पु० २, १०२)

इनका यह दृढ विश्वास है—

इय लोयहो परलोयहो जीवहिंस भयगारी

(णा० कु० च० ३३)

वैदिक धर्मके विरोधका कारण भी उसमें हिंसाका समर्थन होना ही है।

ब्राह्मणवाद—आलोच्य साहित्यमें ब्राह्मणोकी जो चर्चा है, उसका सम्बन्ध रिसभ जिनके युगसे नही कवियोके युगसे है। इनका कहना है कि रिसभ जिनने ब्राह्मण वर्ग नही बनाया था, इसका निर्माण उनके युगमें भरतने किया। परशुरामके समयसे ब्राह्मण राजनीतिमें सक्रिय भाग लेने लगे, इससे वैदिक धर्मकी प्रतिष्ठा हुई, धरतीपर उनका अधिकार हो गया, वे व्यसन और विलासमें फँस गये। पितरोके नामपर मास खाते और सोमपान करते। चारो ओर यज्ञकी धूम मची थी। परशुरामके भवनके दरवाजोमें राजाओके कपाल कीलोसे जडे हुए थे। (म० पु० २,३३९)। ये कवि नही चाहते कि अध्यात्मवादी ब्राह्मण कामासक्त हो, जैसे—

कन्याको लेकर जो काममें रत है, जो धरती लेकर लोभमें फँसा है, जो 'गाय दो' कहा करता है, और उसके घीसे अपनेको पुष्ट करता है। जब ये ब्राह्मण खुद संसारमें आसक्त है तो इनसे दूसरोंके उद्धारकी आशा कैसे की जा सकती है। (म० पु० २,१४५)

यह होते हुए भी अन्तमें पुष्पदन्त कवि क्षोभके साथ कहता है—कलि-युगमे वर्ण सकर हो जायेगा। राजा-प्रजा और द्विजवर कोई भी शुद्ध नही रहेंगे। उनमे छह-सात सौ वर्ष बाद तुलसीदास भी कलियुगके वर्णनमें यही सब कहते है। इससे साफ है कि ये कवि न तो वर्ण-व्यवस्थाको मिटानेके पक्षमें है और न ब्राह्मणोके। अगर वे जैन हो जाये, तो फिर इन्हें कोई विरोध नहीं, अत यह विरोध सामाजिक क्रान्तिके रूपमें न होकर केवल परम्परागत है, ब्राह्मणके विरोधका एक कारण यह भी है कि ये दर्शन और धर्मके नेता थे। यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि स्वयभू

पुष्पदन्त भी ब्राह्मण ही थे। पुष्पदन्तने यह भी लिखा है कि ऋसभ जिनने बहुत पहले ब्राह्मणोंके पतनकी घोषणा कर दी थी।

(म० पु० १, पृ० ३१२)

ईश्वरवाद—ईश्वर सृष्टिका कर्ता है। इसके विरोधमे ये कवि निम्नलिखित तर्क देते हैं—

१ नासमझ लोग यह मानते हैं कि परमात्माने ससारकी रचना की। यदि लोकमें उत्पन्न पृथ्वी आदि तत्त्व पहलेसे नही थे तो निराकार परमात्माने यह रूप कैसे निर्माण कर दिया। यदि विधाता अरूप है तो सृष्टि भी अरूप होती, या उसे सरूप होना चाहिए, क्योंकि दियासे ही दिया जलता है।

२ ईश्वर धर्म, अर्थ, कामसे रहित है अत सृष्टि बनानेसे उसका कोई मतलब नही हो सकता।

३ वह इच्छाहीन है, इसलिए क्रिया नही करेगा।

४. उत्पाद्य और उत्पादकमें भिन्नता होती है, जैसे कुम्हार और उसके बनाये घडेमे। ईश्वर यदि सृष्टि बनाता है तो वह भी अलग हुआ उससे, फिर वह एक कैसे रहा?

५ यदि परमात्मा निमित्त कारण है, तो उसका निमित्त कारण क्या है?

६ परमात्मा नित्य है, उसमें परिणमन नही हो सकता।

७ माना जाये कि क्रीडाके लिए वह सृष्टि बनाता है, और अन्तमें सबको निष्क्रिय बनाकर अपनेमें लीन कर लेता है तो क्या इसमें वह लिप्त नही होता होगा और फिर पुरदाह शत्रुवध आदि क्या भले काम माने जा सकते हैं।

८, यदि उसने जान-बूझकर यह सृष्टि बनायी तो दानव क्यों बनाये।

(म० पु० २,३१७)

जैन धर्म

लोकजीवनमे किसी भी धर्मके दो रूप होते है। पहला व्यावहारिक और दूसरा आध्यात्मिक। आलोच्य साहित्यमें जैन धर्मके दो रूप मिलते हैं। ये कवि प्राय धर्म वर्णनकी तीन-चार शैलियाँ अपनाते हैं।

१ महावस्तु निर्देश जैसे—म० पु० की ११वी सन्धिमे पुष्पदन्तने महा-

वस्तु निर्देश किया है। दूसरे उनका तात्पर्य जैन दृष्टिकोणसे सृष्टि, तत्त्व ईश्वर आदि वस्तुओंका विवेचन करना है। इसी प्रकार 'वितडा-पंडिय-पडा विहंडणा' (पृ० ३२६-३५८) में परमतका खण्डन करके वह स्वमतकी स्थापना करता है।

२ ग्रन्थके अन्तमें नायक मुनिसे धर्म सुनता है। उसमे भी धार्मिक और दार्शनिक विवेचन आ जाता है।

३. आहारके अनन्तर या किसी दुःखी श्रावकको समझानेके लिए धर्मोपदेश करता है।

४ अन्य मतका व्यक्ति जैन साधुसे वाद-विवाद करता है।

५, भवान्तरोंके वर्णनमें सिद्धान्तवर्णनकी बात छिड जाती है।

६ कवि स्वय ग्रन्थके प्रारम्भमें पूर्ण परम्पराका उल्लेख कर देता है।

सामान्य तौरसे अपभ्रंश काव्यको देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युगमें धर्मके बाह्यरूप और भक्तिका अधिक महत्त्व समझा जा रहा था। देव, शास्त्र और गुरुमें अधिक आस्था थी। उपदेशके अतिरिक्त, कलात्मक और साहित्यिक प्रयत्नोमे भी यह काम जारी था। दार्शनिक प्रयत्नोंसे भी यह काम जारी था। दार्शनिक खण्डन-मण्डनकी भी प्रवृत्ति अधिक थी। पर यह बहुत कुछ रूढ था। शैवो और पशुबलिके प्रति ही इनका सच्चा और उग्र विरोध था। इसका कारण भी था।[1] दक्खिनमें लिखे हुए ग्रन्थोंमे यह बात विशेष रूपसे लक्षित होती है। उत्तरभारतके लेखकोंमें धर्मके साधारण रूपकी व्याख्या है।

व्यावहारिक धर्मके भी दो भेद हो सकते हैं—१ साधारण, २ वैधानिक। साधारण धर्ममें मानवी सदाचारकी वे बातें आती हैं जिनका किसी भी मतसे विरोध नही होता और सभी धर्म इनका पालन आवश्यक समझते हैं, पर शायद ही कोई उनका पालन करता हो। जैसे दूसरेके दोषोंको क्षमा कर देना, इच्छाका निरोध करना, गुणी व्यक्तिमे आस्था, दुर्गुणोंसे विरक्ति, जीवोंके प्रति करुणाभाव, ये पांच गुण जिसमें हो, दुनियामें उससे बढकर दूसरा नही। (म० पु० ३, पृ० १४)

सत्य सबसे महान् है और जयशील भी। दशरथ कहते है कि सचसे ही आसमानमे सूरज तपता है, सचसे ही समुद्र अपनी मर्यादा नही छोडता,

---

१. शिव बनाम जिन।

सत्यसे ही हवा बहती है, सत्यसे ही धरती सब कुछ सह लेती है (प० च० २, १५)। यहाँ सत्यका अर्थ सार्वभौम नियम है।

धर्मघोष मुनिकी ये बातें सदाचारकी ही बातें कही जायेंगी।

वही धर्म श्रेष्ठ है जहाँ जीवकी रक्षा हो, नियमोंका पालन हो, सत्य बात हो, माया न हो, दूसरोंकी चीज़ोंका हरण न किया जाये, दूसरोंको पीडा न पहुँचायी जाये, पर स्त्रीप्रसग और चरित्रभग न हो, इच्छा सीमित हो, रात्रिभोजन न हो, क्रोध, मान, माया और लोभ न हो। मद्य, मास और मधु सेवन न हो। (प० सि० च०, पृ० ६)

इनमे एक दो बातोको छोडकर शेष बातें सार्वजनिक सदाचारकी अग हैं।

वैधानिकधर्म वह है जिसमें धार्मिक विधि-विधान और कायदे-कानूनो-की क़वायद की जाती है। इस दृष्टिसे जैन धर्मके दो रूप हैं। मुनि धर्म और गृहस्थ धर्म। चूँकि यह साहित्य श्रावकोको लक्ष्यमें रखकर लिखा गया है इसलिए गृहस्थ धर्मका ही अधिक वर्णन है। यह धर्मोपदेश भी या तो भयमूलक है या फिर प्रलोभनमूलक।

रामके वनवास जानेपर भरत भी जब पिताके साथ दीक्षाके लिए तत्पर हो गये तो दशरथ उन्हें यह समझाते हैं—अरे तुम परमरम्य गृहस्थाश्रमका पालन करो, इसके समान दूसरा धर्म नही है। जैन मुनियो-को चार प्रकारका दान देना, जिन-पूजा करना, महोपवास करना, जिन-वन्दना न भूलना, आतिथ्य-सत्कार करना, अन्तिम समय समाधिमरण धारण करना, यही सब धर्मोंका परम धर्म गृहस्थधर्म है (प० च० २, १३)। यही उपदेश कुलभूषण देशभूषण मुनि बहुत विस्तारसे रामको देते हैं। उसमें महाव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रतो आदिका उल्लेख है (प० च० २, १०१ से १०८)। उपवास और रात्रि-भोजनके त्यागका महत्त्व सबसे अधिक बताया गया है। एक जगह तो यहाँतक उल्लेख है कि जो रात्रि-भोजन करता है वह क्या नही करता ? वह नाना योनियोमें भटकता है। मद्य, मास, मधुका सेवन कर लेना अच्छा पर रातमें खाना ठीक नही। (प० च० १०४)

उपवासका तो इतना मोहक वर्णन है कि उसे स्वर्गका सीधा टिकिट समझिए। जितने उपवास उतने स्वर्ग। एक उपवाससे एक स्वर्ग, दो

उपवाससे दो, इसी तरह आगे भी, दानोंमें, आहारदानका सबमें बड़ा महत्त्व है। (करं० च० पृ० १०१)

जिनपूजा—जिनभक्ति धर्मका प्रथम और महत्त्वपूर्ण अंग थी। जिनमन्दिरोंके विशेष वर्णनमें यह बात दिखायी गयी है कि उस युगमें जिन-अभिषेक और पूजाका कितना महत्त्व था। चरित-काव्योंके सभी नायक बहुत ठाठ-बाटसे जिनभक्ति करते हैं। कुमार भविसने तिलक द्वीपमें धूम-धामसे जिनपूजा की थी। करकण्डु तो दक्षिणकी अपनी विजय-यात्रामें यही सब करता है। भरतने कैलास पर्वतपर जिन-मन्दिर बनवाये थे। वनयात्रामें रामको न जाने कितने जिन-मन्दिर मिले। रावण भी जिन-भक्त था। एक बार वह नर्मदा नदीके किनारेपर बालूकी वेदीपर रत्नोंकी जिनप्रतिमा रखकर पूजा कर रहा था। ऊपरसे बाढ़ आ गयी। इस युगमें बालूके शिवलिंग बनाकर पूजनेकी आम प्रथा थी। (ह० सा० अ०, पृ० १९)। शायद इसीपर-से कवि स्वयंभूको बालूकी वेदीकी कल्पना सूझी (प० च० २, पृ० ११९), क्योंकि रावण छोटा-सा सिंहासन भी अपने साथ रख सकता था। जिन-मन्दिर बनवाना उसमें जिनबिम्ब प्रतिष्ठित करना भी जिनभक्तिके अंग थे। आलोच्य साहित्यमें जिन-मन्दिरोंका समृद्ध वर्णन है। इस युगमें मन्दिर स्थापत्यकलाका महत्त्व था भी।[1] अयोध्यासे निकलते ही रामको सिद्धकूट जिनभवन मिला था। उसके दरवाजे और परकोटा चमक रहे थे। वह पोथियों और ग्रन्थोंसे भरा था (प० च० २, १९)। इन मन्दिरोंका उपयोग, लौकिक कार्योंके लिए भी होता था, जैसे भविसने तिलकद्वीपके एक चन्द्रप्रभु मन्दिरमें विवाह किया था। रामने रामपुरीके नवनिर्मित मन्दिरमें बैठकर दान किया था। वह अनन्तवीर्यको पकड़कर, जिन-मन्दिरमें लाये थे। इन मन्दिरोंमें यक्ष और यक्षिणियोंकी मूर्तियाँ भी थीं (म० पु० २, ३६१)। वेश्या नृत्य और रासो वगैरह भी मन्दिरोंमें होते थे। चर्चरी और उपदेश रसायन रासमें इनका निषेध तभी किया गया। इन मन्दिरोंके दर्शनार्थ वार्षिक मेले भी लगते थे। प्रह्लादराज अंजनाके लिए वर खोजनेके लिए नन्दीश्वरके मेलेमें गया था। इन मन्दिरोंकी सबसे बड़ी उपयोगिता यह थी कि ये साहित्य-साधना और ग्रन्थसुरक्षाके महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। अधिकांश साहित्य इन्हींमें लिखा गया और सुरक्षित भी इन्हींमें रहा।

---

१ देखो युग और स्रोत।

व्रतोंका उद्यापन भी इन मन्दिरोंमें उत्सवके साथ सम्पन्न होता था। कमलाने अपना व्रतानुष्ठान पूरा होनेपर चतुर्विध संघको भोजन भी कराया था। (भवि० क० ८३)

पंचकल्याण प्रतिष्ठा का सम्बन्ध भी जिनभक्ति और जिन धर्मकी प्रभावनासे है। (करकंड चरिउ) की रचनाकी मूल प्रेरणा ही जिन-बिम्ब प्रतिष्ठा है (पृ० १०१)। आलोच्य साहित्यमें दानके महत्त्वका जो बार-बार उल्लेख है वह व्यर्थ नहीं है। क्योंकि इन मन्दिरोंके व्ययसाध्य पूजा-विधानके लिए धनकी बहुत आवश्यकता थी। पंचकल्याण प्रतिष्ठा उससे भी अधिक व्ययपूर्ण थी। इस सम्बन्धमें डॉ० आल्टेकरने ठीक ही कहा है। 'राष्ट्रकूट युगके जिनमन्दिर तो बहुत कुछ अंशोंमें वैदिक मन्दिर कलाकी प्रतिलिपि थे। भगवान् महावीरकी पूजाविधि वैसी ही व्यय-साध्य तथा विलासमय हो गयी थी जैसे विष्णु तथा शिवकी। जैन-शिलालेखोंमें अंगभोग, रंगभोग आदिके लिए दान देनेके उल्लेख मिलते हैं जैसा कि वैदिक देवताओंके लिए प्रचलन था।'[1]

अन्यविश्वास—लौकिक सिद्धियोंके लिए अन्य देवी-देवताओंकी उपासना भी इस युगमें थी। ये देवी-देवता अहिंसक ही थे। वृक्षपूजा और पाषाणपूजा धार्मिक दृष्टिसे जैनोंमें वर्जित है। पर अक्षय वृक्षकी भक्ति या कोटिशिलाकी पूजा इन्हींके सुधरे हुए रूप हैं। इसके समाधानमें यह कहा जा सकता है कि इनपर या इनके नीचे बैठकर तीर्थंकरोंने तप किया, मोक्ष प्राप्त किया था।

भूत-पिशाचमें विश्वास था ही। दार्शनिक दृष्टिसे जैन धर्म चाहे जितना आध्यात्मिक हो, परन्तु सामाजिक दृष्टिसे इस युगके धर्माचरणका लक्ष्य लौकिक अभ्युदय ही था। स्वयंभू कहते हैं—[2] धर्मसे स्वर्गभोग, सौभाग्य मिलते हैं, पापसे मरण, वियोग और आक्रन्दन। धर्मसे सोनेका बना बढ़िया पलंग और पापसे घास-फूसका बिछौना। धर्मसे सुन्दर सुहावना शरीर, पापसे पंगु, बहरा और अन्धा शरीर (प० च० ६५)।

भयमूलक उपदेशके उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि जरा-जरा-सी भूलसे जन्म-जन्मान्तर तक मिलनेवाली यातनाओंके रोमांचकारी वर्णनसे यह साहित्य भरा पड़ा है। इसके अतिरिक्त यन्त्र-मन्त्रमें विश्वास,

१ अनेकान्त १९५४ किरण ६।

णमोकार मन्त्रका प्रभाव, दूसरोकी पौराणिक कल्पनाओका उपहास भी इसमे है ही। परन्तु बहुत-सी ऐसी ही अतिरंजित कल्पनाएँ इस साहित्यमे मिल जायेगी। वस्तुत उस युगमे किसी बातके सत्य होनेका उतना महत्त्व नही था जितना इस बातका कि वह अपने मतकी है या नही।

साहित्यिक उद्देश्य—यह सब होते हुए भी ये कथाकार धार्मिक भावनाका उपयोग अपने पात्रोके चरित्रमे नैतिक क्रान्ति लानेके लिए करते है। मनुष्य जानता है कि वह बुराई कर रहा है। फिर भी परिस्थितियाँ और उनसे उत्पन्न मानसिक अवस्था उसे वैसा करनेके लिए विवश कर देती है। अपभ्रश चरित लेखक यह अच्छी तरह जानता है। इसलिए उसका उद्देश्य उन परिस्थितियोको क्षणभगुर और घृणित बताकर मानव मनको बदल देना है। रावणके अन्तर्द्वन्द्वके चित्रणमें यह दृष्टिकोण स्पष्ट रूपसे लक्षित होता है (प० च० पृ० २७३)। ये लेखक आत्माका इस परिस्थितिसे उद्धार चाहते है, क्योकि उनका यह दृढ विश्वास था कि आत्मा ही आत्माको तारता या मारता है।

आध्यात्मिक रूप—इस आडम्बरपूर्ण धर्मके साथ आध्यात्मिक धर्मकी भी क्षीण धारा बह रही थी। वह क्षीण थी, पर थी उग्र। इस धाराके मुख्य प्रवर्तक थे अपभ्रश मुक्तक कवि। बात असलमे यह थी कि गुप्त नरेशोके स्वर्णयुगकी चमक, आध्यात्मिक जीवनपर भी काफी पडी थी। गुप्तराजा शैव थे या भागवत, पर थे भक्त। उनकी भक्ति-भावनाका अलकरण उस युगकी विविध कलाकृतियो और विशाल मन्दिरोके रूपमे देखा जा सकता है। उत्तर गुप्तयुगमें भी यह प्रक्रिया जारी रही। राज्य और मालदार भक्त जनतासे इन मन्दिरोको खासी आय थी। सम्राट् हर्ष-द्वारा एक हज़ार गाँव दिये जानेका उल्लेख है (एन्सिएण्ट इण्डिया पृ० २००) जैन साधुओको भी गाँव और भूमि दानमें दी जाती थी। कभी-कभी ये मुनि मठाधीशोकी तरह स्वय जीर्णोद्धार कराते और साधुओको आहार देते थे। कुन्दकुन्दम्नायके साधु लोग भी इस प्रलोभनसे नही बचे थे (जै० सा० इ० पृ० ३६०)। यह सब विक्रमको छठी सदीमे ही प्रारम्भ हो चुका था। आलोच्य साहित्यमें भी ऐसे उल्लेख है जिनसे पता चलता है कि जैन साधु भी गृहस्थोकी रागपूर्ण बातोमें दिलचस्पी लेते थे। जैनधर्मकी इस दुर्बलताको जिन क्रान्तिकारी अध्यात्मदर्शियोने पहचान लिया था उनमें आचार्य कुन्दकुन्द प्रमुख थे। हम

अन्यत्र दिखा चुके हैं कि अपभ्रंश मुक्तक कवि उनको विचारधारासे काफी प्रभावित थे। इन कवियोंने खुलकर, इस आडम्बरका विरोध किया, सिद्ध कवियोंका स्वर कई बातोंमे इनसे मिलता-जुलता है। अपभ्रंश प्रबन्ध कवि, मूर्त्तिपूजाके समर्थक थे।

णउ तरुवरि ण पक्ति ण सिलायलि।
वसइ देउ हिय-उल्लइ णिम्मलि।
जिणु जिणपडिबिंबु पाउ तूसइ णउ कुप्पइ।
इहएण मिसेण जीवें सुद्धि विडप्पइ।
(म० पु० ३, २०१)

उग्र अध्यात्मवादियोंकी विचारधाराका परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है।

□

उपसंहार और मूल्यांकन

ऐतिहासिक अनुक्रममें अपभ्रंश भारतीय आर्य भाषाकी प्राकृत अवस्थाकी अन्तिम भूमिका है। उसका पहला महत्त्व यह है कि वह मध्य-कालीन और आधुनिक चार सौ आर्य भाषाओके बीच कडीका काम करती है। उसकी विरासत केवल भाषा तक ही सीमित नही वरन् मध्ययुगीन भारतीय साहित्यकी कतिपय विधाएँ भी उससे प्रभावित हैं। इस प्रकार अपभ्रंश एक ऐसा ऐतिहासिक सूत्र है जो हिन्दी साहित्य : और उसके समकालीन अन्य साहित्यो : और उनकी भाषाओके अध्ययनमें पृष्ठभूमिका काम करता है। उसे खोना वस्तुत ज्ञानकी दो महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओको खो देना है। ये प्रक्रियाएँ है, १ ऐतिहासिक अनुक्रममें वस्तुका बोध, २ तुलनात्मक अध्ययन। तुलना केवल पूर्वापर सीमाओमे ही नही होती, किन्तु दो समानान्तर सीमाओमे भी सम्भव है, पर यह तभी हो सकता है जब उन समानान्तर सीमाओका एक सामान्य आधार खोज लिया जाये।

जहाँतक एक भाषाके रूपमें अपभ्रंशका सम्बन्ध है, उसकी विकास-प्रक्रियामें वे ही तत्त्व और प्रभाव काम करते हैं जो किसी भी भाषाकी विकासशीलतामे पाये जाते है। भाषागत दृष्टिकोणमे अपभ्रंशकी दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वह, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाको संयोगा-वस्थासे वियोगावस्था तक पहुँचनेमें माध्यमका काम करती है। भारतीय आर्य भाषा एकसे अनेक कैसे बनी, इसकी सही व्याख्याका सूत्र अपभ्रंशके हाथमें है।

लेकिन इतने ऐतिहासिक योगदानके बाद भी, यह भाषा और इसका साहित्य उपेक्षित ही रहा। उपेक्षित भी ऐसा कि उसके अस्तित्वमें सन्देह किया जाने लगा। मेरे विचारसे इस विरोधाभासका मुख्य कारण भारतीय स्वभाव ही है। दूसरे लोकभाषाओको उच्चचिन्तन और अभिव्यक्तिमें उपयुक्त नही समझा गया। अपने अध्ययनके साक्ष्यपर, और उपलब्ध तथ्योके हवालेसे मैं इस निष्कर्षपर पहुँचा हूँ कि अपभ्रंश अपनी ऐतिहासिक परिणतिमें प्राकृतोका ही परवर्ती विकास था। उसका साहित्यिक रूप प्राकृतपनसे बहुत-कुछ अनुप्राणित है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी विशेषताएँ भी हैं जो अपभ्रंशके व्यक्तित्वको प्राकृतोंसे जुदा करती है। व्याकरणकी

दृष्टिसे अपभ्रंश अपना एक निश्चित व्यक्तित्व लेकर आयी। प्राकृतपनसे आच्छन्न होनेपर भी अपभ्रंशकी अपनी आकृति है, रूपात्मक अस्तित्व है, जो उसे प्राकृतसे अलग करता है। सच तो यह है कि कोई भाषा, किसी दूसरी भाषाके सहारे अपना निर्माण नही करती। वह स्वय विकसित होती है किसी क्षेत्रीय सीमामें। इसमें सन्देह नहीं कि अपभ्रंश भारतकी पश्चिमी सीमाओंमें अधिक विकसित हुई। इसके बहुत-से क्षेत्रीय और सामाजिक कारण थे। पण्डितोंने अपनी तुलनामें अपभ्रंशको निय-प्राकृतके बहुत नजदीक पाया है। निय-प्राकृत प्राकृतोका सबसे परवर्ती विकास है। वैसे तो अपभ्रंशकी कुछ विशेषताओंको अशोकके शिलालेखोंकी भाषामें खोज सकते हैं, पर सर ओलेर स्टाइनको चीन तुर्किस्तानमें जो पत्र मिले हैं, वे निय-प्राकृतकी अमूल्य धरोहर हैं। ये खोतान (प्राचीन नाम चण्डोल) में तीसरी सदीमें लिखे गये। पर उपलब्ध सामग्रियोंके आधारपर कहना कठिन है कि ये विशेषताएँ, किसपर किसका प्रभाव मानी जायें, निय-प्राकृतका अपभ्रंशपर या अपभ्रंशका निय-प्राकृतपर।

अपभ्रंशसे जिस भाषाका बोध होता है, वह अपने उद्गमन कालमें पश्चिमी भारतकी एक बोली थी। भरतमुनिने इसे आभीरी कहा है, और इसकी प्रकृति उकारान्त बतलायी है। सबसे पहले इस आभीरीका अपभ्रंश नामसे सम्बन्ध, संस्कृत समीक्षक, दण्डीने जोडा। इसके पहले, अपभ्रंश शब्दका उल्लेख पतंजलिके भाष्यमें मिलता है। परन्तु वहाँ उसका प्रयोग संस्कृतसे भिन्न शब्द है। आचार्य दण्डीने साहित्यके सन्दर्भमें उस साहित्यके लिए अपभ्रंश साहित्य कहा है जो प्राकृतसे भिन्न होते हुए भी, उसके समानान्तर ही विकसित हो रहा था। उसके बाद, विभिन्न सन्दर्भोंमें अपभ्रंश शब्दकी भाषा और साहित्यके लिए पुनरावृत्ति हुई है। ये उल्लेख बताते हैं कि अपभ्रंश ईसवी छठी सदीसे बारहवीं तक साहित्यकी भाषा रही है। इतिहासमें यह युग, राजपूत युग है। राजपूतोंकी हलचलसे अपभ्रंशका समकालीन सम्बन्ध है, इतना ही नहीं, आलोच्य साहित्यमें राजपूतोंका जातीय संस्कार और चेतनाकी झलक मिलती है। जिस प्रकार आर्य-अनार्य संगमसे संस्कृत अपने परिष्कृत रूपमें आयी और बुद्ध एवं महावीरकी धार्मिक क्रान्तियोंसे पालि और प्राकृतें उठ खडी हुई, उसी प्रकार, अपभ्रंश भी गुप्तोत्तरकालीन राजनैतिक उथल-पुथलमें महत्त्व पा गयी। उसके बाद प्रादेशिक आधारपर भाषाका विकास होता है। पर उनका केन्द्रीय आधार अपभ्रंश ही है। मराठी, गुजराती और हिन्दीकी

तुलनात्मक समीक्षा, अपभ्रंशको केन्द्रमें ही रखकर की जा सकती है। एक प्रश्न अपभ्रंशके नामको लेकर उठता है। कुछ उसे प्राकृत कहते हैं और कुछ हिन्दी। परन्तु उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्वको देखते हुए, उसे अपभ्रंश कहना ही अधिक उचित है। पिछले १४०० वर्षोंसे जो नाम चला आ रहा है उसे बदलनेका कोई कारण भी नही है। स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे, चोटीके अपभ्रंश कवियोने भी इसे अपभ्रंश नाम दिया है। १२वीं सदीसे १४वी सदीतक, अवहट्टका युग है, इससे ४०० वर्ष पहले, उन बोलियोका उद्‌गम प्रारम्भ हो चुका था, जिन्हें अपभ्रंशकी तुलनामें देशी कहा जाता था। अपभ्रंश भी कभी देशी थी पर अब वह एक साहित्यिक भाषा थी। उक्त बोलियोके मिश्रणसे अपभ्रंशके जो परवर्ती प्रादेशिक रूप विकसित हुए, उनकी गिनती अवहट्टमें होनी चाहिए। हिन्दी साहित्यके आदिकालमें जिस साहित्यका उल्लेख किया जाता है वह या तो अपभ्रंशका साहित्य है या फिर अवहट्टका। जिस अर्थमें हिन्दीको हम लेते हैं उसका और उसकी बोलियोका साहित्य १४वीं सदीके बादसे प्रारम्भ होता है। हिन्दी साहित्यके निर्माता इतिहासके विभाजनमें भाषा-के स्वरूपपर अधिक ध्यान नही देते जान पडते। या फिर परम्पराके अनुरोधसे वे ऐसा करते हैं। लेकिन हिन्दीकी व्यापकता या अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओसे उसकी सम्बद्धता अपभ्रंशके आधारपर ही स्थापित की जा सकती है। अपभ्रंशके व्याकरणका विचार प्राकृतोंके सन्दर्भमें ही तुला हुआ है। फलस्वरूप या तो उसे प्राकृतिक नियमोंसे सिद्ध किया गया या फिर विशेष कामोके निर्देश कर, शेष रूपो और प्रक्रियाओ-को देशी खातेमें डाल दिया गया। प्राकृत वैयाकरणोकी दूसरी कमी यह है कि उन्होने साहित्यिक प्राकृतोका ही विचार किया है। प्राकृत और अपभ्रंशके व्याकरणिक विश्लेषणमें सबसे बडी बाधा यह धारणा थी कि 'सस्कृतं प्रकृति. तत आगतं प्राकृतम्' इसके अनुसार लोकभाषाओकी प्रकृति-को सस्कृतकी प्रकृतिके आधारपर सिद्ध किया जाता रहा। प्राकृतिक वैयाकरणोमें दो सम्प्रदाय हो गये, पहला पश्चिमी सम्प्रदाय और दूसरा पूर्वी सम्प्रदाय। प्राकृतके विभाजनकी भाँति अपभ्रंशके विभाजनमें कोई निश्चित नियम या सिद्धान्त नही अपनाया गया। पर यह कहा जा सकता है कि देशविशेषके आधारसे, अपभ्रंशमें भेद-प्रभेद करनेकी, एक सामान्य प्रवृत्ति रही। प्राकृत अपभ्रंश शब्दोकी निष्पत्ति, बहुत बार सस्कृतिकी साध्यमान प्रकृतिसे की जाती है। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित निष्कर्ष

ध्यान देने योग्य हैं।

संस्कृतके बाद, प्राकृतका अनुशासन ही क्रमप्राप्त है। उस प्राकृतका जो अपनी सिद्ध या साध्यमान प्रकृतिके लिए संस्कृतयोनिजा है।

कुछ अपवादोको छोड़कर संज्ञा और कारक, प्राकृत अपभ्रंशमें लगभग समान हैं।

लक्षणसिद्ध प्राकृत और देशी एक बात नही।

अपभ्रंश वैयाकरणोमें पहले हेमचन्द्र हैं दूसरे त्रिविक्रम। त्रिविक्रमने पूरी तरह हेमचन्द्रके व्याकरणका अनुकरण किया है। फिर भी उनके व्याकरणका महत्त्व इसलिए है कि उसने १५००० के लगभग देशी शब्दो-का संग्रह दिया है। यद्यपि यह संग्रह किसी सिद्धान्तपर आधारित नही है फिर भी संग्रहके बहुत-से शब्द महत्त्वके है और तुलनात्मक अध्ययनमें बडे कामके हैं।

जहाँतक आलोच्य भाषाके व्याकरणका सम्बन्ध है उसके स्वर और व्यंजन प्राकृत, विशेषतया शौरसेनी प्राकृतके समान हैं। फिर भी कुछ व्यंजनोके प्रयोगमें अपभ्रंश स्वतन्त्र है। और उसमें प्राय सभी प्राकृतोकी विशेषताएँ मिल जाती हैं। प्राकृतोके व्याकरणकी तुलनामें अपभ्रंशका व्याकरण सरल है। यह व्यापकता उसके विस्तृत क्षेत्रको बताती है। शब्दरूपोमें, अपभ्रंश शब्दोको अकारान्त बनानेकी प्रवृत्ति है। धातुरूपोमें भी सरलता है। एक तो धातुओके प्रयोगमे कमी है, दूसरे गण और लकार भी उतने नही जितने संस्कृतमें हैं। सामान्यभूतमें अपभ्रंशमें कृदन्तका ही प्रयोग होता है।

विभक्ति-प्रधान होते हुए भी, इसकी मूल प्रकृतिमें अधिक विचार नही होता। सम्प्रदान और सम्बन्धमें, विभक्तिके विकल्पमें परसर्गोका प्रयोग है। पर ये परसर्ग शब्दरूप हैं, और उसमें पहले षष्ठी विभक्ति भी आती है। सम्बन्धतत्त्व बतानेके लिए दोहरे प्रत्ययोका विधान भाषाकी विघटित स्थिति-का सूचक है। अव्यय, भाववाचक, लिंग, स्वार्थिक प्रत्यय, पूर्वकालिक क्रिया, क्रियार्थक क्रियाके क्षेत्रमें सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ अपभ्रंश भाषासे प्रभावित हैं। क्रियाके प्रयोगमें इस भाषाका देशी तत्त्वके प्रति अत्यधिक झुकाव है, लोकभाषाकी पहचानके लिए यह बात विशेष महत्त्व रखती है। समर्थक समानार्थक सहायक क्रियाका प्रयोग है और सहायक क्रिया आती है तो कालका सम्बन्ध उससे होता है मुख्य क्रियासे नही। यह बात आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओंमें विशिष्ट रूपसे देखी जाती है।

अपभ्रंशकी अनुकरणात्मक धातुओसे आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओकी धातुओका सीधा सम्बन्ध है।

अपभ्रंशकी सामान्य भूमिकापर, क्षेत्रीय आधारपर जिन आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओका विकास हुआ, उसके मुख्य कारण थे —

१ मुसलमानी शासनमे जनतामें एक ही प्रदेशमे सिमट रहनेकी प्रवृत्ति।

२. ध्वनियोके उच्चारणमें स्थानीय प्रभावकी वृद्धि।

३. दरबारोमें विदेशी भाषाकी प्रतिष्ठा।

४ सयोगावस्थासे वियोगावस्थाका विकास और उसके कारण रूपों-की अनेकरूपताकी जगह एकरूपताकी ओर झुकाव।

आलोच्य साहित्य काफी प्रकाशमें आ चुका है और अब यह प्रश्न ही नही उठता कि अपभ्रंश लोकभाषा थी या साहित्यकी कल्पित भाषा। स्वयंभू कविके वटवृक्षके रूपकसे यह भी सिद्ध होता है कि अपभ्रंश न केवल लोक-मे प्रचलित थी वरन् उसकी शिक्षा भी दी जाती थी। वटवृक्षपर बैठे पक्षी जिन स्वरमिश्रित ध्वनियोका उच्चारण कर रहे थे उनका सम्बन्ध बारह-खडीसे है। बारहखडी, लोकभाषा सीखनेकी एक मात्र शैली है। सस्कृत सीखनेके लिए जो महत्त्व रूपावलिका है, लोकभाषा सीखनेके लिए वही बारहखडीका है। स्वयभूके समय इस शैलीका विकास हो चुका था।

अपभ्रंशका साहित्य विविधताके मानसे सीमित है। यह एक विचित्र स्थिति है कि भारतीयोकी काव्य-अभिव्यक्ति उत्तरोत्तर धर्म तक सीमित होती है। यह पूर्ण रूपसे काव्यात्मक भाषा है। काव्यमें भी धर्मका पुट है। भाषाके रूपमें व्यापक होते हुए भी साहित्यमें उसका क्षेत्र सकुचित है। विविध ज्ञान विज्ञानकी पुस्तकोकी बात तो दूर पूरी तत्कालीन साहित्यिक विधाओपर भी इसमें रचनाएँ नही है। गद्यका अभाव है। नाटक उसमें नही है। विधागत विविधता चाहे इस साहित्यमे न हो, पर प्रामाणिकतामें यह बेजोड है। वीरगाथा युगकी बहुत-सी सन्दिग्ध कृतियोका असन्दिग्ध विश्लेषण भी, बहुत कुछ इसके आधारपर सम्भव है। आलोच्य साहित्यकी अधिकाश रचनाओका स्वरूप और समय सुनिश्चित है। अपभ्रंश साहित्यके कवियोके जीवनके विवरण भी थोडे-बहुत उपलब्ध है। विस्तृत जानकारी तो उनकी नही मिलती, पर जो मिलती है उससे उनकी जीवन-रेखाओ, समय और साहित्यिक प्रेरणाओके मूल स्रोतको जाना जा सकता है। सामान्य रूपसे यह बात सभी अपभ्रंश कवियोके बारेमें सच है कि उनका जीवन एक प्रशस्त जीवन था। सामाजिक असगतियों

और वैयक्तिक कुण्ठाओंसे उनका जीवन दूर था। सामान्यतया इन कवियो-की काव्य-रचनाका प्रेरणास्रोत धार्मिक है। इन्होने निःसकोच भावसे अपने उद्देश्यकी घोषणा की है। उनकी इस साहित्य साधनाके मूलमें कोई क्रान्तिकारी स्वर था। अथवा वह शोषित पीडित जनताको ऊपर उठाना चाहते थे, कहना कठिन है। निश्चयके स्वरमें इतना ही कहा जा सकता है कि ये कवि आत्मवादी थे। भौतिक हीनतापर आत्माकी विजय, चित्तका सयम, जिनभक्तिकी निरन्तर उद्वेलित उडान, क्रान्तिकारी आध्या-त्मिक चिन्तन इनकी विशेषताएँ थी। पर उसका लक्ष्य व्यक्ति है समाज-का एक वर्ग नहीं। यह समस्या समाजके किसी भी स्तरपर सम्भव है। लोक-काव्य परम्परा और साहित्यिक परम्पराओका इन कवियोने अपनी रचनाओमें सुन्दर समन्वय किया है। साहित्यकी लोक विधाओको शास्त्रीय रूप देनेका प्रयास ये नहीं करते। उलटे ये तो शास्त्रीय शैलियोको लोक-काव्यके साँचेमें ढालते हैं। लोक और साहित्यका इन्हें अच्छा ज्ञान था। इनकी साहित्य-साधना, जीवनकी प्रौढ अनुभूतियो और विचारोकी परिपक्वतापर आधारित है। ये कवि या तो प्रवन्ध-कवि है या फिर मुक्तक। प्रवन्ध-कवि मुख्य रूपसे प्रवृत्तिवादी और भक्त हैं। इसके विप-रीत मुक्तक कवि लौकिक हैं या फिर उग्र अध्यात्मवादी। जहाँतक प्रवन्ध-काव्योका सम्बन्ध है, यह धारा अपभ्र शमें, पौराणिक काव्योसे विकसित हुई। अपभ्र श कवि चरित-काव्य और कथा-काव्यमे भेद नही करते। आचार्य हेमचन्द्रने भी अपने काव्यानुशासनमे इस बातका समर्थन किया है। बहुत-सी प्रवृत्तियोमें समानधर्मा होते हुए भी पुराण-काव्योकी तुलनामें चरित काव्योमें अलौकिकताका सकोच, वस्तुविकासमें धारावाहि-कता और निश्चित योजना, धार्मिकताकी जगह लौकिकताका पुट अधिक है। ये कवि शास्त्रीय और लौकिक दोनो उपादानोंसे अपने प्रवन्धको सँवारते हैं। विशेषरूपसे गीततत्त्व युक्त छन्दोकी रचना और उक्तियोमें यह प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। आलोच्य प्रवन्ध कृतियोकी धार्मिक-भावनामें जिनभक्ति और शिवभक्तिका आपसी विरोध और समन्वय एक अनूठी विशेषता है। खण्ड-काव्योकी परम्परा अवश्य रही होगी, पर उसके नमूने कम मिले हैं। केवल सन्देशरासक हमारे सम्मुख है। डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदीने बहुत पहले इसे गीतकाव्य कहा था, अब वे उसे क्षीण प्रवन्ध-धर्मा काव्य मानते हैं। शब्दकी इस नयी सृष्टिके मूलमें वस्तुत अनिश्च-यता ही है। गेय कवितामें भक्ति और उग्र अध्यात्म है। दोहा कोशोमे

भी यही बात है। चाहे वे सिद्ध दोहाकार हो, या जैन दोहाकार, दो-तीन बातोको लेकर इनमें असाधारण समानता मिलती है। ये समानताएँ हैं—१. बाह्यसाधनाका विरोध, २. कोरे शास्त्रीय ज्ञानकी निःसारता, ३. अनुभूतिकी सर्वश्रेष्ठता। सिद्धोने साधनात्मक शैलीको अपनाया है, जब कि जैनोने भावात्मक। कही-कही इन्होने सिद्धोके पारिभाषिक शब्दोमें भी अपनी अनुभूति व्यक्त की है।

इस प्रकार धार्मिकताकी सीमामे रहते हुए भी इन कवियोमें सामाजिक तत्त्व और आध्यात्मिक उदारताका भाव प्रतिष्ठित दिखाई देता है। अपभ्रश प्रबन्ध-काव्य विवरणोकी दृष्टिसे काफी समृद्ध हैं। विवरणोकी शैली आलोच्य प्रबन्धोमें वर्णनात्मक न होकर विवरणात्मक है। सास्कृतिक दृष्टिसे विवाह, गोकुल, शबर बस्तियो, कृष्णलीला, स्वयवर, जलक्रीडाका वर्णन, विशेष महत्त्व रखता है। जहाँतक रूप-चित्रणका सम्बन्ध है उसमें यह साहित्य किसीसे पीछे नही है। फिर भी सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमें शास्त्रीय मर्यादाका सर्वथा परिपालन नहीं है। रूपचित्रणकी सभी शैलियोके नमूने इसमें है। ये कवि जब प्रतिक्रियाके रूपमें किसीके रूपका चित्रण करते हैं तो वहाँ लोकभावना विशेष रूपसे उभर आती है। भावके अनुरूप रूप-चित्रणकी प्रवृत्ति, इनमें सबसे अधिक देखनेको मिलेगी। स्त्रियोकी रूपात्मक प्रतिक्रियाका अकन ये कवि विशेष मनोयोगसे करते हैं। पात्र-द्वारा भाव-व्यजना तो इनमें है ही साथ ही, वस्तुव्यंजना भी है। यह नाटकोकी कथोपकथन शैलीका ही प्रभाव माना जाना चाहिए। कुछ आलोचकोने चरित-काव्य और कथा-काव्यमें भेद किया परन्तु मैंने तथ्योसे प्रमाणित किया है कि अपभ्रश प्रबन्धमे ऐसा कोई भेद नही है। नामकी भिन्नतासे इनके शिल्पमें कोई भिन्नता नही है। चरित-काव्योका मूल स्वर कथा-काव्यका ही स्वर है। उनमें जब लौकिक व्यक्तिका चरित होता है तो ये ऐहिक काव्य कहलाते हैं, इन्हें तुलसीदासजीने प्राकृत काव्य माना है, रासो काव्य इसी परम्परामें आते हैं। इसके विपरीत किसी पौराणिक आख्यान या धार्मिक चरित्रको लेकर काव्यकी रचना होती है तो उसे आध्यात्मिक चरित-काव्य कहा जाता है। अधिकाश अपभ्रश-चरित-काव्य, इसी परम्परामें आते हैं। संस्कृतमें भी प्रबन्ध-काव्योकी दो विधाएँ प्रारम्भसे मिलती हैं। अश्वघोषका बुद्धचरित और कालिदासका रघुवंश। पहला एकचरित प्रधान है, दूसरा अनेक चरितनिष्ठ है। आगे चलकर संस्कृतमें दूसरी विधा अधिक लोकप्रिय नहीं हुई। एक चरित-

काव्योके प्रति भी सस्कृत कविका अधिक सम्मान नही दिखाई देता। उसके स्थानपर सस्कृतमें घटना या कार्यप्रधान काव्यधारा विशेष लोकप्रिय हुई। इसमें कथावस्तुकी योजनामें नाटकीय तत्त्वोका विशेष उपयोग किया जाने लगा।

चरित-काव्योकी तुलनामें पुराण-काव्योकी कथावस्तु न तो सम्बद्ध होती है और न धारावाहिक। उनमें कथाएँ इतनी बिखरी हुई होती हैं कि उसके कई काव्यात्मक भाग किये जा सकते हैं। इनका महत्त्व कथाके विकासमें उतना नही होता, जितना पुराण कहनेमें। अपने धार्मिक उद्देश्योकी पूर्तिके लिए मानवचित्तके कुतूहलका मनोवैज्ञानिक उपयोग करनेमें ही इनका काव्य-कौशल निहित है। वस्तुत पुराण-काव्य अनेक चरित्रोके सग्रह ग्रन्थ हैं, उन्हें अपभ्र श कवि इसलिए निबद्ध करना चाहता है, क्योकि वे धर्मके अनुशासन और आनन्दसे भरे है। मुख्य रूपसे दो प्रकारकी रुढियाँ इनमें मिलती हैं। काव्य-सम्बन्धी रुढियाँ, जैसे मगला-चरण, ग्रन्थ-रचनाका उद्देश्य, आत्मलघुता, सज्जन-दुर्जन स्तुति या प्रार्थना (कथाके मध्यमें), आत्म-परिचय तथा वक्ता और श्रोता शैली। पौरा-णिक रुढियाँ, जैसे सृष्टिका वर्णन, लोक-विभाजन, धर्म प्रतिपादन, दार्शनिक खण्डन-मण्डन, अलौकिक तथ्योकी योजना, पूर्वभव-स्मरण और स्वप्न-दर्शन इत्यादि। चरित-काव्य अथवा कथा-काव्योकी दो धाराएँ हैं—धार्मिक चरित-काव्य और रोमाण्टिक चरित-काव्य। अन्त दोनोका लोकोत्तर महान् उद्देश्योकी सिद्धि या साधनामें होता है। फिर भी रोमाण्टिक चरित-काव्योमें धार्मिक काव्योकी तुलनामें कल्पना और मानवी सम्बन्धोकी उडान कुछ स्वच्छन्द होती है। इसमें सन्देह नही कि इनकी कथावस्तु अधिक सवेदनीय और सम्बद्ध होती है। इनकी सन्धियाँ, अपेक्षाकृत छोटी होती हैं, यद्यपि उनमें कडवकोकी सख्या निर्धारित करना कठिन है। धार्मिकताके साथ कथावस्तुमें सामाजिक समस्याओका भी सस्पर्श है। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने काव्योके चरित-प्रधान और घटना-प्रधान, ये दो भेद स्वीकार किये हैं। परन्तु अपभ्र शमें समूचे काव्य चरित-प्रधान ही हैं। हिन्दीके राम-चरित मानस और पद्मावत भी, चरित-काव्य ही है। आचार्य शुक्लने उन्हें घटना-प्रधान माना है। इनमें उन्होने क्रमश रावणवध और पद्मावतीके सती होनेको मुख्य कार्य माना है। परन्तु ये वस्तुत मुख्य कार्य नहीं हो सकते और स्वय कवियोका भी यह अभिप्राय नही है। उनमें मुख्य लक्ष्य है राम-गुणगान और प्रेमकी पीरकी अभिव्यजना। इन्हीं लक्ष्योके अनुरूप समूची कथा नियोजित है। अत वे भी चरित-काव्य हैं। आचार्य हेमचन्द्रके

शब्दानुशासनसे यह प्रमाणित है कि उस युगमें चरित-काव्यमें और कथा-काव्यमें कोई अन्तर नही था। इन काव्योंकी सबसे बडी विशेषता है, प्रबन्ध-की धारामें गीततत्त्वका समावेश। मंगलाचरण स्तुति और वन्दनाओमें तो इसके लिए गुंजाइश प्रकृत्या थी। दूसरे गीततत्त्वकी कुछ विशेषताएँ, अपभ्रंश छन्दमें परिभाषाका काम करती हैं। भक्तिपरक गीतोकी रचना इसमें सबसे अधिक है। यही कारण था कि संस्कृतमें भी अपभ्रंश छन्दोका प्रभाव देखा जाता है। इसके अतिरिक्त, चारण या दूसरी पद्धतिके गीतों-का भी अस्तित्व है। कही-कही कृष्णपरक गीतोका भी प्रचार था। डॉ० वैद्यके अनुसार, अपभ्रंश भाषाके धवलगीतोको मराठीमें ढवलगीत कहते है। स्वयभू और पुष्पदन्त नाना छन्दोमें प्रयुक्त स्तुतिका भी उल्लेख करते हैं। आलोच्य काव्यमें इस प्रकारकी कृतियोका समावेश होना चाहिए। रामकथा हमारे इतिहासकी एक महत्त्वपूर्ण कथा रही है। उद्‌गमकालसे रामकथापर काव्य लिखे जाते रहे है। इस व्यापकता और लोकप्रियताके कारण उसके स्वरूपमें भिन्नता आना स्वभाविक थी। स्वयभूकी रामकथा पुष्पदन्तकी रामकथासे एक दम भिन्न है। एकने विमलसूरिकी रामकथाका अनुकरण किया है जब कि दूसरेने आचार्य गुणभद्रकी। स्वयभूकी रामकथा बहुत कुछ, आदि कविकी रामकथासे समानता रखती है। रामकथाकी विभिन्न धाराओके तुलनात्मक अध्ययनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रारम्भमें रामकथाका रूप बहुत छोटा था। उसमें प्रमुख पात्र और प्रमुख घटनाएँ ही थीं। वे लोकप्रिय और वास्तविक घटना थी। बादमें साम्प्र-दायिक अनुरोधोंसे उनका विकास हुआ।

खण्ड-काव्यमें केवल सन्देशरासक ही उपलब्ध है। यह सुखान्त विप्रलम्भ रचना है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने इसे पहले गीतकाव्य माना था, पर अब वे उसे क्षीण प्रबन्ध-धर्मा काव्य स्वीकार करते हैं। अभीतक मुक्तक काव्यको इतिवृत्तिविहीन माना जाता रहा है, परन्तु यह आवश्यक नही है। सस्कृत आलोचक राजशेखरने इसका विवेचन किया है। अपभ्रंशमें इतिवृत्तात्मक मुक्तकोके काफी उदाहरण उपलब्ध हैं। गीत मुक्तक आलोच्य साहित्यमें कथा-काव्योंके अन्तर्गत, गेयरूपमें स्वतन्त्र और पदोंके रूपमें उपलब्ध है। गेय मुक्तकोके रूपमें जो रचनाएँ मिलती हैं उन्हें सामूहिक गीत-नृत्यात्मक कृतियाँ कहना अधिक संगत है। मुक्तक रूपमें दूसरा उदाहरण दोहा काव्य है। यह लौकिक और आध्यात्मिक दोनो रूपमें उपलब्ध है। आध्यात्मिक धारामें

निवृत्तिमूलक – अर्थात् उग्र कान्तिकारी विचारधाराके लेखक हैं। ये उग्र अध्यात्मवादी, आध्यात्मिक साधनाके हर आडम्बरका तीव्र विरोध करते हैं। फिर चाहे वे अध्यात्मवादी जैन हो या सिद्ध। यह बात इसी युगमें नही, वरन हर युगके बारेमें सच है। प्रवृत्तिमूलक और कर्म-काण्डात्मक साधनाका विरोध हर युगमें हुआ है। बाह्य आडम्बरका विरोध आत्माकी स्वतन्त्रता, चित्तशुद्धि और करुणा, इनमें समान रूपसे मिलती है। इनकी तुलनामें प्रवृत्तिवादी लेखक मध्यममार्ग अपनाते हैं। उनके अनुसार धनका मूल धर्म है, और धर्मसे ही ऐहिक सुख मिलते हैं। ये शरीरकी सार्थकता उपवास और धर्मसाधनामें मानते हैं। ये मुख्य रूपसे इन बातोपर बल देते हैं, (१) अनुरागका त्याग, (२) दर्शनकी मनो-भूमिमें धर्मका फल लगता है, (३) मनका सयम। परन्तु इनकी शैली जनसाधारणकी शैली है। कही-कही ये पारिभाषिक शब्दोका भी प्रयोग करते हैं। ऐहिक दोहा काव्यमें मुख्य तीन प्रवृत्तियाँ मिलती हैं – शृगार, वीर और नीति-धर्म। आध्यात्मिक दोहाकोशकी भाँति ऐहिक धारामें दोहाकोश-जैसी रचना, नहीं मिली। अभिव्यक्तिकी बेलाग उन्मुक्तता ही इसकी सबसे बडी विशेषता है। उनमें शास्त्रीयताका अभाव है। वे युग-मानसके यथार्थ भावको व्यक्त करते हैं। सक्षेपमें उग्र अध्यात्मवादियोकी ये विशेषताएँ उल्लेखनीय है—(१) ये बाह्य उपासना और पूजापाठके विरोधी हैं। (२) कोरा शास्त्रीयज्ञान, इनमें स्वीकार्य नही (३) अनु-भूतिपर अधिक बल देते हैं। अपभ्रश प्रबन्ध-काव्योंकी कथावस्तुका महत्त्व-पूर्ण अग है, विवरण। आलोच्य काव्यमे सभी तरहके विवरण विभिन्न शैलियोमें निबद्ध मिलते हैं। इसमें प्रकृति वर्णन भी, वस्तु वर्णनका एक अग है। दूसरा वस्तुवर्णन सामाजिक चित्रणसे सम्बन्ध रखता है। इसमें सबसे अधिक लोकप्रिय है देशवर्णन। यद्यपि यह परम्परामुक्त होता है। उसमें देशवर्णनके बाद नगर, ग्राम आदिका वर्णन होता है। गोकुल और शबर-बस्तियोका वर्णन भी अपभ्रश प्रबन्ध-काव्योके वस्तुवर्णनका आव-श्यक अग है। गोकुलवर्णनमें राम, वाद्य, गोधन आदिका विस्तारसे उल्लेख होता है। इसके अतिरिक्त नाम गिनानेकी भी प्रथा इन काव्योमें बहुत मिलती है। बाजारोका भी ये विस्तारसे वर्णन करते है। विवाहके रोचक विवरणोके लिए यह अपभ्रश प्रबन्ध-काव्य, विशेष रूपसे द्रष्टव्य है। प्राय सभी काव्योमें विवाहोकी सरसताका अकन हुआ है। इस प्रसगमें भोजन, बरात, वाद्य आदिका भी विस्तृत वर्णन मिलता है।

पुत्रोत्कण्ठा, दोहद और गर्भावस्थाके लक्षणोको आलोच्य काव्यमें प्रमुखता प्राप्त है। तीन प्रकारके स्वयंवरोका वर्णन इस काव्यमें है। इनका वर्णन तत्कालीन युगका रोमाण्टिक चित्र खीच देते है। कभी-कभी कन्याको प्राप्त करनेके लिए भयकर परीक्षण लिया जाता था। स्वयवरमें किसी कन्याको प्राप्त करनेका सबसे सुन्दर साधन था 'वीणा वादन'। युद्धवर्णन भी एक महत्त्वपूर्ण अग था, अपभ्रश कथावस्तुके अलकरणका। परन्तु इसमें कई रूढियोका अनुकरण अनिवार्य था, जैसे शस्त्रपूजा आदि। स्त्रियोकी गर्वोक्तियाँ इसमें विशेष महत्त्व रखती थी। दूतोका आदान-प्रदान और सन्धिके प्रस्ताव और कूटनैतिक दाँव-पेंच भी कम उल्लेखनीय नही। धनुषकी टकारकी विश्व-व्यापक प्रतिक्रिया भी ये कवि विशेष मनोयोगसे वर्णित करते हैं। गजवर्णन प्रचुर रूपमें मिलता है। राजनैतिक और सामरिक दृष्टिसे इस युगमें गजका विशेष महत्त्व था। सयोग श्रृगारके प्रसगमें जलक्रीडाका चित्रण प्राय मिलता है। इसी प्रसगमें स्त्रियोका भी वर्णन है। यह वर्णन त्रिविध है – प्रादेशिक-आधार, सामुद्रिक शास्त्र और चरित्र। तीसरा पात्रके माध्यमसे स्त्रियोकी व्यापक प्रतिक्रियाका अकन आलोच्य साहित्यमें उपलब्ध है। ये पात्र मुख्य कथाके अग तो नहीं होते, परन्तु उनसे कथाके विकासमें नाटकीय रोचकता आ जाती है। वर्णनात्मक शैली बहुत कम है। चाहे वस्तु हो या भाव दोनोकी अभि-व्यक्ति ये कवि प्राय उक्तिके माध्यमसे करते हैं।

भाग्यकी विडम्बनाके प्रति अपभ्रश कविका स्वर सबसे अधिक आक्रोशपूर्ण है। वह अनुभव करता है कि भाग्यकी विवशताओके आगे मनुष्यको सबसे अधिक नत होना पडता है। पुत्रीचिन्तापर जितनी आकुल पक्तियाँ इन प्रबन्ध-काव्योमें मिलती हैं उतनी शायद ही किसी दूसरे काव्यमें हो। इसका मुख्य कारण था मध्य युगके सामन्ती सस्कृतिमें नारी-की विषम स्थिति। कथाकी गतिशील धारामें कभी-कभी अपभ्रश प्रबन्ध कविके जीवन-दर्शनकी झलक दे देता है, उदाहरणके लिए भविसयत्त काव्यके अन्तमें जिस निष्कर्षपर पहुँचता है वह मानव जीवनका चिरन्तन सत्य है, हर युगके कविके स्वरमें यह सत्य मुखरित हुआ है। वह कहता है, हे सुन्दरी, तुम्हें जीवनके पिछले चढाव-उतारपर विषाद नही करना चाहिए क्योकि यदि मनुष्य जीवन है, तो उसमें सयोग-वियोग होगा ही। मैं मानता हूँ कि यौवनको जरारूपी डायन खा जाती है, परन्तु मनुष्यकी सबसे बडी हार इस बातमें है कि वह जिन्दगीसे ऊब जाये। संवाद-पटुता

अपभ्रश प्रबन्ध-काव्योकी स्वरूपगत विशेषता है। यह विशेषता हर प्रसग-में देखी जा सकती है। आचार्य शुक्लका यह आरोप कि भाषा-काव्योंमें वस्तुवर्णनकी निपुणता नही पायी जाती, उस विवेचनसे निरस्त हो जाता है।

वस्तुत अपभ्र श काव्योकी कथावस्तु, अलकृत रसवन्ती कथावस्तु है। रसोकी विविधता होते हुए भी उसका अन्त शान्त रसमें होता है। यदि इन काव्योकी परिसमाप्ति इस दार्शनिक अनुरोधके साथ न होती, तो उनमें व्याप्त जीवनरस और लौकिकता आजके बुद्धिवादी और यथार्थ-वादी साहित्य-मीमासकको मुग्ध बना लेती। भले ही इनमें प्रधानता शान्त की हो, परन्तु समूची कथा व्याप्त शृगारसे होती है। प्रेमव्यजना और रूपचित्रणमें अपभ्र श-कवि शास्त्रीय परम्पराओ और लोक रीतियोका अनुकरण करता है। सयोग और वियोगके कारणोकी उद्भावना इन कवियोने स्वतन्त्र रूपसे की है। साधारणतया प्रेमके ये रूप इन काव्योमे उपलब्ध है – (१) विवाहके लिए प्रेम, (२) विवाहके बाद प्रेम, (३) असामाजिक प्रेम, (४) रोमाण्टिक प्रेम और (५) विषय प्रेम। इनमें रोमाण्टिक प्रेमका जो बाहुल्य है, शायद उसका कारण है सामन्तवादी व्यवस्थामें बहुपत्नीप्रथाका होना, और उसके लिए धर्मकी महिमाका साधन मानना। प्रेमका चाहे जो रूप है, पर उसके दु खद अन्तको यह सुखद रूपमे अकित करते हैं। सभोगकी तुलनामें ये कवि वियोगका चित्रण व्यापकतासे करते है। फिर भी कामक्रीडा और वियोग वर्णनकी प्रमुखता मानी जा सकती है। यह वर्णन साहित्यिक होता है, नायकोके दैनिक जीवनसे इसका सम्बन्ध नही। इसीलिए अन्तमे वह कह देता है 'ताव नवनेह निरन्तर काल हो गय वरह संवच्छर'। पूर्वरागका बहुत बढा-चढा रूप इन काव्योमें मिलता है। कामदशाओका उल्लेख, पूर्वरागके अन्तर्गत ही हुआ है। विप्रलम्भके वर्णनमें कामदशाओका वर्णन आलोच्य साहित्यमें नही है। विरहकी दशाएँ भी देखनेमे नही आयी। पूर्वराग-जन्य वियोग कभी-कभी भयकर रूप धारण कर लेता है। प्रेमी या प्रेमिका अपने-आपको मरने-मारनेपर उतारू हो जाते है। कामदशा पूर्वरागकी अतृप्त आकाक्षाओका ही उग्र रूप है। प्रेमकी इस दशामें नायक और नायिका दोनो प्रयत्न करते है। फिर कवियोने कामदशाओके वर्णनमें शास्त्रीय

---

१ भाषा-काव्यमें आचार्य शुक्ल अपभ्रश साहित्यको भी गिनते थे।

क्रमका बहुत कम निर्वाह किया है। भरत मुनि कामदशाओको वियोगके अन्तर्गत मानते हैं और ये दस हैं। अपभ्रंश कवियोने अरुचि नामक एक और दशा मानी है, जो भरतमुनिने स्वीकार नही की। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ इस अव्यवस्थासे परिचित थे इसलिए उन्होने पूर्वराग-जनित वियोग और प्रवासमूलक वियोगकी दशाओका वर्णन ही अलग-अलग किया है। मान विप्रलम्भ भी इनमे कम है, वस्तुत वह संस्कृत नाटकोमें अधिक लोकप्रिय रहा। वियोग-जन्य कृशताका चित्रण हम कवियोने उत्प्रेक्षामें किया है, अतिशयोक्तिमे नही। विशेष बात यह उल्लेखनीय है कि वियोगके वर्णनमे ऋतुवर्णन बहुत कम है। करुण विप्रलम्भका एक भी उदाहरण अभीतक आलोच्य चरित-काव्योमें नही मिला। अपभ्रंशके प्रबन्ध और मुक्तक काव्यधाराके बीच विप्रलम्भकी जो शैली प्रचलित की उसका नमूना सुरक्षित है सन्देशरासकमें। इसमें मुख्य बातें हैं, (१) शारीरिककृशता और अनुभावोका बढा-चढाकर वर्णन, (२) ऊहात्मक और अतिशयोक्तिपूर्ण कथन, (३) रूपचित्रण, (४) अलंकृत शैली, (५) उद्दीपन रूपमें प्रकृतिका वर्णन, (६) प्राकृतिक वस्तुओ और व्यापारोका उल्लेख, (७) दु खके नाना कारणोका उल्लेख। वीर रसकी अभिव्यक्तिके प्रमुख उपकरण हैं – गर्वोक्ति, अभियान, शस्त्रपूजा, चढाई, द्वन्द्व, दैवी आयुधोका प्रयोग। युद्धके प्रमुख कारण थे – नारी-अपहरण, स्वयवर, दूसरोके राज्यको हडपनेका प्रयास, दिग्विजय, अथवा बन्दी कन्याओका उद्धार। परन्तु यह आवश्यक नही था कि सभी काव्योमें युद्ध हो ही, पउम सिरी चरिउ और जसहर चरिउ इसके अपवाद है और भी चरिउ काव्य इस श्रेणीमें आते हैं। रौद्र रस प्राय युद्धके प्रसगमे आता है। इसी प्रकार भयानक रस भी युद्ध और उपसर्गोंके समय। वीभत्स रसका प्रयोग बहुधा मिलता है विनाशके दृश्याकन और विरक्ति उत्पन्न करनेके लिए। करुण अथवा करुणा भाव इन चरित-काव्योमें सबसे अधिक है। ये कवि शृंगारको करुणका अग बना देते हैं। विशेष महत्त्व रखता है वात्सल्य रस। इन काव्योमें इसका जैसा परिपाक देखनेको मिलता है, वैसा इसके पहले नही मिलता। भविसयत्त कहामें तीन चौथे अशमें वात्सल्यके दोनो पक्षोकी अभिव्यक्ति है। कृष्णकी बाललीलाओके प्रसगमें भी इसका परिपाक द्रष्टव्य है। हास्य रसकी योजना नहीके बराबर है। नारद-जैसे इने-गिने पात्रोके वर्णनमें अवश्य वह दीख पडता है, पर उससे रस-अवस्था उत्पन्न नही होती। हास्यकी अभिव्यंजना, नाटकमें ही सम्भव थी, विदूषकके

माध्यमसे। प्रबन्ध काव्योमें इसके लिए जगह नही थी। इसीलिए साहित्य-दर्पणकारको लिखना पडा कि हास्यके आलम्बनका नायकके रूपमें वर्णन किसी काव्यमें नही होता। केवल आक्षेपसे उसकी प्रतीति सम्भव है। शान्त रसकी स्थिति प्रारम्भमे ही स्पष्ट की जा चुकी है। पर यह आवश्यक नही, लघु या महान् दोनो इसके आश्रय हो सकते हैं। शान्त रस वही समझना चाहिए जहाँ फल-कामनासे हीन सच्ची विरक्ति हो। अपभ्रंश-कवि भक्तिको रस मानते हैं। पुष्पदन्तने लिखा है कि मेरी कविता भक्ति रससे समुच्छलित है। पुष्पदन्त ही नही समूचे आध्यात्मिक अपभ्रंश चरित-काव्य भक्तिरसके परिपाकके लिए ही हैं। यह बात अवश्य है कि भक्तिका आलम्बन भिन्न मतोंमें अलग-अलग है, परन्तु करुणा, आत्मा-परमात्माकी एकता, और लोकहित भावनाका समावेश सबमें मिलता हैं। अपभ्रंश कवि तुलसीकी भाँति विरतिमूलक भक्तिमें अधिक आस्था रखते हैं।

अपभ्रंश कथा एक अलकृत रस कथा है, यह कहा जा चुका है। अपभ्रंश कविता सस्कृतके अलकार सम्प्रदाय और रसवादी सम्प्रदायोकी समकालीन है, अत वह दोनोंसे प्रभावित है। रसकी भाँति अलकारोका विकास धीरे-धीरे हुआ। भरतमुनिने कुल चार—उपमा, रूपक, दीपक और यमक—अलकार माने है, परन्तु आलोच्यकाल तक उनकी सख्या बहुत बढ गयी थी। सादृश्य या असादृश्यमूलक अलकार इसमें सर्वाधिक है। आध्यात्मिक और अमूर्त उपमानोका भी ये कवि प्रयोग करते है। अपभ्रंश मुक्तक काव्यकी पूर्वी शाखामें उलटवासियाँ भी उपलब्ध हैं। इसके मूलमें होता है विरोधाभास अलकार, साकेतिक अर्थ ग्रहण कर लेनेपर उसका विरोध हट जाता हैं। पछाँऊ अपभ्रंश चरित-काव्योमे भी प्रतीक रूपमें यह शैली उपलब्ध है, अत उसे पूर्वी अपभ्रंश काव्यकी विशेपता मानना ठीक नहीं।

छन्दमें यह भाषा और इसका काव्य बेजोड है। पुरानी छन्द परम्पराको इन कवियोने सँवारा ही नही, वरन् उसमें नये प्रयोग भी किये। अपभ्रंश छन्दपर कवि स्वयभूकी पुस्तक उपलब्ध है, इसलिए अपभ्रंश छन्दका विचार उन्हींसे प्रारम्भ होता है, यद्यपि उनके काफी पहले छन्दो पर चर्चा प्रारम्भ हो चुकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृत छन्दोंके समानान्तर अपभ्रंश छन्दोका विचार प्रारम्भ हो चुका था। स्वयम्भूछन्दके बारेमें डॉ० वेलणकरने यह प्रश्न उठाया है कि उसके लेखक कवि स्वयभू

नही, पर यह निराधार है। हमने विस्तारसे इसका विचार किया है। अन्त. और बाह्य प्रमाणोसे कवि स्वयभू ही इसके लेखक सिद्ध होते हैं। कवि होनेके नाते अपभ्रश कविके दो काम थे। लोक काव्य शैलियो पर पूर्ण अधिकार करना, और दूसरे शास्त्रीय शैलियोके सन्दर्भमें उन्हें काव्यका माध्यम बनाना। इससे उन्हें छन्दोका साधिकार ज्ञान रखना आवश्यक था। इसी कारण भाषा कवि छन्दका विचार करता आया है। स्वयभूका यह उल्लेख (एक छन्दशास्त्रीके नाते) काफी महत्त्व रखता है कि काव्यमें (अपभ्रश काव्यमे) सगीत, वाद्य और अभिनयसे युक्त रचनाएँ होती है। प्रश्न है कि यहाँ काव्यसे क्या अभिप्राय है—नाटक या काव्य। मेरी धारणामें यहाँ काव्य ही लिया जाना चाहिए, क्योकि, प्राकृत और विशेष रूपसे अपभ्रशमे नाटकका अस्तित्व ही नही है। प्राकृतका कुछ तो प्रयोग सम्भव भी है परन्तु अपभ्रशका इस रूपमें भी नही। विषयकी समानता होते हुए भी अपभ्रश छन्दशास्त्रियोके चिन्तनमें एकरूपता नही। कहना कठिन है कि प्रारम्भमें अपभ्रश छन्दका क्या स्वरूप था, परन्तु अधिकतर सम्भावना यही है कि इसमें मात्रा और अक्षरवृत्त रहे होगे। पण्डितोने कई आधारोपर अपभ्रश छन्दोका विचार किया है? कुछ लोग यह भी मानते हैं कि भिन्न-भिन्न आचार्योंने भिन्न-भिन्न धाराओके छन्दोका विचार किया है। परन्तु इस सम्बन्धमें किसी भी एक तरहका विचार एकागी ही होगा। हाँ, एक वात अवश्य इससे ध्वनित होती है कि अपभ्रंश कवि छन्दके प्रयोगके वारेमें बहुत सजग रहे। लोक-भाषाकी गतिशीलता-को बनाये रखनेके लिए यह स्वाभाविक भी था। गणवृत्तोके प्रयोगमें भी, अपभ्रश काव्यकी प्रवृत्ति सुरक्षित रहती है। प्रयोगके आधारपर भी अपभ्रश छन्दोका विभाजन किया जाता है। इस सम्वन्धमें ध्यान देने योग्य यही तथ्य है कि अपभ्रशमे छन्द व्यक्ति नही जाति है। दूसरे प्रयोग-भेदसे एक ही छन्दका दूसरा नाम सम्भव हैं। तीसरे अपभ्रश छन्दमें यति सगीतात्मक होती है। कडवक रचनामें आठ यमक अथवा सोलह पंक्तियाँ होनी चाहिए। उसके वाद घत्ता देनेका नियम है। कडवकके निर्माणमें पक्तियो या यमकोकी निश्चित सख्याका विधान है, किसी वर्णवृत्तका नही। अत प्रारम्भसे ही उसमें विविध वृत्तोका प्रयोग होता रहा। घत्ता-रूपमें भी कई छन्दोका प्रयोग होता आया है। विद्वानोने कड़वकके छन्दो-को निश्चित करनेका प्रयास किया था, वह वस्तुत उचित नही। घत्ता-का दूसरा नाम ध्रुवक या ध्रुवा भी है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने

छड्डणिआको ही घत्ता मान लिया है, ऐसा उन्होने प्राकृत पैंगलके आधार-पर स्वीकार किया है। आचार्य हेमचन्द्रने अपने छन्दोनुशासनमे घत्ताके तीन भेद स्वीकार किये हैं—षट्पदी, चतुष्पदी और दुवई। छड्डणिआकी लोकप्रियताके कारण ही शायद पिंगलकारने उसे घत्ता मान लिया, परन्तु इसे प्रामाणिक मानना ठीक नही। स्वयभू कविने कहा है कि चतुर्मुखने छन्दनिका, द्विपदी और ध्रुवोसे जडित पद्धडियाका निर्माण किया। परन्तु जैसा कि कहा चुका है, घत्ताके रूपमें दूसरे छन्दोका प्रयोग आता रहा है। प्राकृत-पैंगलम् एक सग्रहात्मक ग्रन्थ है, अत उसे अन्तिम रूपसे प्रामाणिक नही माना जा सकता। इसके अतिरिक्त कुछ छन्द देशोके नाम-पर भी हैं, जैसे आभीर, सोरठा और मरहट्ठ। वस्तुत अपभ्रंश छन्दोके आलोचक अपभ्रंश छन्दके विकासके मूलमें दुवईको मानते है। आगे चल-कर मात्रा, गण, यमक और अनुप्रासके कारण उसमें कई भेद-प्रभेद हुए। विषय और प्रयोग-भेदसे अपभ्रंश छन्दका नाम बदल सकता है। लय और गीततत्त्वके समावेशके कारण उसमे अन्त्यानुप्रास रखना अनिवार्य था। सस्कृतमें अन्त्यानुप्रास पहले नही था। अपभ्रंशके बाद ही अपभ्रंशके माध्यमसे वह आया। गीत ही नही गीत नृत्यका भी समावेश आलोच्य काव्यके छन्दमें है।

प्रकृति-चित्रण, प्राचीन प्रबन्ध-काव्योमें वस्तुत प्राकृतिक दृश्य काव्य-के रूपमें स्वीकृत थे। वह वस्तुवर्णनका एक अग थे। आचार्य शुक्लने प्रकृति-चित्रणमें अर्थग्रहणकी तुलनामें बिम्बग्रहणपर विशेष बल दिया है। उन्होने इस बातके लिए भी दुःख प्रकट किया है कि सस्कृत साहित्यमें आलम्बन रूपमें प्रकृति-चित्रण मिलता है, हिन्दीमें नही। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सस्कृतमें प्रकृति-चित्रण परिस्थिति योजनाके रूपमें है। उद्दीपन रूपमें प्रकृति-चित्रणका नाटकोमें ही महत्त्व था। लेकिन दोनो धाराओके सम्मिलनमे यही प्रवृत्ति प्रबन्ध-महाकाव्योमें भी आयी। शास्त्रीय दृष्टिमे आलम्बन रूपमें प्रकृति-चित्रण सम्भव नही। उमे रसाभास माना जा सकता है रस नही। हिन्दी आलोचकोंमें प्रकृति-चित्रणको विधाओंको लेकर बहुत मतभेद है। प्रकृति-चित्रणके विश्लेषण अभीतक ठोस तथ्यो-पर बहुत कम हुए है। हमारी धारणा है कि वस्तुत प्रकृति-चित्रणके दो भेद है, शुद्ध और आरोपित। इसमें शुद्धके दो भेद है – आरोपित अथवा यथातथ्य रूपमें। सभी विधाओमें आलोच्य साहित्यमें प्रकृति-चित्रण मिलता है। अलकृत शैलीमें प्रकृति-चित्रण इस साहित्यमें सबसे अधिक

है। मानवीकरण और प्रकृतिके व्यापारोंपर, मानवी भावनाओंका आरोप करनेसे भी, अपभ्रंश प्रबन्ध कवि नही चूकते। दो ऋतुओंके सन्धिकालका वर्णन भी आलोच्य साहित्यमें काफी लोकप्रिय है। इसके अतिरिक्त परि-गणन रूपमे प्रकृतिका चित्रण भी उपलब्ध है। प्रकृतिवर्णनके ऐसे प्रसंग विशेष रूपसे भावाकुल हो उठे हैं जब कवि किसी भाव दशाके आवेगमें प्रकृतिको अपनी भावनामें रग डालता है। तब समूची प्रकृतिका उसके अन्तरसे तादात्म्य हो जाता है और प्रकृति उसके विद्रोही स्वरमें अपना स्वर मिला देती है। इसमे प्रकृतिके इस सहज मानवी और उग्ररूपका चित्रण प्राचीन काव्यमें नही मिलता। दो प्रकारके प्रभावोंसे और यह प्रकृति-चित्रण प्रभावित है। सामन्ती प्रभाव, इसके कारण प्रकृतिमें युद्ध रूपककी कल्पना कवि करता है, दूसरे काव्यमें पूर्व वर्णनके प्रभावसे भी कवि उसीके अनुकरणपर प्रकृतिका वर्णन करता है। कुल मिलाकर आलोच्य साहित्यमें प्रकृति-चित्रण समृद्ध, सुरुचिपूर्ण और काव्योचित है, यद्यपि कही-कही रूढियोंका परिपालन भी उसमें है।

आलोच्य साहित्यमें भारतीय समाज और संस्कृतिका जो चित्र अकित है वह किस युगका है कहना कठिन है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारा समाज गतिशील रहा, परन्तु साहित्यके मानदण्ड स्थिर रहे? अध्यात्मिक मूल्योंकी परिवर्तनशीलताकी झलक तो प्राचीन साहित्यमें असदिग्ध रूपसे देखी जा सकती है पर भौतिक अथवा सामाजिक मूल्योंके बारेमें बहुत कम प्रत्यक्ष जानकारी मिलती है। जो मिलती है वह इतनी रूढ है कि वह किसी भी युगपर आरोपित की जा सकती है। उदाहरणके लिए, अपभ्रंशके कवियोंने कलियुगका जो भविष्यकालीन चित्र खीचा है। वह तुलसीदासके कलियुगी चित्रसे बहुत कुछ मिलता है। मध्ययुगमें हमारे सामाजिक मूल्य एकदम स्थिर हो गये और उनकी इस स्थिरताने अपभ्रंश युगमें ही अपनी सीमाएँ निश्चित कर ली थी। दूसरे समकालीन संस्कृत साहित्यमें अकित सामाजिक जीवनसे इस साहित्यमें अकित जीवनमें भिन्नता है। यह इसलिए कि संस्कृत साहित्य हमेशा राज्यकी छायामें लिखा गया इसलिए उसमें राजन्य सस्कृतिकी विशेषता अधिक है। इसके विपरीत अपभ्रंश साहित्य धर्मके आश्रय और आध्यात्मिक प्रेरणाओंसे लिखा गया। अत उसमें क्षणिक समाज और उनके रीति-रिवाजोंका अकन है। इस दृष्टिसे समकालीन दो सस्कृतियोंकी तुलनामें इसका विशेष महत्त्व है।

भारतीय सस्कृतिकी पहली रेखा है वर्ण-व्यवस्था। नाना जातियाँ उसकी ही अवान्तर उपज हैं। गीताकारने कहा था कि चातुर्वर्ण्यकी रचना भगवान्ने की। परन्तु १०वी सदीके अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त कहते हैं कि भगवान् ऋषभनाथने लुहार, कुम्हार, तेली, चमार आदि की रचना की। ऋषभनाथ और पुष्पदन्तके बीच लाखो वर्षोंका अन्तर है। अत पुष्पदन्तके कथनका यही अर्थ है कि उनके बहुत पहले जातियाँ अस्तित्वमें आ चुकी थी। इन जातियोकी इकाई थी परिवार। अधिकतर परिवार सम्मिलित थे। परिवारके विभिन्न सदस्योमें शीतयुद्ध होता रहता था। कवि स्वयभूका तो कहना है कि सास और बहू दोनो का वैर अनादिसिद्ध है। नारीका चरित्र यहाँ भी सन्देहकी वस्तु था। बहुविवाहकी खुली छूट थी। राजन्यवर्ग तलवारके बलपर कई स्त्रियोंसे विवाह कर सकता था, और श्रेष्ठिवर्ग धनके बलपर। सापत्न्यभावके कितने ही तीखे दृश्य इसीलिए इस साहित्यमें अकित हैं। बहुत-सी सुन्दर पत्नियाँ होना भी पुण्यका काम समझा जाता था। गृह-सस्कारोमें चूडाकर्म आदिका उल्लेख है। बच्चोंको भी गहना पहनानेकी प्रथा थी। इन्द्र-द्वारा सभी तीर्थंकरोके कान छिदवाये गये हैं। विवाहकी धूम-धाम पढते ही बनती है। सभी तरहके विवाह प्रचलित थे। साहित्यमें यह युग अर्थकी निन्दाका युग है। साधारण जनोमें ग़रीबी और अभाव थे। राजन्य और वैश्य परिवार सम्पन्न थे। राजनैतिक दृष्टिसे वह राजतन्त्रका युग था। इस युगमें राजाके आदर्श बहुत ऊँचे थे पर उस ऊँचाई तक पहुँचनेका प्रयास कभी नही हुआ। आलोच्य साहित्यमें वर्णित युद्ध, राजपूतयुगके युद्धोका सही चित्र हैं। वही कन्या-अपहरण, व्यक्तिगत शक्तिका प्रदर्शन आदि। कूटनीति और कूटमन्त्रणाओका बडा महत्त्व इस साहित्यमें है। परन्तु ये वर्णन बहुत कुछ प्राचीन कूटनीतिके ग्रन्थोपर आधारित हैं। राज्यतन्त्र होते हुए भी राजाके अधिकार कई बातोमें सीमित थे। भविसयत्त कहामें राजाको नागरिकोकी सलाह माननी पडती है। इसके अतिरिक्त, आटविक राज्यो और भील राज्योका भी उल्लेख, इस साहित्यमें है।

आलोच्य साहित्यमें वर्णित शिक्षा-दीक्षाका सम्बन्ध सामन्त या राज समाजसे है। राजकुमार राजभवनोमें ही पढते थे। अत राजगुरुका पद महत्त्वपूर्ण हो गया था। राजन्यवर्ग शस्त्रविद्यामें विशेष रूपसे पारगत होता था। स्त्रियोंको कला छन्द आदिके साथ अपभ्रशकाव्यका भी अध्ययन कराया जाता था। गाँवमें उपाध्याय शिक्षकका काम करता था। वट वृक्षके

रूपकसे यह तथ्य भलीभाँति प्रमाणित है कि बारहखडीकी शैलीका आविष्कार लोकभाषाके प्रशिक्षणमें स्वयभूके बहुत पहले हो चुका था। समाज उन सभी कुरीतियो और रिवाजमें फँस चुका था कि जो मध्ययुगके सास्कृतिक जीवनमे दीख पडती हैं। आमोद-प्रमोदके नामपर राजसमाजमें जलक्रीडा, वनक्रीडा, संगीत, नृत्य-प्रेक्षण आदिकी भरमार थी। साधारण जनतामें चर्चरी, रासलीला, दोला क्रीडा आदि काफी लोकप्रिय थी। विवाह में चुहुलबाज़ी खूब चलती थी। नटोका प्रदर्शन होता था। सुन्दर लडकियोको रिझानेके लिए वीणा जादूका काम करती थी। जुआ इस युगका प्रमुख व्यसन था। मल्लयुद्ध भी विशेष पसन्द किया जाता था। लोकाचार और अन्धविश्वास भी अपनी जगह थे। शकुन-अपशकुनका भी बडा विचार किया जाता था। हिंसक पूजा-विधान भी प्रचलित थे। तन्त्र-मन्त्र की धाक थी। धीरे-धीरे भक्तिकी धाराका विकास हो रहा था। साम्प्रदायिक संघर्षके बाद भी सहिष्णुताका भाव उदय हो रहा था। आर्थिक स्थितिके परिचायक तथ्यो और आँकडोकी इस साहित्यसे अपेक्षा करना व्यर्थ है। फिर भी गरीबी थी, और सबसे बडे अचरजकी बात तो यह है कि चीज़ोमें मिलावट उस युगमें भी विद्यमान थी। दार्शनिक चिन्ताओसे आलोच्य साहित्यकी प्रबन्ध कृतियाँ भरपूर हैं, उनके निर्माणकी मुख्य प्रेरणाएँ ही ये हैं। पशुबलि, वैदिक कर्मकाण्ड और ब्राह्मणोकी आलोचना इसमें सबसे अधिक है। इसके अतिरिक्त यदि किसीका खण्डन मुख्य रूपसे मिलता है तो वह है, मीमासा, चार्वाक, क्षणिकवाद और साख्यदर्शनका। दर्शन और धर्मके क्षेत्रमें अग्रणी होनेसे, ब्राह्मणोका विरोध स्वाभाविक था। परन्तु इसे सामाजिक क्रान्तिके रूपमें न लेकर परम्परागत विरोधके रूपमें ही समझना चाहिए। जैन धर्मके व्यावहारिक रूपका भी वर्णन साहित्यमें है। शैवदर्शनसे अन्तर्विरोध इस साहित्यके निर्माणकी बहुत-बडी प्रेरणा है। धर्म साधनामें यह युग आडम्बरोमें विश्वास करता था फलत. इस युगमें अध्यात्मवादी जैन धर्ममें भी उसकी झलक दिखाई देगी। जैसे पचकल्याणक प्रतिष्ठा इस युगमें विशेष महत्त्व रखती थी। कामनाओकी पूर्तिके लिए इस युगमें लौकिक देवी-देवताओकी उपासना बहुत प्रचलित थी। भयमूलक उपासना अधिक थी। पात्रोको धार्मिकताके रगमें रँगनेका मुख्य उद्देश्य पात्रोंके चरित्रमें नैतिक क्रान्ति लाना था। इस प्रकार आलोच्य साहित्य अपने भीतर शास्त्र और लोक दोनो की परम्पराएँ निभाकर चलता है। इसलिए एक ओर जहाँ उसमें पुरानी

काव्य विधाओंका प्रभाव है, वही नयी भाषाओं और काव्यविधाओंके पूर्व रूप भी। इस साहित्यके रचयिताओंका यह श्रेय भारतीय साहित्यके इतिहासमें अविस्मरणीय होगा कि उन्होंने युगकी चिन्ता, भाषा काव्य रूप और नाना साधनाओंका एक धूमिल चित्र हमें दिया। भारतीय साहित्यका उद्गम आदर्शकी किस गंगोत्रीसे हुआ अथवा भावनाकी किस आकुलतासे उसका यह आवेग निकल पड़ा यह चाहे हम न जानें, पर यह हम जानते हैं कि वह जो अपनी सहस्र धाराओंमें बहा, वह इसी अपभ्रंशके धरातलसे। सचमुच भारतीय साहित्यधाराके नैरन्तर्य और नाना प्रवाहोंको समझनेका सूत्र अपभ्रंश साहित्यके हाथमें है।



प्रकीर्णक

१. आख्यायिका कथा और चरित काव्य

भामहने प्रकृत अनुकूल श्रव्य शब्दार्थवाले पदोसे युक्त गद्यमें लिखी गयी कथाको आख्यायिका कहा है, पर उसमे उदात्त अर्थ हो, उच्छ्वास हो और अपना वृत्त, नायक स्वय कहे। भावी अर्थका सकेत वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दोमें कहा जाये। उसमें कविका अभिप्रायकृत कथानक भी हो, कन्यापहरण, सग्राम, विप्रलम्भ और अभ्युदयसे सहित हो। (का० अ० १, २५, २६, २७) कथाका लक्षण भामहके अनुसार यह है—उसमे वक्त्र, अपरवक्त्र और उच्छ्वास नही होते। सस्कृत हो, सुसस्कृत चेष्टाएँ हो, गौण रूपसे अपभ्रश कथा हो। दण्डी गद्यके दो भेद करते हैं—आख्यायिका और कथा। आख्यायिका वह है जो नायक-द्वारा कही जाये। कथा वह है जो नायक या अन्य-द्वारा कही जाये। इस नियमका भी सर्वत्र पालन नही होता और अन्य भी आख्यायिका कह सकता है। वक्त्र या अपरवक्त्र छन्द, और उच्छ्वासोमें भाग करना आख्यायिकाका चिह्न हैं, तो कथामे भी प्रसगसे वक्त्र, अपरवक्त्र आर्याके समान क्यो न रहे। लम्भ आदि भेद उसमे होते ही हैं, तो उच्छ्वास भी हो सकता है केवल नाम दो है। आख्यानकी अन्य जातियाँ भी इसीके अन्तर्गत हैं। कन्यापहरण आदि इसमें भी होते है। ये विशेष गुण नही। (का० आ० २३-३०) रुद्रटके अनुसार कथाकी परिभाषा यह होगी—श्लोकोमें पहले इष्ट देव-गुरुको नमस्कार करके, सक्षेपमें कुल-परिचय कहकर सरल गद्यमें कथा-वस्तुकी रचना करे। वर्णन भी हो फिर उसमें कथोत्तर भी हो। यह सस्कृतमें करें या अगद्य (पद्य) में भी करें। इन तीन कथनोसे कथाकी परिभाषाके सम्बन्धमें निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं।

१ भामह दण्डीका मत एक है, भेद केवल इतना है कि दण्डी आख्या-यिकाका विधान कथामें भी लगाना चाहते है।

२ भामह अपभ्रशमें कथा मानते हैं पर गद्यमें लिखी अपभ्रश कथा एक भी नहीं मिली, होनी चाहिए।

३ उद्भटने यही बात ध्यानमें रखकर दूसरी भाषाओंमें गद्यका नियम हटा दिया।

४. रुद्रटकी परिभाषा संस्कृत और प्राकृत अपभ्रंश कथाओंको लक्ष्यमें रखकर बनायी गयी है।

५ चरित काव्यके लक्षणके विषयमें सभी मौन हैं लेकिन बाण हर्ष-चरित्रको आख्यायिका कहता है, और कादम्बरीको कथा। इसलिए चरित्र और आख्यायिकामें स्वरूप और विधानकी दृष्टिसे भेद नहीं जान पडता है।

६. हर्षचरित्रमें समकालीन ऐतिहासिक राजा हर्षका जीवन कथा-वस्तु बनता है। अपभ्रंश चरित्र काव्योंमें ऐसा एक भी उदाहरण अभी तक देखनेमें नहीं आया। सबकी कथावस्तु पौराणिक है अत पौराणिक कथावस्तुपर आधारित कथा भी चरित्र कहला सकती है। सम्भव है इन्हींसे बाणको 'हर्षचरित्र' नाम सूझा हो।

अपभ्रंश लेखक चरित और कथामें भेद नहीं करते। वास्तविक भेद है भी नहीं। दण्डीका दशकुमारचरित्र भी इसका प्रमाण है। तुलसीदास भी अपनी रचनाको रामचरित भी कहते हैं और रामकथा भी। कालिदास का रघुवंश भी चरित्रकाव्य ही है। वंश उसकी पौराणिकताको साफ बता रहा है। इतने विवेचनका निष्कर्ष यही है कि कथा, आख्यायिका और चरित्रके बीच स्थायी भेदक रेखा खींचना असम्भव है। थोडा-बहुत अन्तर होते हुए भी वह कथा-साहित्य ही है। विषयको लेकर कथा-साहित्यके भेद किये जाते हैं। जैसे धर्मकथा, काव्यकथा, लोककथा आदि।

२ हेमचन्द्र और कथाकाव्य एवं रासक

हेमचन्द्रने काव्यानुशासन (अध्याय ८) में काव्यके पांच भेद किये है—महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू और अनिबद्ध। वह गद्य और पद्यके आधारपर काव्यका विभाजन नहीं करते। वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश महाकाव्यके अतिरिक्त, ग्राम्य भाषाके महाकाव्योंका भी उल्लेख करते हैं, ऐसे एक 'भीमकाव्य'का नाम भी उन्होंने दिया है। इस ग्राम्य-भाषाको उन्होंने ग्राम्य अपभ्रंश कहा है। निश्चय ही यह अपभ्रंशेतर नयी भाषाका काव्य रहा होगा। बाणभट्टकी तरह, हेमचन्द्र भी कथा और आख्यायिका भेद स्वीकार करते हैं। परन्तु उनकी मान्यतामें अन्तर है। बाणभट्टके मतमें कल्पित कहानी कथा है और ऐतिहासिक आधारपर चलनेवाली कथा आख्यायिका है। जैसे कादम्बरी और हर्षचरित। हेमचन्द्रके अनुसार, आख्यायिका वह है जो संस्कृत गद्य में हो, ख्यातवृत्त

हो, नायक स्वय वक्ता हो, और उच्छ्वासोमे लिखी हो। कथा वह है जो किसी भी भाषामे लिखी जा सकती है, उसके लिए गद्य-पद्यका बन्धन नही है। इस प्रकार हेमचन्द्रने बाणभट्टके गद्यके बन्धनको हटाकर कथाको इतनी व्यापकता दे दी कि उसमें सभी कथाकाव्य खप गये। गद्य कथाका उदाहरण कादम्बरी है, और पद्य कथाका 'लीलावई कहा'। अपभ्रंशके 'चरिउ' काव्य भी इसीके अन्तर्गत आते है। हेमचन्द्रको 'गद्य' का नियम इसलिए हटाना पडा, क्योकि अपभ्रंशमें गद्यका अभाव था। कथाके सिवाय, उन्होने और भी उपभेद किये है, जैसे, आख्यान, निदर्शन, प्रवल्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा और उपकथा। आख्यान, प्रबन्धकाव्यके बीच आनेवाला वह भाग है जो गेय और अभिनेय होता है, दूसरे पात्रके बोधके लिए इसका प्रयोग होता है, जैसे नलोपाख्यान। पशु-पक्षियोके माध्यमसे अच्छे-बुरेका बोध देनेवाली कथाका निदर्शन है—पचतन्त्र। प्रवल्लिकामें एक विषयपर विवाद होता है। भूतभाषा और महाराष्ट्रीमे लिखी गयी लघुकथा मतल्लिका है। इसमें पुरोहित, अमात्य और तापसका मजाक उडाया जाता है। मणिकुल्या वस्तुका उद्घाटन करती है। पुरुषार्थसिद्धिके लिए कही गयी वर्णनात्मक कथा परिकथा है। इतिवृत्तके खण्डपर आधारित कथा खण्डकथा है। समस्त फलवाली कथा सकलकथा है, और एक कथापर चलनेवाली कथा, उपकथा कहलाती है।

रासकके उन्होने तीन भेद किये है – कोमल, उद्धत और मिश्र। इस पर से डॉ० द्विवेदीका अनुमान है कि पृथ्वीराज रासो चरितकाव्य तो है ही वह रासो या रासक काव्य भी है। (हि० आ० का० ५९) वह सन्देश रासकको भी गेय मानते हैं। इसमें सन्देह नही कि रासक काव्य गेय थे। पर छन्दोकी विविधताके कारण इन्हें गेय माननेमें थोडी अडचन है। उपदेश रसायनरासमें यह बात नही।

३ पाशुपत मत

इसके अनुसार पांच पदार्थ हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। कार्य वह जो स्वाधीन नही होता जैसे जीव और जड। ईश्वरके अधीन होनेसे वे कार्य हैं। जीवोंकी गुणविद्या दो प्रकार की है—बोध और अबोध। बोधका नाम चित्त है। पशुत्वको प्राप्त करनेवाली विद्या (धर्माधर्मरूप) अबोध कहलाती है। चेतनके अधीन अचेतन पदार्थ कला

कहलाता है। पाश बन्धनको कहते है। जो उससे बँधा हो वह पशु कहलाता है। जीव ही पशु है। शरीरेन्द्रियसहित जीव साजन कहलाता है, उससे रहित निरजन। जगत्की रचनाका कारण महेश्वर ही शिव है। वह सहार और अनुग्रहका हेतु है। वह ज्ञान और प्रभुशक्तिसे युक्त है। चित्तके द्वारा आत्मा और ईश्वरके सम्बन्धका नाम योग है। क्रियात्मक योगमें जप, ध्यान आदिकी मुख्यता है। विधि योग साधक व्यापारको कहते हैं। मुख्यविधि कहलाती है चर्या। हसित, जीव नृत्य, हुड, हुङ्कार, नमस्कार तथा जपके भेदसे उपहार (नियम) छह प्रकारका है। भस्म-स्नान, भस्मशयन, जप, प्रदक्षिणा और उपहार ये पाँच व्रत हैं।

द्वारके कई भेद हैं जैसे जागते हुए सोनेका बहाना (काथन), वातरोगीकी चेष्टा करना (स्पन्दन), लँगडाकर चलना (मन्दन), अवि-वेकीकी तरह निन्द्य काम करना (अवितत्करण), सुन्दरीको देखकर कामीकी चेष्टा करना (शृगारण) इत्यादि व्रत और द्वार ये चर्याके दो भेद हैं।

दु खान्त दु खोके आत्यन्तिक छुटकारेको कहते है। अनात्मक दु खान्त में केवल दु खका अन्त होता है। सात्मकमें परमैश्वर्यका लाभ भी होता है। यह प्रपत्तिसे ही सम्भव है।

वीर शैव सिद्धान्त, व्यक्तिविशिष्टाद्वैत'को मानता है। यह कर्म प्रधान है। जब कि आचार्य शकरका मत है त्याग प्रधान है। इसमे शिव और जीव दोनो शक्तिविशिष्ट हैं। मुख्य देवता शिव है। यह विश्व शक्ति रूप ही है। शक्ति धर्मरूप है और शिव धर्मी रूप। शिव-शक्ति अलग नही किये जा सकते। यह शक्ति त्रिगुणात्मिका कही जाती है।

तमोगुण शक्ति ही माया है। यह ससार सत्य है, मिथ्या नही। ससारकी उत्पतिके विषयमे दो मत हैं—परिणामवाद, दूसरा विवर्तवाद। यह चराचर सृष्टिमें लीन रहता है। परम शिव पूर्ण अहतारूप या स्वातन्त्र्य रूप है। और जीव अपूर्ण अहता है। शक्ति विशिष्टाद्वैतका अर्थ है दोनोकी एकाकारता या सामरस्य। उपास्य और उपासक रूपको क्रीडाकी इच्छा होनेपर शिवमें स्पन्दन होता है। इसमे दो भेद हो जाते है। उपास्य लिग है और उपासक अग। लिगकी शक्तिका नाम कला है और अगकी शक्तिका नाम भक्ति। कलासे ससार बनता है। और भक्तिने जीव शिवमे एकाकार सम्बन्ध स्थापित करता है। अन ये शिवभक्तिको मुख्य मानते

है। लिंग धारण करते हैं। जात-पातको नही मानते। वेदोमें इनको आस्था नही होती। शिवत्वमें रमना उनका लक्ष्य है।

४. शैव सिद्धान्त (तमिल)

यह भेद प्रधान है। शिव, शक्ति और विन्दु ये तीन सिद्धान्त हैं। विन्दु ही महामाया है। यही विन्दु या शब्द ब्रह्म जगत्की सृष्टि करता है। शिवके दो भेद हैं। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा होती है। और परिग्रह रूप जड शक्ति होती है। यही विन्दु है। शुद्ध विन्दुको महामाया कहते हैं, और अशुद्धको माया। समवायिनी शक्तिसे विन्दुपर आघात करने पर क्षोभ उत्पन्न होता है। वही सृष्टिका मूल है। इसमें पशुपति और मलकी कल्पना की जाती है। तान्त्रिकमत, ज्ञान और कर्मकी अपेक्षा, क्रिया-से मलका अपसरण सम्भव मानते हैं। भगवान् की अनुग्रह शक्तिके विना यह सम्भव नही। तान्त्रिक भाषामें यही शक्तिपात है। इसे दीक्षा भी कहते हैं। लेकिन तन्त्रमत, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिमें अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं।

५. प्रत्यभिज्ञा (कश्मीर) या त्रिकदर्शन

यह अद्वैत प्रधान है। कामेश्वर और कामेश्वरीका सामरस्य है। अद्वयरूप परमेश्वर ही परम तत्त्व है। निर्विकार शिव विश्व भरमें अनुस्यूत हैं। वह विश्वका उन्मीलन स्वय करती है। उन्हें किसी उपादानकी आवश्यकता नही। उनकी अपनी विशेष शक्तियां पांच है—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। आनन्द स्वातन्त्र्य ही है। इनके द्वारा वह जगत्-को अपनी ही भित्तिपर चित्रित करते है। शिव और विश्वका सम्बन्ध दर्पण-विम्वके समान है। चिन्मयी शक्तिका स्फुरण ही विश्व है। अत वह असत्य नही। विश्व सृष्टिसे शिवके दो रूप हो जाते हैं – शिवरूप और शक्तिरूप। शिव प्रकाशरूप है, और शक्ति विमर्शरूप। शिव अहमशको ग्रहण करता है, और शक्ति इदमंशको। विना दर्पणके मुख नही दिखता, इसी प्रकार भक्तिके विना शिवका प्रकाशरूप सम्पन्न नहीं होता, वैसे ही जैसे मधु अपनो मिठासका आनन्द स्वयं नही ले पाता। शक्तिके आन्तर निमेषको सदाशिव कहते हैं, और वाह्य उन्मेषको ईश्वर। माया अह और इद को अलग कर देती है। वह शक्तिपर आवरण डालती हैं, जिसे कञ्चुक कहते हैं। साधनामें वह ज्ञान और भक्ति दोनोको मानते हैं।

साधनरूपा भक्ति अज्ञानमूलक है। अतः उसमें द्वैतकी अपेक्षा है। ज्ञानके उदयसे साध्यरूपा भक्ति उत्पन्न होती है। यही चिदानन्द लाभ है। इसे प्रत्यभिज्ञा इसलिए कहते हैं, क्योंकि इसमें ज्ञात वस्तुको फिरसे जाना या पहचाना जाता है। जैसे कोई सुन्दरी मदनलेखसे आये हुए प्रियतमको पाकर भी आनन्दित नही होती, परन्तु जब दूती पहचान कराती है तो वह उसे पहचान कर फूली नही समाती।

वाममार्ग, शैव और तन्त्रमार्गका मिला-जुला रूप है। कौल और कापालिक इसीके दो भेद हैं। कापालिक कुण्डल, शिखामणि, भस्म, यज्ञोपवीत और कणिका धारण करते हैं। ये महाभैरवके उपासक हैं, जो शिवका ही एक रूप है। हड्डियोकी माला, खप्परकी थाली और मरघट वास, इन तीन साधनोंसे वह ईश्वरके अनुरूप बनना चाहते है। इनमे अघोरपन्थी कापालिक चामुण्डी या करालादेवीको नरबलि भी देनेके पक्षमें थे। तान्त्रिक पूजाके प्रधान केन्द्र तीन थे—केरल, कश्मीर और बंगाल। पाँच मकारोका सेवन इनमे आवश्यक समझा जाता था। परन्तु केरलमें इनके स्थानमे दूधका प्रयोग होता था। कश्मीरमें केवल भावना की जाती थी। इन वस्तुओका प्रत्यक्ष दान केवल बगालमें प्रचलित था।

६ हठयोग

नाथमत या सिद्धमत, अपभ्रंश साहित्यके द्वितीयार्ध कालमे महत्त्वपूर्ण विचारधारा रही है। इसके उपास्य शिव है। बौद्ध और शैवतन्त्र मतोका इसपर पूरा प्रभाव है। वैसे तो आदिनाथ (जो स्वय शिव ही है) इस मतके आदि सस्थापक कहे जाते है। परन्तु मत्स्येन्द्रनाथसे यह मत चला। यह ९वीके मध्यमें हुए। अनुश्रुति है कि यह स्त्रीदेश (आसाम) में जाकर कौलमार्गमे फँस गये थे। बादमे उनके शिष्य गोरखनाथने इनका उद्धार किया, मत्स्येन्द्रनाथको तन्त्रवादियोका सृष्टिक्रम मान्य था। यद्यपि इनकी शक्ति उन्होंने नही मानी। तन्त्रवादी सत्कार्यवादी थे।

कौल और योगीका साधनाकी दृष्टिसे एक ही लक्ष्य था। भेद यही है कि कौल तान्त्रिक बाह्य-उपासनाके बाद, अन्तरग उपासना (कुण्डलिनी शक्तिको प्रबुद्ध करना) करते थे, परन्तु नाथयोगी केवल अन्तरग उपासना पर जोर देते थे। कौलमार्गमें मदिराका सस्कार करके उसके सेवनका विधान है। वे मन्त्रपूत कुल द्रव्यको सेवनीय समझते है। पर योगी इनका योगपरक अर्थ करते है। कौलमतमें सुरासुन्दरीके प्रवेशका सूत्र उत्तरी

देशमें प्रचलित यक्ष पूजासे बताया जाता है। यक्ष एक विलासप्रिय देव जाति थी। कई यक्ष बौद्धधर्मके उपास्य देवता बन गये। यहींसे उसमें रहस्यमयी तान्त्रिक धर्मसाधना चल पड़ी, जो धीरे-धीरे दूसरे मतोंमें फैल गयी। चर्याश्चर्यविनिश्चयकी टीकामें 'दाऊडीपाद' के एक श्लोकका यह भाव है कि प्राणी वज्रजघ है, और जगत्की स्त्रियाँ कपालवनिता हैं, यानी कापालिनी साधक हैं, और 'हेरुक' भगवानकी मूर्ति है। इसीसे यह कापालिक साधना कहलाती है। इसमें ये निम्न बातें मान्य हैं—(१) चक्रमे विश्वास, (२) शिव और जीवमें अभिन्नता, (३) योगसे चित्तकी चचलताको रोकना, (४) शक्तियुक्त शिवकी सामर्थ्यमें विश्वास, (५) पचामृतमें श्रद्धा, (६) शिव ज्ञेय है, शक्ति उपास्य है।

योगी अक्षय निरजन शून्यको नमस्कार करते हैं, परन्तु वह महासुखका प्रतीक हैं, क्योकि सहजयानी या वज्रयानी शून्यको निषेधात्मक न मानकर विध्यात्मक मानते हैं। दूसरे वह शरीरमें ही चरमप्राप्तव्य स्वीकार करते हैं।

तान्त्रिक चित्तको वशमें करना आवश्यक समझते थे, परन्तु कामनाओ के भोगके बिना चित्त क्षुब्ध हो सकता है। उससे साधना मिट्टीमें मिल जायेगी। अत दमन नही, उनका उपभोग किया जाये, फलतः शून्यता और अभावोसे मुक्ति पानेके लिए सुरा-सुन्दरीकी आवश्यकता अनिवार्य हो उठी।

वस्तुत गोरखनाथने योगमतको व्यवस्थित किया—एक तो उन्होंने शैवोके प्रत्यभिज्ञा दर्शनके आधारपर काया योगके साधनोको व्यवस्थित किया। दूसरे आत्मानुभूति और शैव परम्पराके सामजस्यसे चक्रोको नियत कर दिया। तीसरे तन्त्रमतके पारिभाषिक शब्दोका पारमार्थिक अर्थ किया और लोक भाषामें उपदेश शुरू किया।

७ शिव और जिन

हम गत अध्यायोमें इन दोनोंकी तुलना और विरोध देख चुके हैं। इसका कारण क्या है। वैसे भारतीय इतिहासमें शिवके कई व्यक्तित्व हैं। महाभारत युगमें शिवकी उपासना थी। यद्यपि इतिहास और पुराणमें इसका निर्देश नहीं है। (भा० जा० में ५७) शिवसे जिनके विरोधका कारण, आलोच्यकालमें दोनोके उपासकोका सहअस्तित्व था, क्योंकि छठी शतीसे लेकर १२वी तक शिवमतका दक्षिण भारतमें काफ़ी प्रचार था।

इसके बाद वीरशैव मत फैला। इस युगके संस्कृत काव्योमे शिव-साधनाओ का उल्लेख है[1]। वैसे पौराणिक धर्म होनेसे विष्णुमत भी था। पर उतना प्रभावशाली नही था। दूसरी ओर ६ से ११वी सदी तक जैनधर्म भी दक्षिण भारतमें (गंग, कदम्ब, और राष्ट्रकूटोके शासनकालमे) खूब फल-फूल रहा था[2]। वह अधिक प्रभावशाली और शक्तिसम्पन्न था। बादमें भी उसके प्रति राज्योका सहिष्णुताका भाव रहा। समान क्षेत्र होनेसे दोनोमें संघर्षकी सम्भावना थी, फिर राज्याश्रयकी लालसाने इसे और उकसाया। दोनोके साहित्यमें परमतको पराजित करनेकी गर्वोक्तियाँ अंकित है। कई स्थानोपर वीर शैवोने मार-काटके साथ जैन मूर्तियोको तोडा-फोडा भी[3]। आलोच्य साहित्यमे यद्यपि स्पष्ट रूपसे उल्लेख नही है, पर विरोधी मतोके निर्दयतापूर्वक दमनकी घटनाएँ अवश्य अंकित है (देखो वस्तुतत्त्व) किन्तु शैवोके प्रति उग्र विरोधका स्वर स्पष्ट रूपसे मिलता है। कभी-कभी खुले शास्त्रार्थ भी हो जाते थे। इस विवाद और विरोधमें जैन लेखकोके आक्षेप इस प्रकार थे।

(१) शैवशास्त्र आचारशून्य है। (२) शिव सर्वज्ञ नही हो सकते। (३) जो कर्म करता है वही मुक्त होता है। (४) शिव तीर्थंकर नही हो सकते। (५) पशुबलि घोर पाप कर्म है।

इसके विरुद्ध शैवोकी मान्यता थी –

(१) शिव ही आदि तत्त्व है। (२) शिव तीर्थंकरोका भी गुरु है। (३) जीवका कर्म और मुक्ति शिवके अधीन है। (४) तान्त्रिक शैव मतमे पशुबलि आवश्यक थी।

इससे भी मुख्य विषय विवादका यह था कि जिन और शिवमें बडा कौन है। आलोच्य साहित्यके जो भक्तिगीत हमने दिये है उनमे शिवसे जिनको बडा बताया है। पुष्पदन्तने (म० पु० २।५०८) लिखा है कि जो खोटे गुरुकी सेवा करता है, (चाहे वह देव ही हो) घोर पापका भागी होता है। यहाँ गुरुसे तात्पर्य शिवसे ही है। यह होते हुए भी दोनो एक दूसरेसे काफी प्रभावित हैं। उदाहरणके लिए सुधारवादी लिंगायत

---

१. मालतीमाधव, हर्षचरित, कर्पूरमंजरी, यशस्तिलकचम्पू आदि।

२. दक्षिण भारतमें जैनधर्मसे राज्याश्रय और उसका अभ्युदय (अने० किरण ११।१६५३) रामचन्द्र एम० ए०।

३ मि० जैनिज्म, १८४।

सम्प्रदायमें ये बातें मान्य समझी गयी—

(१) वर्ण व्यवस्थाका विरोध। (२) ब्राह्मणकी उपेक्षा (३) वेदोकी अमान्यता (४) शिवको ही एक महान् देवताके रूपमें स्वीकार करना। (५) जन्मान्तरका विरोध।

अन्तिम दो बातें छोडकर शेषपर विरोधी मतका प्रभाव माना जा सकता है जिनपर भी शिवका प्रभाव पडा है। एक ओर तो शिवके बाह्य प्रतीकोको श्लेष और विरोध शैलीके द्वारा जिनमें घटाकर उनमें एकता सिद्ध की गयी, दूसरी ओर प्रतीकोकी अध्यात्मपरक व्याख्या की गयी। इस प्रकार स्थूल विरोधका, नये सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थ, और ईश्वरकी नयी परिभाषासे समाधान किया जाने लगा। इस आध्यात्मिक उदार दृष्टिकोणसे सामाजिक कटुता एक सीमा तक कम हुई। देवताविषयक यह खींचतान हिन्दू देवताओमें भी देखी जाती है। परवर्ती युगका शिव-विष्णु विवाद इसका उदाहरण है। इस विवादका एक कारण अद्वैतवाद-द्वारा एक देवकी प्रतिष्ठा कर देना भी था। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने उपास्यको सर्वमान्य बनानेके लिए प्रयत्नशील था। हनुमन्नाटक (१०वी) के मगल श्लोकके अनुसार, जिसे शैव शिव, वेदान्ती ब्रह्म, बौद्ध बुद्ध, नैयायिक कर्ता, जैन अर्हत् और मीमासक कर्म कहते हैं – वह त्रिलोकीनाथ ही है[1]। इस प्रकारके उद्गार हम अवतरित अपभ्रश गीतोमें देख चुके हैं।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि विष्णुके प्रति ये लेखक मौन हैं। यद्यपि विष्णुकी सत्ता भी उनके युगमें थी। तत्कालीन जैन सस्कृत-साहित्यमें भी विष्णुकी चर्चा कम हो है। डॉ० हान्दिकीने इसके निम्न-लिखित कारण दिये हैं—

(१) राष्ट्रकूटकालमें वैष्णव धर्मकी उपेक्षा।

(२) शैवधर्मका अधिक शक्तिसम्पन्न होना।

(३) त्रिमूर्तिके रूपमें विष्णुका भी समाहार होना।

वस्तुकला और साहित्यिक प्रमाणोसे यही सिद्ध होता है कि आलोच्य कालमें विष्णुमतकी अपेक्षा शैवमत ही अधिक प्रभावक और सगठित था। इसका कारण विष्णु धर्मका अहिंसक होना भी है। यही कारण है कि विरोधकी जगह विष्णु-सम्बन्धी उपमाएँ आलोच्य साहित्यमें खूब मिलती हैं। हिन्दू-परम्परामें राम और कृष्ण विष्णुके अवतार हैं। जब कि जैन

---

१ वि० भ० द० २६५।

परम्परामें कृष्ण और लक्ष्मण वासुदेव हैं। अतः अपभ्रंश कवियोंने लक्ष्मण-को भी कृष्ण या विष्णु कह दिया है। हिन्दी कवि जायसीने भी विष्णुके अर्थमें कृष्ण शब्दका प्रयोग किया है। विष्णुके अवतार राम और कृष्णका चरित तो आलोच्य साहित्यमें आ ही गया, अपने ग्रन्थोंके प्रारम्भमें ये कवि उनके चरितके सम्बन्धमें हिन्दू मान्यताओंका खण्डन भी कर देते हैं, पर शिवके विषयमें ऐसी सुविधा उन्हें नहीं थी।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि कुछ विद्वान् शिवको अनार्य देवता मानते हैं जब कि दूसरे आर्य[1]। वेदमें रुद्र शब्द आया है पर वह शिवके अर्थमें नहीं, 'शिश्न' का अर्थ लिंग होता है। हमारी धारणा यह है कि आलोच्य साहित्यमें शिवका अधिक उल्लेख केवल तात्कालिक साम्प्रदायिक तनातनी-के कारण ही नहीं किन्तु उसका एक ऐतिहासिक कारण भी है और यह एक तीसरी विचारधाराकी ओर संकेत करता है। जैन विद्वानोंने रिसभ और शिवमें कई बातें समान लक्षित की हैं।[2]

(१) शिवपुराणमें रिसभको शिवका अवतार माना गया है।[3]

(२) रिसभ जिनने शिवरात्रिको ही मोक्ष प्राप्त किया। पंचांगके भेदसे यह तिथि उत्तर-दक्षिण भारतमें अलग-अलग पड़ती है।

(३) रिसभका चिह्न बैल है, शिवजीकी सवारी भी नन्दी बैल है।

(४) शिवके जटाजूट प्रसिद्ध हैं। रिसभकी पुरानी मूर्तियोंमें जटाएँ हैं। वर्ष-भरकी तपस्यासे उनके बाल काफी बढ़ गये थे। कवि स्वयम्भूने इसका वर्णन यों किया है—"रिसभकी हवामें उड़ती हुई जटाएँ ऐसी मालूम होती थीं कि जलती हुई आगकी धूमिल लपटें हों," उनकी जटाजूटवाली प्रतिमाएँ इसी तपस्वी जीवनकी स्मारक थीं।

(५) रिसभदेव नग्न मुद्रामें जब आहारके लिए नगरमें गये तो स्त्रियोंने उन्हें कामदेव समझा था। वामनपुराणमें (अध्याय ४३ श्लोक ५९।६९) वर्णन है कि महादेव नग्नवेशमें नवीन तापसका रूप धारण कर जब मुनियोंके तपोवनमें आये तो मुनिपत्नियोंने उन्हें घेर लिया। मुनि-जन अपने ही आश्रममें अपनी ही पत्नियोंकी ऐसी अभद्र कामातुरता देख-

---

१ ध०-द० पृ० ११, २१।

२ अने० पृ० ६६, जुलाई १९५३ और वर्ष १०, किरण ६।

३, इत्थ प्रभाव ऋषभावतार. शंकरस्य मे। सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवम कथितः स्तवन ॥—शिवपुराण। (४७)

कर 'मारो मारो' कहते हुए काष्ठ पाषाण आदि लेकर दौड पडे।

(६) रिसभने कैलासपर तप किया और कामवासनाको जलाया। शिवने भी हिमालयमें काम दहन किया। वह कैलासवासी तो हैं ही।

(७) रिसभ आदिदेव कहलाते हैं। शिवको भी शिवपुराणकी धर्म-सहितामें आदिदेव कहा गया है।

(८) रिसभने धर्म तीर्थकी स्थापना की, इसीसे वृषभनाथ भी कहलाते हैं। शिव तो वृषभनाथ हैं ही।

(९) जय भगवान्‌जीका कहना है कि शिवका अलकृत वर्णन है। प्राचीन समयमें भाषा और लिपि चित्रशैलीकी थी। इसीमें अध्यात्म तत्त्वका निरूपण किया जाता था। गुरु-शिष्य परम्परा टूटनेपर उस शैलीका समझनेवाला कोई नही रह गया। फलत साकेतिक भाषाके लिए स्थूल अर्थ चल पडे। तभी तो कालिदासको कहना पडा—"न सन्ति यथार्थ-विदः पिनाकिनः" वस्तुत यह प्रतीकवाद है। उक्त विद्वान्‌के अनुसार इन प्रतीकोका अर्थ यह है।

पार्वती—मानव शरीरमें मेरुदण्डकी रचना तैतीस पर्वोंसे हुई है। पर्व जिसमें हो वह पर्वत है। उसमें रहनेवाली पुत्री पर्वतराजपुत्री हुई। इसकी गति शिवकी ओर है। वह शिव स्वरूप है। शिवकी प्राप्ति तपस्यासे होती है। शिव-पार्वतीके विवाहका यही रहस्य है।

शिव—(१) ससारका सहार करते हैं और योगी हैं। भगवान् रिसभने भी ससारका नाश किया योग साध कर। (२) शिवलिंग अमृतत्वकी प्राप्तिका प्रतीक है। (३) विषपानसे तात्पर्य आसुरी वृत्तिके नाशसे है। (४) भस्मासुर, त्रिपुरदाह, बाहर नही, भीतर होता है। मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको रोकना ही त्रिपुरदाह है। (५) त्रिशूल सम्यक्‌दर्शन, सम्यक् ज्ञान और चरित्रका प्रतीक है। (६) सूर्य = ज्ञानका प्रतीक है। अज्ञानके लिए वह काल है। म० भा० के पुरातत्त्व सग्रहालय-में योगेश्वरकी जो मूर्ति है वह रिसभ जिनसे मिलती है। ऋग्वेदमें दो जगह शिश्नदेव और केसीका वर्णन है। इन्द्रसे प्रार्थना है (म० ७, २१, ५) कि वह शिश्नको यज्ञके पास न आने दें। यह भी लिखा है (म० १, ९९, ३) कि इन्द्रने शिश्न देवोका वध किया। जो भी हो, जिन और शिवकी तुलना एक नवीन विचारधाराको अग्रसर करती है।

८ सदेशरासक और डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने अपने एक शिष्य विश्वनाथ त्रिपाठीके सहयोगसे 'सदेशरासक' का हिन्दी अनुवाद किया है, जो हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकरसे प्रकाशित है। इसमें सदेशरासकके पाठोपर कई महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं। यहाँ कुछ सुझाव विचारार्थ प्रस्तुत हैं। अब्दुल रहमानने अपने बारेमें कहा है –

पच्चुएसि पहूओ पुव्वपसिद्धो य मिच्छदेसोत्थि।
तह विसए संभूओ आरद्दो मीरसेणस्स ॥
तह तणओ कुलकमलो पाइयकव्वे सुगीयविसयेसु।
अद्दहमाण पसिद्धो सनेहरासयं रइयं ॥

अभीतक इसका जो अर्थ किया जाता रहा है और जो श्री त्रिपाठीने भी मूलमें दिया है वह यह है—

"पश्चिममें प्राचीनकालसे अत्यन्त प्रसिद्ध जो म्लेच्छ देश है उसी प्रदेशमें मीरसेण नामक तन्तुवाय हुआ। उसके पुत्र अद्दहमान ने, जो अपने कुलका कमल था, और प्राकृत काव्य और गीत विषयमें प्रसिद्ध था, सदेशरासककी रचना की।"

डॉ० द्विवेदीने अपनी प्रस्तावनामें कुछ पाठोके नये अर्थ ध्वनित किये हैं। आरद्दका अर्थ उन्होने जुलाहाके स्थानपर गृहआगत किया है। इसी प्रकार पच्चाएसिका अर्थ है प्रत्यादेश, और अद्दहमानका अर्थ है आहत यश या सुरक्षित यशवाला। इन दो अर्थोंको स्वीकार करवानेके अनन्तर वे कहते हैं—पच्चाएसि और मिच्छ देशके क्रमश दो अर्थ होगे—१ पश्चिम देश और निराकरण, २ म्लेच्छ देश और मिथ्या विश्वास। ऐसा जान पडता है कि मीरसेनने ही पूर्वधर्मका त्याग कर मुसलमानी धर्म स्वीकार किया था। मानो कविने अपने पिताको म्लेच्छ दिशाका निवासी कहनेके साथ ही यह इगित करना चाहा है कि उसके पिताने जो मिथ्या देशनाका परित्याग किया उसीके पुण्य प्रतापसे यह कुलकमल कवि, उसीके घर उत्पन्न हुआ। मीरसेन धर्मान्तरित होनेके बाद पूर्व देशमें आ गये थे। वही अब्दुल रहमानका जन्म हुआ।

इसके बाद डॉ० द्विवेदी लिखते हैं—

"अब्दुल रहमानमें भारतीय साहित्यके सस्कार पूरी मात्रामें थे। रिजलीने बहुत पहले बताया था कि जुलाहे पजाबसे ढाका तक एक

धनुषाकृति भूखण्डमे बसे हुए हैं और जान पडता है कि किसी समय वे सामूहिक रूपसे मुसलमान हुए थे। मैंने अपनी कबीर नामक पुस्तकमें बताया है (विस्तारपूर्वक पृ० १२-१४) कि किन कारणोसे धीरे-धीरे ये जुलाहे मुसलमान हुए, और पीढियो तक उनमें हिन्दूसंस्कार बने रहे। कबीर आदि इसी धर्मान्तरित जातिमें उत्पन्न हुए।" सन्देशरासकके ये दो छन्द मेरे अनुमानको पुष्ट करते हैं। इस प्रकार समासोक्ति छलसे सन्देशरासकके कविने दूसरा ही अर्थ ध्वनित किया है, जो बिलकुल साफ है। यह दूसरा अर्थ होगा, 'पूर्व देशमें जो मिथ्या विश्वास व्यापक रूपसे फैला हुआ है उसके प्रत्याख्यानके पुण्यसे मीरसेनके घरमें उसी मिथ्याधर्मके देशमें, एक आरद्द (घर आया हुआ) पुत्र और जुलाहा उत्पन्न हुआ, जो उसके कुलका कमल सिद्ध हुआ। कमल जिस प्रकार कीचडमे उत्पन्न होता है, उसी प्रकार छोटी जातिमें यह कवि उत्पन्न हुआ। जिसका मान प्राकृत काव्य और गीत विषयमें सदा सुरक्षित रहेगा। अत उसका अद्दहमाण नाम पूर्णत उचित है। ऐसा जान पडता है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करनेके बाद मीरसेन जीविकाके लिए या किसी अन्य कारणसे पूर्वकी ओर बढ आये थे। वही अब्दुल रहमानका जन्म हुआ। 'तह विसए संभूओ' की ध्वनि यही है।'

डॉ० द्विवेदीके सारे निष्कर्ष, कुछ शब्दोकी अर्थान्तर परिकल्पनापर निर्भर हैं। ये शब्द हैं आरद्द, पच्चाएसि, अद्दहमाण और मिच्छ। पर इन निष्कर्षोको स्वीकार करनेमे सबसे बडी ऐतिहासिक असगति यह है कि कबीर और उनकी परिस्थितिसे अब्दुलरहमान और उनकी स्थितिको नही आंका जा सकता। अब्दुलरहमानके समय मुसलमानोका प्रवेश सिन्ध और पजाब तक सीमित था। जुलाहोने सामूहिक रूपमें धर्म-परिवर्तन किया होगा, लेकिन वह बहुत बादकी घटना है। रहमानकी कवितामें हतवीर्य और निराश जनताकी भावना कही नहीं है। पूर्व प्रसिद्धका अर्थ होगा पहलेसे प्रसिद्ध न कि पूर्वमें प्रसिद्ध। इतिहाससे प्रमाणित है कि अरब आक्रमणके समयसे सिन्ध मुसलमानोके हाथमें जा चुका था। अत. पूर्व प्रसिद्ध म्लेच्छ देश, पश्चिमी भारतका भूभाग ही हो सकता है। रहमानने शब्दोको भारतीय अर्थोमें ही प्रयुक्त किया है। म्लेच्छ शब्द अभारतीय धर्मके अनुयायीके लिए यहाँ प्रयुक्त है। फिर इसके लिए कि वह पूर्वमें क्यो आये, डॉ० द्विवेदीने कोई प्रमाण नहीं दिया। मुसलमान

धर्म स्वीकार करनेके बाद मीरसेन पूर्वमें क्या जाते वहाँ अभी हिन्दू-बस्ती थी। यदि रहमान पूर्वी भारतके थे तो उनकी भाषामें वहाँका पुट होना चाहिए। उनकी कथावस्तु थोडी सी पूर्वी भारतसे सम्बन्ध रखती। परन्तु सन्देशरासककी कथावस्तु मुलतान और खम्भातसे सम्बन्धित है। कविने मुलतानका जो सजीव चित्र खींचा है, उससे लगता है कि उससे उसका निकट सम्बन्ध था। पूर्व भारतमें रहकर रहमान कैसे यह चित्र दे पाते। अत रहमानकी सीधी-सादी बातको बिना किसी विच्छित्ति-विशेषके ही स्वीकार किया जाना चाहिए। 'पाइयसद्दमहण्णवो' में आरद्धके तीन अर्थ हैं—१ बढा हुआ, २. सतृष्ण, ३ घरमें आया हुआ। यहाँपर आरद्दो शब्द है। आरद्द और आरद्धको एक नही माना जा सकता। प्राकृतशब्दमहार्णवमे इसका उल्लेख नही है। हो सकता है यह प्राकृत भाषाओकी नयी उपलब्धि हो। उसके स्रोतकी खोज होनी चाहिए। फिर गृह आगतका प्रस्तुत सन्दर्भमें कोई अर्थ नही बैठता। अत. उक्त श्लोकोका सीधा-सादा अर्थ ही उचित जान पडता है। इसी प्रकार रहमानने जो अपने-आपको कविकुलकमल कहा है वह हीनभावसे नही, वह कहनेका एक ढग है। यह भी उल्लेखनीय है, जहाँ रहमान बहुत-सी काव्य-परम्पराओका निर्वाह अपने काव्यमें करते है वहाँ अपनी कवि-परम्पराके बारेमें वह चुप हैं। उन्होने जो प्राकृत काव्यो और गीतविषयोमें स्वयको प्रसिद्ध बताया है वह भी विचारणीय है। वस्तुत यहाँ गीतविषय विशेषण है और प्राकृत काव्य विशेष्य। इसका अर्थ होगा प्राकृत काव्यके गीतोमें जिसे प्रसिद्धि प्राप्त है। प्राकृत काव्य और गीत विषयको अलग रखनेमे अर्थ नही जमता। प्राकृत काव्यमें कई विधाएँ हैं, उनमें एक विधा है गीत। कवि रहमान इसीमें अपने-आपको निपुण बताता है। सन्देशरासककी प्रबन्ध शैलीसे भी इसका समर्थन होता है। उसमें बहुत से पद्य उद्धृत भी हैं। भाषाकी दृष्टिसे सन्देशरासकमें परिनिष्ठित अपभ्रशका परवर्ती विकास मिलता है। काव्यकी पूर्व परम्परा बताते हुए कविने अवहट्ठ, सस्कृत, प्राकृत और पैशाची भाषाओंके नाम गिनाये हैं। अपभ्रशका नाम उसमें नही है। अवहट्ठ और अपभ्रश एक नहीं। अपभ्रशका अपभ्रशमें अवहस रूप होगा, अवहट्ठ नही। एक कवि सब भाषाओका उल्लेख तो करता है, पर उसका नही करता जिसमें वह स्वय लिख रहा है, इसका एक ही कारण हो सकता है कि रहमान अपभ्रशको प्राकृत काव्यके अन्तर्गत लेते हैं। अपभ्रशको प्राकृतमें लेनेका

परम्परा पुरानी है। अवहट्ठका सबसे पहले उल्लेख क्या अभिप्राय रखता है। ऐतिहासिक परम्परामें पहला नाम सस्कृतका होना चाहिए। लगता है कविने अवहट्ठसे अपनी निकटता बतानेके लिए ऐसा किया होगा। अपभ्रशसे रहमान अपरिचित नही थे, उन्होने अपभ्रंश कवि चतुर्मुखका उल्लेख किया है। उन्होने कहा है कि यदि चतुर्मुख कह चुके तो क्या दूसरे लेखक न कहें। कवि रहमान यह मानते है कि अपनी प्रतिभाके प्रकाशनका सबको अधिकार है। डॉ० द्विवेदीने 'णत्थि तिहुयणि ज च णहु दिठ्ठु' का सम्बन्ध त्रिभुवन स्वयभूसे जोडा है। वस्तुतः त्रिभुवनका अर्थ यहाँ तीनो लोक है न कि स्वयभू कविका बेटा त्रिभुवन, जिसने अपने पिताकी अधूरो रचनाएँ पूरी की। त्रिभुवन इतना प्रसिद्ध कवि नही था। यदि रहमान किसी अपभ्रश कविका उल्लेख करना ही चाहते तो वह स्वयभूका होता त्रिभुवनका नही। अत उक्त प्रसगका ठीक अर्थ तीन लोकोंसे ही लगता है।

सन्देशरासकके अन्तिम छन्दको लेकर भी डॉ० द्विवेदीजीने विशेष कल्पना की है। इस छन्दके अन्तिम चरणमें पाठ है—'जयइ अणाइ अणंतु।' दूसरी प्रतिमें पाठ है 'जयउ अनाइतु अन्तु'। इसका अर्थ डॉ० द्विवेदी करते है —'अनागत अन्त' यानी कयामतका दिन। वह कहते हैं—'उसी प्रकार पढने-सुननेवालोके अनागत अन्तकी जय हो, अर्थात् पढने-सुननेवालोकी जो इच्छा हो उसका अन्त भविष्यमें जययुक्त होवे'। यह भगवान्‌की स्तुति न होकर भरतवाक्य हो जाता है। अनागत अन्तका अर्थ है कयामतका दिन। यह पाठ कविको निश्चित रूपसे मुसलिम धर्मानुयायी सिद्ध करता है। अब्दुलरहमान मुसलमान थे, यह नामसे ही सिद्ध है। पाठकोकी शुभकामना इस अर्थमें ही हो जाती है कि जिस प्रकार एक क्षणमें उसका (नायिकाका) अर्थ सिद्ध हो गया, उसी प्रकार पढनेवालोका भी सिद्ध हो। अनादि-अन्त पाठको मैं इसलिए ठीक समझता हूँ कि ग्रन्थके आदिमें जैसे उसने ईश्वरका नाम स्मरण किया है, वैसे ही अन्तमें भी वह उसको जय करना चाहता है। फिर अनागत अन्तका 'कयामतका दिन' अर्थ करनेपर आशीर्वादात्मक भरतवाक्यका उद्देश्य भी पूरा नहीं होता। एक तो यह नाटक नही है। दूसरे अब्दुल रहमान यह जानते होगे कि उनके अधिकाश पाठक कयामतके दिनकी अपेक्षा पुनर्जन्ममें विश्वास करते हैं। जब समूचे ग्रन्थमें कवि साम्प्रदायिक आग्रह नही दिखाता तो यहाँ उसकी कल्पना क्यो की जाये।

२ डॉ० कीथ और अपभ्रंश

संस्कृत भाषाके विकासके सन्दर्भमें डॉ० ए० बी० कीथने भाषाके रूपमें अपभ्रंशके अस्तित्वमें सन्देह प्रकट किया है। लगता है डॉ० कीथने स्वतन्त्र रूपसे अपभ्रंशपर विचार नहीं किया। असलमें सर जार्ज ग्रियर्सनकी अपभ्रंश-सम्बन्धी धारणाओंके खण्डनके प्रसंगमें उन्होंने अपभ्रंशपर अपने निष्कर्ष बड़ी स्पष्टतासे दिये हैं। उनके निष्कर्षोंका श्रीगणेश सर ग्रियर्सनके विचारोंके खण्डनसे होता है और अन्त भी उसीसे। इसमें सन्देह नहीं कि डॉ० कीथने अपने विवेचनमें गहरी पकड, तर्कशीलता और अध्ययनशीलताका परिचय दिया है, पर जैसा कहा जा चुका है कि उनके विचार सर ग्रियर्सनकी स्थापनाओंकी प्रतिक्रियाके सन्दर्भमें व्यक्त हुए हैं, इसलिए उसमें अपभ्रंशके बारेमें एकदेशीय विचार ही आ सके हैं। सरलताके लिए डॉ० कीथके विचार दो श्रेणियोंमें रखे जा सकते हैं—वे क्या मानते हैं और वे क्या नहीं मानते हैं।

१ डॉ० कीथ नहीं मानते कि अपभ्रंश प्राकृतोंसे अलग कोई जनबोली थी। अत ग्रियर्सन साहबने जो विभिन्न अपभ्रंशोंके आधारपर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओंके उद्गमकी कल्पना प्रस्तुत की है वह डॉ० कीथ नहीं मानते।

२. वह मानते हैं कि अपभ्रंश, प्राकृतसे भिन्न साहित्यिक भाषाओंको बतानेके लिए प्रयुक्त होता था। इसके लिए उन्होंने दण्डी, भामह और गुहसेन राजाके अभिलेखोंको प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किया है।

३ वह मानते हैं कि महाराष्ट्र और कश्मीरमें अपभ्रंशोंका अस्तित्व था भी नहीं। वहाँ प्राकृतोंसे सीधे आधुनिक भाषाओंका जन्म हुआ।

४ वह मानते हैं कि मूलमें अपभ्रंश, प्राकृतमें अपने बोल-चालकी भाषाके अंशके विकासके लिए किये गये प्रयत्नका परिणाम था। यह एक तरहसे प्राकृतको सरल बनानेका ही प्रयत्न था।

५ वह मानते हैं कि अपभ्रंशकी प्रारम्भिक अवस्थाका मुख्य आधार महाराष्ट्री प्राकृत थी, परन्तु कभी शौरसेनी भी।

६ वह मानते हैं कि व्राचड अपभ्रंशके जो लक्षण थे उनको इन अपभ्रंशोंमें परिष्कृत कर लिया गया।

७ वह मानते हैं कि पूर्वी अपभ्रंशका आधार अन्ततोगत्वा, मागधी नहीं, पश्चिमी उद्भव है।

ठीक इसी प्रकार उनके कुछ प्रतिषेध हैं।

१ वह नही मानते हैं कि अपभ्रंश बोलचालकी भाषा थी।

२ वह नही मानते कि आधुनिक मराठीका विकास महाराष्ट्री अपभ्रंशसे हुआ।

३. वह नही मानते कि आधुनिक जन-साधारणकी भाषाओको बनानेमें अपभ्रंशका आवश्यक रूपसे हाथ था।

इस सन्दर्भमें सबसे मनोरंजक बात यह है कि डॉ० कीथके शेष निष्कर्ष सर्वमान्य हैं।[1] अपभ्रंशके विकासकी जो रूप-रेखा उन्होने दी है, वह बहुत कुछ मौलिक है। अपभ्रंशकी प्रारम्भिक अवस्थाका मुख्य आधार महाराष्ट्री प्राकृत (कभी शौरसेनी) को स्वीकार कर लेनेपर फिर डॉ० कीथको यह माननेमें आपत्ति नही कि एक बार जब आभीर और गुर्जर राजाओके प्रयत्नके द्वारा अपभ्रंश लोकप्रिय हो गया तो इसका विस्तार पश्चिमके भी बाहर होने लगा और जैसा कि रुद्रटने कहा है कि विभिन्न स्थानीय अपभ्रंश हो गये। डॉ० कीथकी उक्त मान्यताओ और अमान्यताओंका एक मात्र सार यही है कि वे अपभ्रंशको बोल-चालकी भाषा स्वीकार करनेके पक्षमे नही। यही बात कुछ आलोचकोने सस्कृतके बारेमें कही थी, इसपर डॉ० कीथने कई तर्क देकर सिद्ध किया है कि सस्कृत बोल-चालकी भाषा ही नही थी, स्वय पाणिनि उसके बोल-चालके रूपको ध्यानमें रखकर अपने व्याकरणके बहुत-से नियम बनाये हैं। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओकी भूमिका ग्रहण करनेके लिए प्राकृतकी अन्तिम अवस्था अपभ्रंश भूमिकाको भी पार करना पडा है। उसका आधार, सस्कृत प्राकृतोकी तरह पश्चिमी था। व्याकरणके सन्दर्भमें यह भी हम देख चुके हैं कि अपभ्रंशमें प्राय सभी प्राकृतोकी विशेषताएँ मिलती हैं। फिर एक-दो विशेषताओके मिलने या न मिलनेसे भाषाके समूचे स्वरूपको सन्दिग्ध नही ठहराया जा सकता। आखिर भाषा एक सचेतन ऐतिहासिक प्रक्रिया है। अपभ्रंशकी एक विशेषता यह है कि उसके साहित्यका स्वभाव और स्वरूप बहुत-कुछ सीमित और भिन्न हैं। अपनी इन दोनो बातोंमे उसने परवर्ती साहित्यको काफी हद तक प्रभावित किया। प्रश्न है कि क्या ऐसा भी साहित्य परम्पराको प्रभावित कर सकता है कि जिसको

[1] देखिए, सस्कृत साहित्यका इतिहास, अपभ्रंश शीर्षक पृ०३३ से ८१ अनुवाद, द्वारा डॉ० मगलदेव शास्त्री।

जड़ें धरतीमें न होकर आसमानमें हो। जिन लोगोका ध्यान अपभ्रंशमे साहित्य निर्माणके लिए आकृष्ट हुआ वह इसलिए नही कि उन्हें जनताके सम्मुख प्राकृतको सरल रूपमें रखना था, प्रत्युत इसलिए कि अपभ्रंश उनके समय उठती हुई लोकप्रिय जीवित भाषा थी। महाराष्ट्री प्राकृत वस्तुत किसी क्षेत्रीयताका प्रतिनिधित्व नही करती। उसमे जो व्यजनोके लोपकी प्रवृत्तिको बहुलता है वह शौरसेनी और उसकी समकक्ष प्राकृतोका परवर्ती विकास है। इस विकासका अपभ्रंशपर प्रभाव पडना स्वाभाविक था। जिस प्रकार प्रादेशिक प्राकृतोको स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार प्रादेशिक अपभ्रंशोको भी स्वीकार करना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो केन्द्रित भाषाकी उपयोगिता व्यर्थ प्रमाणित हो जाये। नयी बोलियाँ आकाशसे नही आती वे धरतीकी परिस्थितियो और मनुष्यके मुखकी उच्चारण स्थितियों और मानसिक चिन्ताओसे स्वरूप ग्रहण करती है। सारे उपादान पुराने होते हैं, उनका सयोजन नया होता है।

१० अपभ्रंश और अवहट्ठ

अपभ्रंश और अवहट्ठको लेकर पण्डितोमें बहुत मतभेद है। जहाँतक 'अवहट्ठ' शब्दकी प्राचीनताका सम्बन्ध है, सबसे पहले ज्योतिरीश्वर ठाकुरने १३२५ ईसवीमें इस शब्दका प्रयोग किया है। उन्होंने लिखा है—

"पुणु कइसन भाट, सस्कृत, प्राकृत, अवहट्ठ, पैशाची, शौरसेनी, मागधी छहु भाषक-तत्त्वज्ञ, सकारी, आभीरी, चाण्डाली, सावली, द्रावली, औतकली, विजातिया सातु उपभाषाक कुशलह[१]।" इसके बाद महाकवि विद्यापतिका यह उल्लेख मिलता है।[२]

"देसिल बअणा सब जन मिट्ठा।
ते तैसन जम्पओ अवहट्ठा।"

तदनन्तर, प्राकृत पैंगलके टीकाकार श्री वंशीधरका यह उल्लेख है—

"पढम भास तरंगे णाओ सो पिंगलो जअइ।

प्रथमो भाषान्तरम्। प्रथमम् आद्या भाषा अवहट्ठ भाषा। यया भाषया अय ग्रन्थो रचित, सा अवहट्ठ भाषा, तस्या इत्यर्थ, तत्पार प्राप्नोति

---

१ वर्णरत्नाकर ५१। ख।
२ कीर्तिलताकी प्रस्तावना।

तथा पिंगलप्रणीत-छन्दशास्त्रं प्राययावहट्टभापारचितैः तद्ग्रन्थपारं प्राप्नोति इति भावः ।"

इसके बाद आता है सन्देशरासककारका यह कथन—

"अवहट्टय सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि—
भासाए लक्खण छन्दाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहिं ॥"

इन अवतरणोके आधारपर डॉ० शिवप्रसाद सिंहने अपभ्रंश और अवहट्ठकी एकता सिद्ध की है।[1] वह लिखते हैं—"विद्यापतिकी चौपाई और अद्दहमाणकी गाथामें प्रयुक्त 'अवहट्ठ' शब्द भी इसी भाषात्रयीके क्रमको देखते हुए अपभ्रंशके लिए प्रयुक्त मालूम पड़ता है। इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि अवहट्ठ शब्दका प्रयोग अपभ्रंशके अर्थमें ही हुआ है। अवहट्ठ शब्दकी तरह अपभ्रंशके लिए कुछ और शब्दोका भी अनुसन्धान मिलता है, जैसे अवअंस, अवहंस, अवहत्थ आदि शब्दोके प्रयोग प्राचीन लेखकोकी रचनाओमे मिलते है।" डॉ० शिवप्रसाद सिंहका कथन सचमुच भ्रान्तियोसे परिपूर्ण है। एक शब्दका तो सही अर्थ भी वे नही समझ सके। अन्यत्र विस्तार और तर्कके साथ यह बताया जा चुका है कि 'अपभ्रंश और अवहट्ठ' मध्य भारतीय आर्य भाषाके विकासकी दो भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं। अवहट्ठ वास्तवमे अपभ्रंशका परवर्ती विकास है। उसके सामान्य आधारको लेकर देशभाषाओके मेलसे भाषाका जो साहित्यिक रूप विकसित हुआ वह अवहट्ठ है। अवहट्ठ अपभ्रष्टका तद्भव शब्द है। अपभ्रष्टका यहाँ अर्थ है 'बिगडी हुई भाषा।' प्राचीन समयमें जिसे 'बिगडी हुई भाषा' कहा जाता था, आधुनिक भाषा वैज्ञानिक शब्दावलीमें उसे 'विकसित भाषा' कहते है। 'बिगाड' विकार नही, विकास है। जिस तरह सस्कृत और प्राकृतकी तुलनामें अपभ्रंश शब्दका प्रयोग हुआ, उसी तरह अपभ्रंशकी तुलनामें अवहट्ठ शब्दकी परिकल्पना की गयी। अपभ्रंशका तद्भव शब्द होता है 'अवहंस'। स्वयभू, पुष्पदन्त आदि अपभ्रंश कवियोने इसी शब्दका व्यवहार किया है। किसी भी अपभ्रंश कविने अपनी भाषाको 'अवहट्ठ' नाम नही दिया। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें भी 'अवहट्ठ' शब्द बारहवी सदीके बाद ही प्रयुक्त हुआ है। निश्चय ही यह अवहट्ठका समय था, न कि अपभ्रंशका। अवहंसमे अव्वहंस हो सकता है, अवहट्ठ कदापि नही। परन्तु अव्वहंसका प्रयोग भी प्रमादजन्य माना जाना

१ देखिए कीर्तिलता और अवहट्ठ भाषा, पृ० ५, प्र० स० १९५५ ई०।

चाहिए। इसीलिए इसका प्रयोग भी विरल है। अब रह जाता है, 'अवहत्य' शब्द। स्वयभू कविने अपने 'पउम चरिउ' में सज्जन दुर्जन वर्णनके प्रसगपर कहा है—

> "अवहत्थेवि खलयणु णिरवसेसु
> पहलिउ णिरु वण्णमि मगहदेसु।"

इसका अर्थ है, (अब) मैं समस्त खलजनोको दूर कर (नमस्कार कर) सबसे पहले मगध देशका वर्णन करता हूँ। डॉ० शिवप्रसादने यह मूल अवतरण स्व० महापण्डित राहुल साकृत्यायनकी पुस्तक 'हिन्दी काव्य-धारा' से अपने उक्त ग्रन्थमें उद्धृत किया है। लगता है राहुलजीने 'अवहत्थे वि' का अर्थ भूलसे 'अपभ्रशमें' कर दिया होगा। इसी भूलके आधारपर डॉ० सिंहने भी अवहत्यको अपभ्रश मान लिया। वस्तुत स्वयभूके उक्त अवतरणमें 'अवहत्थेवि' पूर्वकालिक क्रिया है। 'अवहत्य' का तत्सम शब्द है 'अपहस्त' जिसका अर्थ होता है किसीको हाथसे धक्का देकर हटा देना। यहाँ स्वयभू भी दुर्जनोको दूर कर अपना काव्य प्रारम्भ कर रहे हैं। प्राकृत शब्दकोशमे[1] भी इस शब्दका अर्थ दिया है—"हाथको ऊँचा करना, त्यागना, छोड देना आदि। इस प्रकार 'अवहत्य' यहाँ सज्ञा रूपमें प्रयुक्त ही नही हुआ। स्वयभू या दूसरे किसी भी अपभ्रश कविने 'अवहत्य' को 'अपभ्रश' नही कहा। शब्दरचनाकी दृष्टिसे भी अपभ्रशसे अवहत्य सिद्ध नही होता। जिन कवियो या आलोचकोने 'अवहट्ट' शब्दका जो प्रयोग किया है वह अपभ्रशसे भिन्नता बतानेके लिए ही। वर्णरत्नाकरकारने दो प्रकारकी भाषाओका उल्लेख किया है। पहले वह साहित्यिक भाषाओको गिनाता है और तब बोलियोको। परन्तु उसका यह विभाजन वैज्ञानिक नही माना जा सकता। उदाहरणके लिए पहले वह सस्कृत, प्राकृत और अवहट्ठके नाम गिनाता है। उसके बाद पैशाची, शौरसेनी और मागधीका उल्लेख करता है, जब कि ये प्राकृत भाषाएँ ही है। अथवा हो सकता है कि वर्णरत्नाकरकारका प्राकृतसे अभिप्राय यहाँ अपभ्रंश ही हो। इसी प्रकार प्राकृत पैंगलका उल्लेख भी अधिक विश्वसनीय नही माना जा सकता। क्योंकि वह अवहट्ठको आर्यभाषा मानता है। डॉ० सिंहके कथनमें विरोधाभास है। वह लिखते है—"इसकी (अवहट्ठको) शब्दगत शक्ति, इसे अपभ्रशसे भिन्न बनानेमें असमर्थ है। यह

---

[1] देखो, पाइअसद्द महण्णव पृ० १०८०।

वस्तुत परिनिष्ठित अपभ्रंशकी ही थोडी बढी हुई भाषाका रूप था और इसके मूलमे पश्चिमी अपभ्रंशकी अधिकाश प्रवृत्तियाँ काम करती है (पृ० ६)।' इस प्रकार डॉ० सिंह एक ओर अवहट्ठ और अपभ्रंशको अभिन्न मानते है और दूसरी ओर यह भी कहते है कि वह 'परिनिष्ठित अपभ्रंश' की बढी हुई भाषाका रूप है। 'इस बढी हुई भाषा' को ही अवहट्ठ कहा गया है। 'उसका' बढना यही बताता है कि अपभ्रंशमें प्रादेशिक बोलियोका प्रवेश धडल्लेसे होने लगा है। डॉ० सिंहके इस मतसे मै भी सहमत हूँ कि "अवहट्ठ न तो पिंगलका नाम है और न मैथिल-अपभ्रंशका।" पर इसमें यह और जोडना चाहूँगा कि 'अवहट्ठ' अपभ्रंश भी नही। वह मध्ययुगीन भाषाकी एक भिन्न स्थिति है, यह स्थिति अपभ्रंशके प्रादेशीकरणसे उत्पन्न हुई। यह अवहट्ठ उस भाषासे भी सर्वथा भिन्न है, जिसे विद्यापतिने अपने समयमें 'देशी-वचन' कहा है।

११. स्वयंभूकी पूर्व और समकालीन अपभ्रंश कविता

इतिहासके अनुक्रममें, उपलब्ध अपभ्रंश कवियोमे, महाकवि स्वयभू सबसे पुराने है। उनकी रचनाएँ अपभ्रंश कविताके पूर्ण विकासको बताती हैं, उसके प्रारम्भिक विकासको नही। स्वयभू अपभ्रंशकी उस कविताके पूर्ण विकास थे जो उनसे पूर्वसे विकसित हो रही थी। स्वयभू और उनकी कृतियोको ही केन्द्रमें रखकर, हम इस युगका आभास पा सकते है। एक स्वयभू इस युगके, स्वय स्वयभू कवि हैं, दूसरे उन्होने अपने 'पउम चरिउ' में, पूर्ववर्ती अपभ्रंश-काव्य रचना शैलियोका उल्लेख किया है। तीसरे उन्होने स्वयभूच्छदमें लगभग एक दर्जन कवियोकी रचनाओके अवतरण, उदाहरण रूपमें दिये हैं। ये अवतरण स्वयभू युगकी प्रवृत्तियोको समझनेके लिए ही महत्त्वपूर्ण नही है, अपितु उनके युगकी अनुपलब्ध रचनाओके अवशिष्ट चिह्न भी हैं। इन अवतरणोके साथ स्वयभूने इनके रचयिताओके नामोका भी उल्लेख किया है, इससे उनका महत्त्व और बढ जाता है। इससे सहज ही जाना जा सकता है कि, इस युगके निर्माणमें एक-दो अपभ्रंश कवियोका ही हाथ नही, अपितु कई कवियोका योगदान है। स्वयभूने उन्हें सुरक्षित रखकर, भारतीय साहित्यके इतिहासमें बहुत बडा काम किया है। इसलिए भी उस युगको स्वयभू युग कहना ठीक है। स्वयभू ईसवी ८ और ९वी सदियोके मध्यबिन्दुमें हुए, अत इन सदियोकी अपभ्रंश कविताको 'स्वयभू-युग' कहा जा सकता है। स्वयंभूके मित्रा

जिन कवियोने इस युगका निर्माण किया वे है चर्तुमुख, माउरदेव, शुद्ध-शील, जिनदास, अज्जदेव, घुत्त, छइल्ल, विअड्ढ और गोइन्द। चतुर्मुखके नामका उल्लेख सस्कृतके प्रसिद्ध कवि बाणभट्टने अपनी कादम्बरोमें किया है और स्वयभूने अपने पउम चरिउमें। लगता है, वह स्वयभूके पूर्ववर्ती अपभ्रशके महाकवि थे और भारतीय साहित्यकारोमें उनका नाम आदरसे लिया जाता था।

स्वयभू युगकी अपभ्रश कविताके विवेचनकी दृष्टिसे 'स्वयभूच्छद' का बहुत महत्त्व है। वह इस युगकी कविताका अलबम है। कवियो ही नहीं काव्य-विधाओ और विषय-वस्तु और रसकी दृष्टिसे भी उसमें विविधता है। प्रबन्ध और गीत कविता, पाण्डित्य और लोक जीवन, दोनोसे सम्बन्ध रखनेवाली रचनाएँ, उसमें सग्रहीत है। जिन प्रबन्ध-काव्योंके अवतरण इसमें उद्धृत हैं वे महाभारत और रामकथासे सम्बन्वित है। अपभ्रश ही नही अन्य भारतीय भाषा प्रबन्ध-काव्योकी कथावस्तु इन्ही ग्रन्थोसे ली गयी है। अत अपभ्रश कवियोके लिए भी यह स्वाभाविक था। दूसरे अवतरण मुक्तक कवितासे सम्बन्ध रखते हैं। अवतरणोके चयनमें छन्दकार स्वयभूने इस बातपर विशेष ध्यान दिया है कि वे अपनी मूलकृतिकी प्रतिनिधि, और सहृदयकी दृष्टिसे रमणीय रचना हो। मुक्तक कविताके अधिकाश अवतरण, प्रकृति चित्रण, रोमास, सौन्दर्य चित्रण आदिसे सम्बन्वित है।

रामकथासे सम्बन्वित प्रस्तुत अवतरणमें कवि छइल्लकी, रामके जीवनपर निम्न प्रतिक्रिया है, देखिए—

मित्तु मक्कडु सत्तु दहवअणु।
रअ (सायरु) दुप्पगमु॥
सो वि बधु पाहाण खंडहिं।
जह राम होतह (नर हो) लच्छि ववसायवन्तहो॥

रामके मित्र थे बन्दर और शत्रु था रावण। तो भी उन्होने पत्थरोसे समुद्रको बांध लिया। जो उद्यम करते है, उन्हें अवश्य रामकी भांति सफलता मिलती है। इस प्रकार रामकी उद्योगशोलताको जितना प्रभावित करती है उतनी सीताके प्रति उनकी विरह-वेदना नहीं। एक और दूसरे उद्धरणमें, अपने भाई रावणके वधपर विभीषणके शोकके वर्णनमें छइल्ल कहते हैं—

भाई-वियोए जिह जिह करइ विहीसणु सोओ ।
तिह तिह दुखेण रूअइ वाणरलोओ ॥

अपने भाईके वियोगमें विभीषण ज्यो-ज्यो शोक प्रकट करता, वानर-समूह भी उसके दुखमें आंसू बहाने लगता ।

विष्णुके वामनावतारकी भी घटनाका उल्लेख एक छन्दमें है ।

वामणरूव करेप्पिणु माहवु ।
वेउ पढन्त पराइउ साहउ ॥
तिण्ण पअइं करेप्पिणु सामउ ।
दानउ बंधउ सो बलिनामउ ॥

भगवान् माधव, बौना रूप धारण कर वेद पढते हुए पहुँचे, तीन पगमें समूची धरतीको नापकर, उन्होने बलि दानवको बन्दी बना लिया ।

महाभारतके बहुत कम अश उसमे उद्धृत हैं, यद्यपि कृष्ण-जीवनसे सम्बन्धित कई अवतरण है । इसमें कृष्णकी चर्चा कम और गोपालकी अधिक है । यह कृष्णके व्यक्तित्वका परवर्ती विकास है । इनमें कुछ अवतरण, राधा-कृष्णकी प्रणयलीलासे सम्बन्धित हैं, जो इस बातका पहला साहित्यिक सबूत है कि महाकवि स्वयभूके समय तक, राधा और कृष्णको 'प्रणय भावना' का लोकमें प्रचार ही नही हुआ था अपितु वह साहित्यमें अभिव्यक्तिका विषय बन चुकी थी । कवि गोइन्दके अधिकाश अवतरण कृष्णके गोपाल रूपसे सम्बन्ध रखते हैं । हो सकता है स्वयभूने किसी खास प्रयोजनसे इन्ही अवतरणोको चुना हो, अथवा यह भी सम्भव है कि इस प्रकारकी रचनाएँ, जो तत्कालीन अपभ्रश काव्यधाराकी प्रमुख प्रवृत्ति समझी जाती रही हो, और जिसका पूर्वविकास हमें हिन्दीके महाकवि सूरमें दिखाई देता है । इससे यह न माननेका कोई कारण नही कि गोइन्दने कृष्ण गोपालपर अपभ्रशमें कोई काव्य लिखा होगा । राधाके सौन्दर्यपर गोइन्दका निम्न छन्द स्वयभूने उद्धृत किया है—

सव्व गोविउ जइवि जोएइ, हरि सुट्ठवि आयरेण,
देइ दिट्ठी जहिं कहिं वि राही ॥
को सक्किवि संवरेवि दड्ढनयण णेहें पलोट्टउ ॥

कृष्ण सभी गोपियोको समान आदरसे देख रहे थे, पर नज़र उनकी वही टिकती थी, जहां राधा थी । नेहसे छकी हुई आंखोंको, भला कौन रोक सकता है ।

प्रस्तुत अवतरण हेमचन्द्रके शब्दानुशासनमें भी अवतरित है, राधा-कृष्णके वैयक्तिक प्रेमका सूचक सम्भवत यह सबसे पहला साहित्यिक अवतरण है। कवि गोइन्दने गोवनका भी सुन्दर शब्दचित्र दिया है—

ठाम ठामहिं घास सतट्ठ रत्तिहि परिसठिआ
रोमंथता वस चलिअ गंडिआ
दीसन्ति धवलुज्जला
जोन्हा णिहाण गोहना

ठाम-ठाम घास रखा है। रातमे बैठी हुई गायें जुगाली कर रही है। जुगालीमें मस्त उनके गण्डस्थल हिल डुल रहे है। एक दम धौरी और उजली वे ऐसी जान पडती हैं मानो चांदनी ही छिटकी हो।

इन इतिवृत्तात्मक अवतरणोके अतिरिक्त बहुत-से मुक्तक अवतरण भी हैं, जिनमें प्रेम-सौन्दर्य, वीरत्व और सामन्त युगोचित ओज व्यजित है। विषय और शिल्पकी दृष्टिसे इन अवतरणोंमें लोक और शास्त्रका मेल है। गांवकी गोरीका यह रूप चित्र, अपनी सहजतामें मोह लेता है—

गोरी अगणे सुप्पन्ति दिट्ठा।
चन्दहो उप्परि जोण्ह विउच्छट्टा॥

गोरी अपने आगनमें सो रही है मानो चांदने चांदनी बखेर दी हो।

एक और ग्रामीणा अपनी विवशता मांको कह रही है।

काइ करउ हउ माए पिउ ण गणइ लग्गी पाए।
मण्णु वरन्त हो जाइ कठिण अतरग मणाइ॥

मां मै करूं भी तो क्या? मै पैरो पडती हूं, पर वह (प्रिय) मानता ही नही। वह मनमें रूठकर चला जाता है। प्रेमकी वैयक्तिक निष्ठापर कवि गोइन्द कहते है—

कमलह कुमुदह एक्कहि उप्पत्ति।
ससि तो वि कुमु आयरइ॥
देइ सोक्खु कमलह दिवाअर।
पाविज्जइ अवस फलु॥
जेण जस्स पासे ठवेइउ॥

कमल और कुमुद एक जगह उत्पन्न होते है। पर चन्द्र कुमुदोंको सुख देता है और सूर्य कमलोंको। जो जिसका होकर रहता है, वह उसका फल अवश्य पाता है।

चन्द्रमाके उदयका भी एक दृश्य है—

> ससि उग्गमउ ताम जेण यह अंगला मढिअउ ।
> णं रइ' रहचक्क दीसइ अरुणें छड्डिअउ ।।

इतनेमें चन्द्रमा ऊग आया । आसमान सौन्दर्यसे खिल उठा । वह ऐसा लगता है मानो अरुणने रतिका चक्र चलाया हो ।

कवि शुद्धशीलने वर्षाका बहुत ही स्वाभाविक चित्राकन किया है ।

> पहु सकद्दमु णहु सकोअ, महि सरस, सलिल भरस
> सरव मेह, दिसि बहल विज्जुल
> पहिअ-जण-मण-मोह-अरु सवरि चारु पाउसु ।।

रास्ता कीचड-भरा है और आसमान गुस्सेसे भरपूर । धरती सरस है और सलिल भी । मेघ गरज रहे हैं, दिशाएँ बिजलियोंसे भरी है । पथिको के मन झूम उठे हैं । सुहावनी वर्षा ऋतु आ गयी है ।

वसन्तमें खिले हुए टेसूके फूलके माध्यमसे कामदेवकी यह गवेषणा भी द्रष्टव्य है ।

> णव फग्गुणे, गिरि सिहरोवरि फुल्लपलासु ।
> को डड्ढु मे को ण डड्ढु जोइवि हुआसु ।।

फागुनका नया-नया महीना । पहाडकी चोटीपर फूला हुआ टेसूका फूल । मानो उसके बहाने कामदेव देख रहा है कि उससे कौन जला है और कौन नही जला ।

जिस युगकी अपभ्रंश कविताकी झलक यहाँ दी जा रही है, भारतीय इतिहासका वह सिद्ध सामन्त युग था । यह युग राजपूतोके आपसी द्वन्द्व और अरबोंकी घुस-पैठका युग था । इस युगके प्रमुख आदर्श थे, शौर्य आतक और सौन्दर्य भोग । जो ऐसा करनेमें समर्थ नही था, उसका न होना ही अच्छा था ।

> ते जाए कवणु गुणु वद कुमारी बिम्ब फल वचिउ ।
> किं तणस्स जेण जाएण पअपूरणपुरुसेण ।।

जिसके होनेसे शत्रु कांपा नही, जो सुन्दरियोंके कटाक्षोंसे वचित रहा, उस बेटेके होनेसे क्या, और न होनेसे क्या ?

भक्तिपरक कविता भी इस युगकी अपनी विशेषता है । निम्नलिखित अवतरणमें भक्तिका लक्ष्य स्वयं भक्ति है—

जइ वि ण रूसइ जइ वि ण दूसइ जइ वि ण दय करइ ।
तो वि मराला जिणवर हिअए खव न वीसरइ ॥

वस्तुत भक्तिका मुख्य प्रयोजन चित्तकी शुद्धि है। अत भगवान्‌की याद रखना जरूरी है ? किसलिए ? इसका उत्तर है कि मनुष्य कभी यदि अपनी क्षुद्र सीमाओसे ऊपर उठेगा तो शायद प्रभुकी यादके द्वारा ही। इसी तरह नाम महत्त्व और अनन्य निष्ठाके भी अवतरण सग्रहीत है।

इस प्रकार, प्रस्तुत विवेचनके साक्ष्यपर यह सिद्ध है कि स्वयभू युग—अपभ्रशका एक फला-फूला युग था। उसमें सब रगके फूल थे। भारतीय काव्यकी सारी प्रवृत्तियाँ अपने युगकी छापके साथ उसमें विद्यमान है।

१२ सन्देशरासक और रासोकाव्य

'सन्देशरासक' शीर्षकसे स्पष्ट है कि यह विप्रलम्भकी रचना है। 'सन्देश' 'विरह' का सूचक है, और 'रासक' उसके शिल्पका। 'रासक' मध्ययुगके साहित्य-शिल्पका एक विवादग्रस्त शब्द है। हरिवशपुराण और श्रीमद्‌भागवतमे 'रास' गीत नृत्यके लिए प्रयुक्त हुआ है। धनजयने 'दश-रूपक' में रासकको रूपकका एक भेद माना है। सरस्वतीकण्ठाभरणमे भी इस शब्दकी चर्चा है वाग्भट्ट और हेमचन्द्र भी इसका उल्लेख करते है। स्वयभूने रासाबन्धका उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त रासा जातिके छन्द भी होते है। इन सब तथ्योके विश्लेषणसे यही लगता है कि प्रारम्भ-में 'रास' एक सामूहिक गीत-नृत्य रहा होगा। बादमें उसका गेय रूपकके रूपमें विकास हुआ। और तब प्रबन्ध शैलीके रूपमें। बारहवी सदीमें रासाकाव्यकी इस प्रकार, कई शैलियाँ निखार पा चुकी थी। डॉ० भायाणी रासकको एक काव्यात्मक रचना मानते है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने इसका एक अर्थ, मनोरजन या खेल किया है। दूसरी ओर वही, अपने हिन्दी साहित्यमे 'सन्देशरासक' को गेय मानते है। प्रस्तुत तथ्योंके साक्ष्यपर यही कहा जा सकता है कि 'रासा' दुहरी भूमिका अदा करता रहा। लोक-परम्परामें वह गेय और नाट्यका प्रतिनिधित्व करता था और साहित्यिक परम्परामें प्रबन्ध काव्यका। अत इन नामको लेकर, एक निश्चित साहित्यिक विधाकी कल्पना करना ठीक नही। यही कारण है कि डॉ० द्विवेदीने पहले इसे 'गेयकाव्य' माना था, पर अब वे इसे क्षीणप्रबन्धधर्मा (देखिए सन्देशरासकका अनुवाद) मानने लगे

है। 'रासक' प्रबन्ध काव्य भी हो सकता है और खण्ड-काव्य भी। उसकी एक गेय शैली भी थी, जो छोटी रचना होती थी। 'रासा' या रासकके सम्बन्धमें विषय और रसकी सीमा निश्चित नही की जा सकती। हमारा अनुमान है कि अपभ्रंश कालमें ऐहिक व्यक्तियोपर जो प्रबन्ध काव्य लिखे गये, उन्हे प्राय. 'रासोकाव्य' कहा गया, वस्तुशिल्प आदिमें ये अपभ्रंश चरित काव्योके काफी निकट हैं, अपभ्रंश चरित काव्य, आध्यात्मिक और पौराणिक पुरुषोके कथानकको लेकर चलते है, जब कि ये रासोकाव्य लौकिक समकालीन इतिवृत्तोको। अत सन्देशरासक खण्ड काव्य है न कि गेय काव्य।

१३ रामकथाकी दो धाराएँ

जैन साहित्यमें रामकथाकी दो धाराएँ हैं—एक विमल सूरिकी और दूसरी आचार्य गुणभद्रकी। पहली कथाका अनुकरण रविषेण और स्वयभूने किया है। यह आदिकविकी रामकथाके बहुत निकट है। दूसरी कथाका अनुसरण पुष्पदन्तमें है। इसके अनुसार, राजा दशरथ काशीके राजा थे। उनकी तीन रानियाँ थी। सुबालासे राम, कैकेयीसे लक्ष्मण, और साकेतपुरीकी रानीसे भरत एव शत्रुघ्न, ये चार पुत्र उन्हें हुए। सीता, मन्दोदरीकी लडकी थी। अनिष्टकी आशकासे, रावणने मजूषामे बन्द कर उसे मिथिलामें गडवा दिया। वह कन्या जनकके हाथमें पडी। यज्ञकी रक्षाके लिए जनकने राम-लक्ष्मणको बुलवाया। राम और सीताका विवाह हो गया। दशरथकी आज्ञासे दोनो भाई काशीका राज्य देखने लगे। यज्ञमें आमन्त्रित न होनेसे, रावण जनकसे नाराज था। इधर नारदने जाकर, रावणसे सीताके रूपकी प्रशसा कर दी। वह मारीचकी सहायतासे सीता देवीको छलकर ले गया। इस समय राम चित्रकूटमें वनविहार कर रहे थे। रामने हनुमानकी सहायतासे सीतादेवीका पता लगा लिया। लकापर चढाई करके लक्ष्मण रावणका वध कर देते है। अयोध्या वापस आकर वे ऐश्वर्यका उपभोग करते हैं। रामकी ८ हजार रानियाँ थीं और लक्ष्मणकी १६ हजार। भरत और सीता निर्वासनकी घटनाएँ इसमें नही हैं। किसी असाध्य रोगसे लक्ष्मणकी मृत्यु हो जाती है। रामने उसके पुत्र पृथ्वीसुन्दरको राजपाट दिया। और अपने पुत्र अजितजयको युवराज बनाया। सन्यास लेकर रामने मोक्ष प्राप्त किया। उनकी रानियोंने भी दीक्षा स्वीकार की।

■

सहायक ग्रन्थ सूची

मूल ग्रन्थ

१. पउम चरिउ (भाग १, २, ३) सम्पादक डॉ० हरिवल्लभ चूनीलाल भायाणी, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, प्रथम सस्करण १९५३ ई० ।

२ महापुराण (भाग १, २, ३) कवि पुष्पदन्त, सम्पादक डॉ० पी० एल० वैद्य, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, प्रथम सस्करण क्रमश १९३७, १९४०, १९४१ ।

३ जसहर चरिउ पुष्पदन्त, सम्पादक डॉ० पी० एल वैद्य, कारजा जैन सिरीज, प्रथम सस्करण १९३१ ।

४ णायकुमार चरिउ, पुष्पदन्त, सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, बलात्कारगण ग्रन्थ प्रकाशक मण्डल, कारजा, प्रथम सस्करण, १९३३ ।

५ भविसयत्त कहा कवि धनपाल, सम्पादक स्व० सी० डी० दलाल, स्व० पाडुरग दामोदर गुणे, सेण्ट्रल लाइब्रेरी बडौदा, प्रथम सस्करण १९२३ ई० ।

६ पउम सिरि चरिउ कवि धाहिल, सम्पादक श्री मधुसूदन चि० मोदी, श्री हरिवल्लभ चु० भायाणी, सिं० जै० शा० शि० पीठ, भा० वि० भ० बम्बई, प्रथम सस्करण १९४८ ।

७ करकण्ड चरिउ मुनि कनकामर, सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, कारजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी (बरार), प्रथम सस्करण १९३४ ।

८ सन्देश रासक अब्दुल रहमान, सम्पादक मुनि जिनविजय, डॉ० भायाणी, सि० जै० शा० शि० पीठ, भा० वि० भ०, बम्बई, १९४५ ई० ।

९ अपभ्रंश काव्यत्रयी जिनदत्त सूरी, सम्पादक लालचन्द भगवानदास गान्धी, जैन पण्डित ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट बडोदा, १९२७ ई० ।

१० बौद्ध गान औ दोहा विविध, सम्पादक म० म० हरप्रसाद शास्त्री, बगीय साहित्य परिषद् कलकत्ता, द्वितीय सस्करण ।

११. प्राकृत पैंगल : विविध, सम्पादक चन्द्रमोहन घोष एम० बी० बी० ए०, एशियाटिक सोसाइटी, ५७ पार्क स्ट्रीट, प्रथम संस्करण १९०१, १९०२।
१२. सावयधम्म दोहा : सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, का० जै० प० सी०, १९३२ ई०।
१३ पाहुड़ दोहा : मुनि रामसिंह, सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, का० जै० प० सी०, प्रथम संस्करण १९३३ ई०।
१४. परमात्म प्रकाश और योगसार : जोइन्दु, सम्पादक डॉ० ए० एन० उपाध्ये, परम श्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्रथम संस्करण १९३७ ई०।
१५. प्रबन्ध चिन्तामणि मेरुतुगाचार्य, सम्पादक मुनि जिनविजय, प्रथम संस्करण १९३३।
१६. कुमारपाल प्रतिबोध : सम्पादक मुनि जिनविजय, भा० वि० म०।
१७ पुरानी हिन्दी : सम्पादक चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, ना० प्र० सभा, काशी।

सहायक ग्रन्थ

१८. हिन्दी साहित्यका आदिकाल . डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, सन् १९५२।
१९. नाथ सम्प्रदाय डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग, सन् १९५०।
२० कबीर डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हि० ग्र० र० का० बम्बई, सन् १९५३।
२१. हिन्दी साहित्य डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, सन् १९५२।
२२. हिन्दी साहित्यका इतिहास रामचन्द्र शुक्ल, सन् १९९९।
२३. चिन्तामणि : रामचन्द्र शुक्ल।
२४ जायसी ग्रन्थावली।
२५ रामचरित मानस स० २२, गीताप्रेस गुटका।
२६ वीर काव्य डॉ० उदयनारायण तिवारी, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।
२७ भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर बनारस, सन् १९४८।

२८. मराठी सन्तोंका सामाजिक कार्य · डॉ० विष्णु, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई-४, सन् १९५४।

२९ विश्वधर्म दर्शन सांवलिया विहारीलाल वर्मा, विहार राष्ट्र-भाषा परिषद्, सन् १९५३।

३०. रीतिकालकी भूमिका . डॉ० नगेन्द्र, गौतम बुकडिपो, दिल्ली, सन् १९४९।

३१ परिमल सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, गगा ग्रन्थागार, लखनऊ, सं० २००७।

३२. रत्नाकर स० ४ सेनापति, हिन्दी परिषद्, प्रयाग वि० विद्यालय।

३३ आधुनिक कवि महादेवी वर्मा, साहित्य सम्मेलन प्रयाग।

३४ आधुनिक कवि सुमित्रानन्दन पन्त, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

३५ गीतकार विद्यापति राम वशिष्ठ, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, सन १९५४।

३६ चौलुक्य कुमारपाल लक्ष्मीशकर व्यास, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् १९५४।

३७ संस्कृत साहित्यका इतिहास बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, काशी, सन् १९४२।

३८. जैन साहित्य और इतिहास . नाथूराम प्रेमी, हि० ग्र० र० का० बम्बई, सन् १९४२।

३९ सिद्धान्त और अध्ययन गुलाबराय एम० ए०, आत्माराम एण्ड सन्स।

४०. बौद्धगान और दोहा श्री राहुल सांकृत्यायन।

४१ प्राकृत व्याकरण त्रिविक्रम, सम्पादक श्री पी० एल० वैद्य०।

४२ भारतीय संस्कृतिमें जैनधर्मका योगदान डॉ० हीरालाल जैन।

४३ भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, शतकमल प्रकाशन, दिल्ली।

४४ प्राकृत-भाषा डॉ० प्रबोध पण्डित, जैनाश्रम बनारस, सन् १९५५।

४५ प्राचीन भारत गोरखनाथ चौबे, सन १९५०।

४६ श्री जैनसिद्धान्त भास्कर जैन सिद्धान्त भवन, आरा।

४७ अनेकान्त वीर सेवा मन्दिर, सरसावा।

४८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका . ना० प्र० सभा काशी ।
४९ धर्म और दर्शन ' बलदेव उपाध्याय ।
५०. अर्थशास्त्र कौटिल्य, अनु० प० गंगाधर, गीताप्रेस शामली, (वि० २०१०)
५१ नाट्यशास्त्र ' भरत मुनि, विद्याविलास प्रेस, बनारस, सन् १९२९ ।
५२. कामसूत्र वात्स्यायन ' वि० वि० प्रे० बनारस, सन् १९२९ ।
५३ साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, अनु० शालिग्राम शास्त्री, द्वि० सं०, वि० स० १९९१ ।
५४ काव्यालंकारसारसंग्रह . उद्भट, नारायण दशरथ, वनहट्टी, सन् १९२५ ।
५५. काव्यालंकार सूत्राणि निर्णयसागर प्रेस, सं० ४, सन् १९५३ ।
५६ काव्यानुशासन हेमचन्द्राचार्य, निर्णयसागर, सन् १९३४ ।
५७ प्राकृत व्याकरण . ले० प्र० वही ।
५८. रघुवंशमहाकाव्यम् प० पुस्तकालय, काशी ।
५९. विश्वलोचन कोश श्रीधरसेनाचार्य, प्रकाशन सन् १९१२ ।
६०. हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन वासुदेवशरण अग्रवाल, सन् १९५३ ।
६१. काव्यमीमांसा : राजशेखर, अनु० प० केदारनाथ शर्मा सारस्वत, वि० रा० भा० प० पटना, सन् १९५४ ।
६२ अलंकार सर्वस्व शारदा ग्रन्थमाला, काशी ।
६३ काव्यादर्श दण्डी, अनु० व्रजरत्नदास, काशी ।
६४. काव्यालकार . भामह, वि० वि० प्रेस, काशी, सन् १९८५ ।
६५. यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर . कृष्णकान्त हान्दिकी, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, सोलापुर, सन् १९४९ ।
६६. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर . बेरिडेल कीथ, ऑक्सफोर्ड यू० प्रेस ।
६७ संस्कृत साहित्यका इतिहास डॉ० कीथ, अनुवादक डॉ० मगलदेव शास्त्री ।
६८ ए हिस्टोरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश . गजानन वासुदेव तगारे ।

६९ ऐंसिएण्ट इण्डिया आर० सी० मजूमदार, एच० सी० राय चौधरी, कालिका दत्त, सन् १९५१ ।

७० प्री हिस्टोरिक ऐंसिएण्ट एण्ड हिन्दू इण्डिया आर० डी० बनर्जी ।

७१ हिस्ट्री ऑफ इण्डिया के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री, डिपार्ट (१९५०) ।

७२ दी जैनस् इन दी हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर . डॉ० विटरनित्स, जिनविजय ।

७३ मिडिवल जैनिज्म सॉलेटोर ।

७४ रामकथा श्री बुल्के, हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय, नवम्बर १९५० ।

७५ मानसकी रामकथा परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, सन् १९५३ ।

७६ घनानन्द श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी वितान, ब्रह्मनाल, बनारस ।

■